समकालीन-आलोचना

सम्पादक
नलिनीउपाध्याय

मधुमाधवी प्रकाशन
जयपुर

समर्पण

ग्रालोचक ग्रौर लेखक
डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
को
उनकी षष्टिपूर्ति
के
ग्रवसर
पर

रचनाक्रम

हमारे लिए, हमारे प्रान्त और देश के लिए गौरव का विषय है कि डॉ. उपाध्याय साहित्य-मीमांसक, सर्जक और विचारक व्यक्तित्व हमारे मध्य विद्यमान है। उपाध्याय जी ने आलोचना को उच्चकोटि की वैचारिकता दी है और साहित्य को प्रगतीशील मोड़ देने मे, विशेषकर समकालीन सृजन और सोच को जनपक्षीय बनाने मे बुनियादी महत्त्व का कार्य किया है। अतएव, यह पुस्तक उन्हें सादर अर्पित की जा रही है।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे डॉ. रामविलास शर्मा का आत्मीय अनुग्रह प्राप्त हुआ। उन्होंने साक्षात्कार और प्रोत्साहक सुझाव दिये तथा मेरा मनोबल बनाये रखा। अतः उनके प्रति विशेष आभार प्रकट करती हूँ।

मैं उन रचनाकारों और आलोचक साथियों को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने आत्म-मूल्यांकन किया या दूसरों पर लिखा। इस सम्बन्ध में यह कसक भी रही कि कुछ लेखकों ने केवल प्रश्नोत्तर दिये, अपना मूल्यांकन नहीं किया, न आलोचनात्मक व्यवहार, ना ही उल्लेखों की राजनीति का अनावरण किया, तथापि उन्होंने जो भेजा वह भी रोचक और उपयोगी है।

मैं बार-बार निराश होने पर भी यह आशा रखूं कि साहित्य प्रेमी बन्धु पुस्तकों व साहित्यिक पत्रिकाओ को क्रय करके पढ़ने की संस्कृति का विकास करेंगे। अन्य संस्थाओं और प्रतिष्ठानों में भी इस पुस्तक का स्वागत होगा यह विश्वास है।

हिन्दी में साहित्यिक पुस्तक-सम्पादन एक प्रकार का आत्मपीड़न है, तो भी इतना बड़ा काम हो सका, यह संतोष आगे का पथ प्रशस्त करेगा और संकल्प दृढ़ रहेगा।

—नलिनी उपाध्याय

साक्षात्कार

डॉ. रामविलास शर्मा के साथ
नलिनी उपाध्याय की बातचीत

☐ डॉ. रामविलास शर्मा

मैंने हिन्दी साहित्य क्षेत्र में जिन प्रकाण्ड आलोचकों के नाम सुन रखे थे उनमें डॉ. राम विलास शर्मा का नाम सर्वोपरि था। उसका एक आतंककारी प्रभाव मुझ पर था। यद्यपि इन दिनों उनके नाम की चर्चा कभी-कभी होती है लेकिन जब भी होती है तो इस ढंग से होती है कि सुनने वाला अभिभूत-सा हो जाता है। ऐसे साहित्यकार से साक्षात्कार का साहस ही मुझे नहीं हो रहा था। पर सुना गया है कि सज्जन पुरुष बाहर से कठोर दीखने पर भी हृदय से कृपालु होते हैं, डॉ. राम विलास जी के सम्बन्ध में यह बात शत- प्रतिशत सही है।

उनसे साक्षात्कार की स्वीकृति पाकर मेरा विश्वास बढ़ गया और जब मैं उनके पास पहुंची तो उनकी शालीनता और शिष्टता ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। बड़ी आत्मीयता से उन्होंने मेरा स्वागत किया। उनका स्नेह पाकर मैं अपने को गौरवान्वित महसूस करने लगी, उन्होंने मेरे प्रश्नों का उत्तर देने के लिये पर्याप्त समय दिया और बड़ी सरल तथा स्पष्ट भाषा में उत्तर दिये उनके कथन में कहीं किसी तरह का सन्देह और शंका के लिये कोई स्थान नहीं था।

इस साक्षात्कार से केवल हिन्दी के लेखकों और साहित्यकारों को ही मार्ग-दर्शन मिलेगा अपितु क्रांतिकारियों और राजनीतिज्ञों को भी—खास तौर से उन लोगों को जो इस देश में वर्तमान समाज व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन चाहते हैं, सही मार्गदर्शन मिलेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। कुल मिलाकर मैं कह सकती हूं कि डॉ. राम विलास शर्मा का यह साक्षात्कार पुराने और नये लेखकों के लिये विशेष रूप से प्रगतिशील लेखकों के लिए बहुत उपयोगी होगा। इससे उनका दृष्टिकोण अनेक विषयों पर स्पष्ट होने में सहायता मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

अपने आलोचनात्मक लेखन की भूमिका और महत्व के विषय में आप स्वयं क्या सोचते हैं ?

अपने आलोचनात्मक लेखन की भूमिका व महत्व के बारे में सही बात यह है कि इस विषय मे सोचने का अवसर नहीं मिला और मैंने इसे आवश्यक भी नहीं समझा। 'निराला की साहित्य साधना' के बाद 11 साल तक मैं भाषा के क्षेत्र में काम करता रहा और उसके बाद 5 साल तक मार्क्सवाद के क्षेत्र में। ऐसा लगता है कि साहित्य व समालोचना पीछे छूट गयी। अपना लिखा याद नहीं, इसलिए इसके बारे में कहना समझदारी नहीं।

क्या आपका सही और संगत मूल्यांकन हुआ है ?

पिछले 15-20 सालों से मैंने समकालीन साहित्य नहीं पढ़ा। कभी थोड़ा इधर-उधर देखा और समकालीन आलोचना भी नहीं पढ़ी, इसलिए मुझे ठीक-ठीक नही मालूम कि लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं और क्या लिखते हैं ? किन्तु बहुत से पाठकों से भेंट हुई है बहुतों के पत्र आते हैं। लोग मेरी पुस्तकें पढ़ते हैं और समझने का प्रयत्न करते हैं, इससे मुझे संतोष है।

आप अपनी उत्कृष्ट पुस्तक का उल्लेख करें।

मेरी पुस्तकें कई प्रकार की हैं, जीवनी व आलोचना में "निराला की साहित्य साधना" भाषा विज्ञान में "भारत के प्राचीन भाषा परिवार" और हिन्दी राजनीति व इतिहास में—"भारत में ब्रिटिश राज और मार्क्सवाद"।

किन रचनाओं/प्रवृत्तियों/व्यक्तियों को आपने स्थापित किया है, किन्हें काटा और क्यों ?

प्रवृत्तियों की बात सही है रचना व व्यक्ति इन्हीं के अन्दर आ जाते हैं' मैंने किसी को भी स्थापित नहीं किया। साहित्य के समर्थन में बहुत कुछ लिखा और जो प्रवृत्तियां यथार्थ की विरोधी हैं, उनका खण्डन किया।

आलोचना आपके लिये रचना है या विश्लेषण: मूल्यांकन अथवा दोनों ?

विश्लेषण या मूल्यांकन किस स्तर का है ? इस पर निर्भर करता है कि आलोचक किन सूत्रों के अनुसार अपनी व्याख्या पेश कर रहा है। आदर्शरूप में मेरे लेख आलोचना के हैं, रचना के नहीं, भले ही यह आदर्श मेरी पहुंच से दूर रहा हो।

रचनाकारों व लेखकों मे आलोचकों का होना अत्यावश्यक है। अगर इनमें

आलोचक न हों, वे तो अपने कोस मभन हीं पाते, आलोचक को विवेचक भी कह सकते हैं, विवेक बिना कला नहीं, साहित्य नहीं। कलाकार के लिये रचना करना उतना ही कठिन है जितना उसके अनुभव व उसका प्रभाव बताना। साहित्य में रूप का विश्लेषण सबसे कठिन नहीं है। रचना का रचना के रूप में विश्लेषण करना बहुत कठिन है।

साहित्य में विधाएँ तो कई हैं, फिर क्या कारण है कि आपने केवल अपने को आलोचना तक ही सीमित रखा ?

आलोचना के अलावा पहले मैं कविताएँ भी लिखता था, और एक उपन्यास भी मेरा प्रकाशित हुआ है, लेकिन आगे चल कर मुझे लगा कि जो काम मैं आलोचना में कर सकता हूँ, वह दूसरी विधाओं में नहीं कर सकता। गद्य लिखने के बारे में अक्सर ऐसा होता है कि आदमी अपने को देर से पहचानता है, कि उसे गद्य ही लिखना चाहिये। अंग्रेजी मे ऐसे बहुत से लेखक है जिन्होंने तीस चालीस साल के बाद गद्य की विधा पहचानी। बर्नाडशा बहुत अच्छे नाटककार माने जाते हैं, चालीस साल की उम्र तक उन्होंने और सब लिखा, केवल नाटक नहीं लिखे थे। जब नाटक लिखने लगे तो नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हुए। अब यह सुनकर आश्चर्य होता है कि ऐसा अच्छा नाटककार नहीं समझ पाया कि उसे क्या लिखना चाहिये। मैं समझता हूं मैंने काफी जल्दी पहचान लिया कि मुझे आलोचना लिखनी चाहिये।

ऐसा कहने वाले भी बहुत लोग हैं जो विश्वासपूर्वक दावा करें कि मुझे लिखनी चाहिये थी कविता या उपन्यास ही लिखना चाहिये था। इसके अलावा दूसरा कारण यह है कि स्वाधीनता–आन्दोलन के काल में जनता के जागरण में जो साहित्य की भूमिका है, उसके प्रति हिन्दी प्रदेश में बहुत कुछ उपेक्षा का भाव रहा है। यदि महाराष्ट्र या बंगाल या गुजरात या तमिलनाडू से अपने प्रदेश की तुलना करें तो देखेंगे कि हमारे यहां के राजनीतिज्ञ व और बहुत से लोग इस संबंध में तटस्थ और उदासीन रहे हैं तथा उसकी उपेक्षा करते रहे हैं। एक बात तो देखी जा सकती है कि महाराष्ट्र में तिलक ने मराठी में लिखा, तमिलनाडू में राजगोपालाचार्य ने तमिल में लिखा, गुजरात में जैसे महात्मागांधी ने गुजराती में रचना की, वैसे हमारे यहां के जो बड़े-बड़े नेता थे उनमें कोई ऐसा नहीं जिसके लिए हम गर्व से कह सकें कि उसने हिन्दी में लिखा अथवा उर्दू में लिखा। हमारे यहाँ हिन्दी : उर्दू की भी विशेष समस्या थी। कुछ लोग थे जो उर्दू में लिखते थे, राजनीति में हिस्सा लेते थे और वे बड़े नेता भी थे लेकिन हिन्दी में लिखने वाले राजनीति में आते थे

कि विभिन्न प्रदेशों के प्रमुख पार्टी लेखकों का आयोग गठित किया जाये। वह भाषा समस्या, साहित्य व समाज की समस्या ऐसे अनेक विषयों पर दस्तावेज तैयार करेगा उनको पार्टी के अन्दर बहस के लिये रखेगा। ऐसा आयोग गठित हुआ था उसका सदस्य मैं भी था। मार्च 43 के बाद उस आयोग की एक भी और बैठक नहीं हुई। मेरा कहना यह है कि कम्यूनिस्ट लेखकों के सम्मेलनों में जो सुझाव रखे गये पार्टी-आयोग के गठित करने के बारे में विभिन्न प्रान्तों के स्तर पर और जिन प्रस्तावों को उस समय तक अमल में लाया गया, बाद में वे प्रस्ताव कुछ समय तक अमल में लाये गये। मार्च 1953 के बाद वे प्रस्ताव अमल में क्यों नहीं लाये गये, मार्च 1953 के बाद से कम्यूनिस्ट लेखक प्र. ले. सं. में निष्क्रिय हो गये। कम्यूनिस्ट पार्टी के लेखक जो भूमिका मार्च 1950 तक निभा रहे थे, बाद में उसे निभाना बन्द कर दिया। कोई एक बड़ा संगठन हो, उसे कोई एक आदमी न तो बना सकता है और न ही बिगाड़ सकता है। प्र. ले. स.मार्च 1953 तक बहुत सक्रिय था। उसके केन्द्रीय आयोग ने 'इण्डियन लिटरेचर' नामक पत्रिका निकाली थी, उसके पहले अंक में आशाराम का एक लेख छपा था। आशाराम पार्टी के सदस्य थे और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में राजनीति के प्राध्यापक थे। 1952 की गर्मियों में इलाहाबाद में जो प्र. ले. सं. का सम्मेलन हुआ था, उसका विवरण उनका लिखा हुआ है, और वह 'इण्डियन लिटरेचर' में छपा है। जो लोग यह समझते हैं कि 1952 तक प्र. ले. सं. टूट गया था, बिखर गया था, उन्हें यह विवरण पढ़ना चाहिये। उस सम्मेलन में बहुत से लेखक थे जिनकी मैंने आलोचना की थी। उस सम्मेलन के अन्दर व उसके बाद उन लेखकों ने भी मेरी आलोचना की थी। आलोचना, प्रत्यालोचना से कोई संगठन टूटता नहीं, बहरहाल उस सम्मेलन में रघुपत सहाय फिर आगये। सरदार जाफरी, सुमित्रा नन्दन पंत आदि बहुत से लोग शामिल हुए व साहित्य सम्मेलन के लोग भी शामिल हुये। उदय नारायण तिवाड़ी ने उस सम्मेलन के बारे में कहा था कि यहां पर जो विचार-विमर्श का स्तर है, वैसा उन्होंने अन्यत्र नहीं देखा। भगवतशरण उपाध्याय व उपेन्द्र नाथ 'अश्क' ये लोग भी उस सम्मेलन में मौजूद थे। उस सम्मेलन की बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि उसमें हिन्दी व उर्दू लेखकों के संगठन अलग हो गये थे। प्र. ले. सं. में मेरे सक्रिय होने के बाद हिन्दी-उर्दू के लेखक एक मंच से बोलने लगे और मैं इस बात का बराबर प्रचार करता रहा कि हिन्दी-उर्दू मूलतः एक ही भाषा है, एक ही जाति की भाषायें हैं, इसलिये इसके लेखकों को एक ही मंच से बोलना चाहिये। ऐसा हिन्दी-उर्दू लेखकों का सम्मेलन 1952 की गर्मियों से लेकर आज तक नहीं हुआ। देश में

जैसी स्थिति हैं यदि इसमें विभिन्न प्रदेशों के लेखक हिन्दी-उर्दू के लेखक मिल कर एक मंच से बोलते हैं तो वे देश की प्रगति व राष्ट्रीय एकता में बहुत बड़ी भूमिका निभा सकते थे।
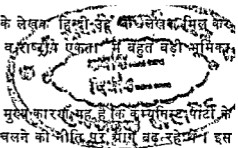
दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि कम्यूनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में ऐसे लोग थे जो कांग्रेस के पीछे चलने की नीति पर आगे बढ़ रहे थे। इस तरह का रुझान कम्यूनिस्ट पार्टी में पहले भी था और 1953 व उसके बाद में रुझान और भी ज्यादा बढ़ा। इस राजनीतिक स्वरूप का विवेचन विस्तार से 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' पुस्तक में कर चुका हूँ और संक्षेप में प्र. ले. सं. के सिलसिले में मैंने इनका विवेचन 'कम्यूनिस्ट पार्टी व प्र. ले. सं.' में किया है। कम्यूनिस्ट पार्टी की भूमिका प्र. ले. सं. में कैसी रही है यह कोई नहीं जानता हो लेकिन आज तो लोग अच्छी तरह समझते है। यदि कम्यूनिस्ट पार्टी दो हैं तो प्र. ले. सं. के संगठन भी दो है। उनका नाम कुछ भी रख दीजिये प्रगतिवादी अथवा जनवादी। मुख्य बात यह है कि सी. पी. आई. के समर्थक, उससे सहानुभूति रखने वाले, उससे प्रभावित लेखक एक संगठन में हैं। सी. पी. एम. के लेखक, उसके समर्थक दूसरे संगठन में हैं। कम्यूनिस्ट आन्दोलन जब तक सही रास्ते पर एकजुट नही होता है, यहां का मजदूरवर्ग क्रांतिकारी ढंग से संगठित नहीं हो सकता। तब तक यह आशा करना कि लेखक अखिल भारतीय स्तर पर विशाल हिन्दी भाषी प्रदेश के स्तर पर अपनी राजनीतिक समस्यायें हल कर एकजुट हो सकेंगे, बहुत कठिन काम है। इसके लिए लेखक प्रयत्न कर सकते हैं। राजनीतिक नेता प्रयत्न कर सकते हैं लेकिन सबसे पहले इस समस्या को समझने की जरूरत है कि यह मतभेद क्यूं पैदा होते है। देश की राजनीतिक स्थिति क्या है? जनमत से हमारे यहां सत्ता का जो हस्तान्तरण हुआ, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, इन बातों पर विस्तार से लिखने की जरूरत थी। उसके लिए समय निकालना जरूरी था और जिस समय मैं यह काम कर रहा था, मेरे तमाम दोस्त, तमाम नहीं अधिकांश दोस्तों ने कहा तुमने समकालीन कहानी पर क्यूं नहीं लिखा, तुमने उपन्यासों पर क्यूं नहीं लिखा, तुमने समकालीन कविता पर क्यूं नहीं लिखा, हम पढ़ें या न पढ़ें लेकिन मेरी राय जानने के लिए वे मेरी नाक में दम किये हुए थे। मेरा कहना यह है कि जिन कारणों से यहां के कम्यूनिस्ट आन्दोलन में विघटन हुआ है, उसको जानना बहुत जरूरी है। यह बहुत बड़ी सामाजिक आवश्यकता है, इसके लिए मार्क्सवाद का ज्ञान, भारतीय इतिहास का ज्ञान, पुराना इतिहास, उससे अधिक नया इतिहास, इन का ज्ञान बहुत जरूरी है' इसके बिना जो तुम समझोगे, करोगे या एकता

कायम करने की कोशिश करोगे वह स्थायी नहीं होगी और बुनियादी समस्याओं को टालने की प्रवृत्तियां हमारे यहां बड़े लोगों में रहीं, उसका परिणाम कम्यूनिष्ट पार्टी के जन्म को 50 साल से ऊपर होने पर भी, इसकी उपलब्धियां दूसरे देशों की तुलना में खास तौर से रूस से, बहुत कम हैं रूस आज के भारत से बहुत पिछड़ा हुआ देश था चीन भारत से पिछड़ा हुआ था। लेनिन ने 1903 में बोल्शेविकवाद की नीव डाली 1905 में वहां असफल क्रांति के बाद, वहां पर लगभग उसी तरह का स्यापा शुरू हुआ जो यहां 1949 के बाद शुरू हुआ था: लेनिन ने सत्यानाश कर दिया, सब जनसंगठन तोड़ डाले अब देश कभी उभर नहीं सकेगा, ऐसा कहने वाले वहां पर पचासों मार्क्सवादी थे। लेनिन से बड़ी उम्र के लोग थे, वे अपने आप को मार्क्सवाद का आचार्य समझते थे। यही गीत गाया करते थे। लेनिन 1905 की असफल क्रांति के प्रति इतने आस्थावादी थे कि उन्हें मैं समझता हूं कि हर हिन्दी लेखक को, पढ़ना चाहिये चाहे वह मार्क्सवादी हो या नहीं। दृढ़ क्रांतिकारी कैसे होते हैं, कोई आन्दोलन असफल होता है तो उसकी खामियों को समझने का प्रयत्न करने के बाद संगठन को फिर से खड़ा करें। लेनिन ने कहा, हां हम असफल हुए और जानते हैं किन कारणों से असफल हुए हैं और हम बहुत जल्दी वापस आने वाले हैं और इस बार हम असफल नहीं होंगे और 1905 के बाद सिर्फ 12 साल के प्रयत्न से उन्होंने बता दिया कि हम आ रहे है और असफल नहीं होंगे।

फरवरी 1917 के बाद पूंजीवादी दल ने आवाज लगायी कि क्या बोल्शेविक सत्ता संभाल सकते हैं ? उस समय सोवियत में वहां के मजदूरों व किसानो के गुटों में बोल्शेविकों का अल्पमत था। लेनिन ने कहा, हां हम सत्ता सम्भाल सकते हैं और मार्च 1917 से लेकर अक्टूबर 1917 तक केवल प्रचार करते रहे और इस बात का इन्तजार करते रहे कि जब सोवियत में हमारा प्रचार हो जाये, उस समय हम सशस्त्र विद्रोह करेंगे। आजकल हमारे देश में सशस्त्र विद्रोहवादी बहुत हैं जौर सब शहर में रहकर छापामार लड़ाई की बात करते हैं। ये लोग इस बात का ध्यान नहीं रखते कि आखिर लेनिन ने मार्च से लेकर अक्टूबर तक इन्तजार क्यूं किया तुरन्त सशस्त्र विद्रोह क्यों नहीं कर दिया, लेनिन ने इसलिये ऐसा नहीं किया क्योंकि वे जानते थे कि बिना जनता के सहयोग के सशस्त्र विद्रोह सफल नही हो सकता। उस समय तक जो सोशलिस्ट पार्टी थी उसका किसानों मे बहुत प्रभाव था जो शहर के मजदूर थे उनमे बोल्शेविकों का बहुत प्रभाव था। लेनिन कहा करते थे कि क्रांति केवल क्रांतिकारियों से नही होती। यह उनकी श्रेष्ट शक्ति थी। क्रांति जनता करती है। क्रातिकारी जनता को संगठित कर सकते हैं, जनता का स्थान

नहीं ले सकते। जनता का अल्पसंख्यक दुस्साहसी भाग तुम्हारे साथ हो तब तक तुम वामपंथी होगे मार्क्सवादी नहीं। वामपंथी होने का मतलब है तुम भौतिकवादी लोग दुस्साहसिकता करोगे, आतंकवाद के रास्ते पर आगे बढ़ोगे, समझोगे कि थोड़े से वीर सूरमा क्रांति कर लेंगे और जनता की उसमें कोई भूमिका नहीं होगी। भारत में सबसे कठिन काम यह है कि किसानों व मजदूरों में यह विश्वास पैदा किया जाय कि हम क्रांति कर सकते हैं और यह विश्वास तभी पैदा होगा जब ये छोटे संगठनों में लड़ना सीखेंगे, संगठन का महत्व समझेंगे। यह बहुत धैर्य का काम है और इसमें बहुत से कष्ट भी सहने पड़ेंगे, इससे अलग उठ कर जल्द बाजी में सस्ते साधन ढूंढ कर कुछ कर गुजरना हमारे यहां बहुत आसान लगता है। "भारत में अंग्रेजी राज व मार्क्सवाद" में मैंने यह बताने की कोशिश की है, वामपंथी विचारधारा, और इसके साथ ही दक्षिणपंथी विचारधारा जो किसी ना किसी तरीके से पार्टी के ऊपरी नेताओं के जोड़-तोड़ से या चुनाव के जरिये सत्ता में आने का स्वप्न दिखाती है, यह भी क्रांति विरोधी रास्ता है और इससे देश को बहुत अधिक नुकसान होता है। मुख्य बात है मजदूर व किसानों का संगठन। इसी में क्रांतिकारियों की भूमिका है जिससे जनता अपने अनुभवों से सीखें कि क्रांति के अलावा उसके पास कोई दूसरा तरीका नहीं है। हमारे देश का किसानों का बहुसंख्यक भाग जब तक इस नतीजे पर नहीं पहुंचेगा तब तक हमारे यहां क्रांति नहीं हो सकती और हम वर्तमान स्थिति से उबर नहीं सकते।

आपकी पुस्तकों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत हुआ कि आप का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। आप गम्भीर से गम्भीर बात को भी इतनी सरल भाषा में प्रकट कर देते हैं जैसे कि यह बहुत साधारण बात हो?

लेखक के सामने जनता हो और उसके साहित्य की सारी कार्यवाही इस दृष्टि से हो कि जनता को संगठित होना है, इस जनता का जागरण ही हमारा लक्ष्य है तो वह ऐसी भाषा ही लिखेगा जो जनता की समझ में आये। हर विषय पर इस तरह से लिखना कि जनता की समझ में आजाय, सम्भव नहीं होता और इसके लिए प्रयत्न करना भी जरूरी नहीं, ऐसे विषय हैं जैसे अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र इत्यादि। हर समस्या हर आदमी को हम समझा सकें, यह कठिन है लेकिन बहुत सी समस्याएं ऐसी हैं जिनको हम समझा सकते हैं। मुख्य बात यह है कि हम स्वयं उस बात को समझते हैं या नहीं। हमारे यहां ऐसी प्रवृत्ति हो गयी है कि विचार की दरिद्रता को शब्दाडम्बर से छिपाते हैं। यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद से लेकर 1984 तक हमारे हिन्दी गद्य की आम शैली में किस तरह परिवर्तन

हुए तो ऐसी बात नहीं है कि हम दुरूह भाषा से सरल भाषा की ओर जा रहे हैं, किन्तु अक्सर देखा गया है कि हम सरल भाषा से दुरूह भाषा की ओर जा रहे हैं। उपन्यास और कहानियाँ तो ऐसी हैं जिनमें भाषा सरल होती है मगर इनमें भी कुछ लेखक ऐसे हैं जो जानबूझ कर भाषा को क्लिष्ट बना देते हैं। यह बताने के लिए कि वह बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक गहराई में उतर रहे हैं। मन के ऐसे भाग को टटोल रहे हैं जिन्हें सरल भाषा में टटोला नही जा सकता। खैर यहां तो बात साहित्य व राजनीति की आलोचना की है। मेरा कहना यह है कि भारत के विभिन्न प्रान्तों के साधारण लोग जब तक एक दूसरे के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नही आयेंगे तब तक यहां पर राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ नही हो सकती। राष्ट्रीय एकता नेताओं की एकता नहीं, राष्ट्रीय एकता बुद्धिजीवियों की एकता नहीं, राष्ट्रीय एकता केवल किताबों में पढ़ कर एक दूसरे को जानकर भी कायम नही होती, पुराने जमाने में लोग तीर्थ यात्राएं करते थे और पण्डितों व पुजारियों के माध्यम से एक दूसरे से सम्पर्क में आते थे। वह जमाना लद गया। उस तरीके की राष्ट्रीय एकता से आज काम चलने वाला नही है। अब देखना यह है कि बंगाल में हिन्दी भाषी व बंगला भाषी मजदूर है वे आपस में मजबूत सम्पर्क कायम कर सकते हैं या नहीं। वे किस भाषा में सम्पर्क कायम करते हैं? बम्बई में हिन्दी बोलने वाले, मराठी बोलने वाले, उर्दू बोलने वाले तमाम मजदूर ये सब आपस में किस भाषा में सम्पर्क कायम कर सकते हैं, और वह किसान जो सम्पर्क में नहीं आते, उन्हें सम्पर्क में आने का मौका मिले इसलिए अखिल भारतीय किसान सभा के जलसे वगैरह होते हैं, अब उसमें नेता अंग्रेजी में भाषण दे रहा है तो कब किसान अंग्रेजी पढ़ेगा और कब नेता बनेगा? अगर किसान को नेता बनाना है और उसे बाहर के प्रदेशों के किसानों से भी बात करनी है तो मानी हुई बात है कि वह हिन्दी बोलेगा, और हिन्दी भी वह बहुत सुसंस्कृत हिन्दी नहीं बोल सकता है, वह तो टूटी-फूटी हिन्दी बोलेगा।

मैं हिन्दी का भरसक समर्थन करता रहा हूँ और उसके समर्थन में मेरी एक दलील यह भी है कि भारत की किसी आम भाषा के इतने गैरमानक रूप नहीं हैं जितने हिन्दी के हैं। यानी एक साहित्यिक भाषा है, गैरमानक भाषा है और एक सब स्टैण्डर्ड भाषा है। हिन्दी भाषा के जितने साहित्येतर रूप देश में प्रचलित हैं, उतने अन्यत्र नहीं। 1947 के पहले हैदराबाद की महत्वपूर्ण बोली जाने वाली दकनी हिन्दी गैरमानक भाषा रही है। 18वीं शताब्दी में अंग्रेज अफसर इसको अपने दक्षिण के अफसरों के लिये अनिवार्य बनाये हुए थे कि अगर तुम्हें दक्षिण में काम करना है तो तुम्हें दकनी हिन्दी जरूर आनी चाहिए। यानी आन्ध्र-प्रदेश

तमिलनाडु के जो सैनिक थे, उनके आपस के सम्पर्क में वह काम आती थी, इसलिये फौजों के लिये भी इसको अनिवार्य बनाया गया था। इसमें उनके लिखे व्याकरण हैं। अंग्रेजी राज के पहले कलकत्ते की हिन्दी बंगला से प्रभावित थी। हमारे हिन्दी भाषी प्रदेश में बनारसी हिन्दी काफी प्रचलित है, वह अपना अलग ही रंग दिखाती है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद दिल्ली की भाषा बिल्कुल बदल गयी। ज़बाने दिल्ली हवा हो गयी, अब सुनने को भी नहीं मिलती। अब वह कहीं-कहीं गली कूचों में ही सुनने को मिलती है। अब पंजाबी प्रभावित हिन्दी चल रही है। जो लोग कहते हैं कि हिन्दी लादी जा रही है, ये लोग देखें कि यह पंजाबी प्रभावित हिन्दी कैसे पैदा हो गयी। विभाजन के बाद सिन्धी भारत में आये और इससे हिन्दी प्रभावित हुई है। अमृतलाल नागर की खूबी यह है कि उन्होंने हिन्दी के गैरमानक भाषा के रूप जितने अपने उपन्यासों में इस्तेमाल किये हैं, इतने किसी ने नहीं किये। उन्होंने सिन्धी प्रभावित हिन्दी की भी मिसालें दी हैं। यह हिन्दी की शक्ति है जो तमाम हिन्दी बोलने वालों को जोड़ती है और यह स्वाभाविक है कि दूसरी भाषा बोलने वाला जब हिन्दी बोलेगा तो अपनी भाषा की कुछ रंगत उसमें लायेगा, रंग लगायेगा, अपनी भाषा के शब्द उसमें नहीं ठूँसेगा जैसे अनेक कांग्रेसी नेता कहा करते थे कि ऐसी स्वदेशी भाषा गढ़ो, जिसमें सब भारतीय भाषाओं के शब्द होने चाहिये। ऐसा नहीं होता है वह अपनी वाक्यरचना की छाप नहीं डालेगा। अपनी भाषा का जो ध्वनि रंग है वह उसमें नहीं लगा देगा ? उस भाषा को सरल रूप देगा जिससे उसको बोलने में आसानी हो इत्यादि। यह आम मानक रूप है जो भारत में प्रचलित है। इन तमाम गैर मानक रूपों को देख के अब हिन्दी का जो शिष्ट रूप है, उसको इतना साधारण बनावें कि इन लोगों को भी समझ आये कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार का यह रूप है। ये केवल हिन्दी की सेवा नहीं केवल हिन्दी साहित्य की सेवा नहीं, हिन्दुस्तान में राजनीतिक जागरण ही रहा है, वह होना है, उसके माध्यम से जो भाषा बनेगी, उसकी कल्पना मैं किया करता हूँ कि वह हमारी जनपदीय बोलियों के बहुत नजदीक होगी, आधी भोजपुरी, आधी अवधी लिखो, जैसा कि फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यासों में है वह भाषा लोगों के समझ में नहीं आयी। प्रेमचन्द की जैसी भाषा है कि वह अवधी की नकल नहीं करते लेकिन अवध की बोली के बहुत नजदीक है। उनकी भाषा किसान अगर खड़ी बोली बोले तो बिल्कुल वैसे ही बोलेगा जैसे होरी बोलता है यह हमारा आदर्श होना चाहिए। होरी से थोड़ा आगे बढ़कर बोलोगे तो थोड़ा परिवर्तन होगा, वह बात अलग है। प्रेमचन्द की बहुत बड़ी खूबी यह है कि वह जनपदीय होकर भी हिन्दी का मानक रूप नष्ट नहीं होने देते। हमारा एक

तरफ प्रयत्न भर होना चाहिये कि हमारी हिन्दी बोलियों के खासकर ब्रजभाषा के नजदीक हो, उसके ध्वनि तरंग के बहुत नजदीक हो। जो सरलता ब्रजभाषा में है वो हमारे गद्य मे आये। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का गद्य बहुत अच्छा मुझे इसलिये ही लगता है कि उनका गद्य ब्रजभाषा के बहुत नजदीक है। जनपदीय भाषा के नजदीक है। दूसरी तरफ वे जो प्रदेशों में हिन्दी के गैर मानक रूप चल रहे हैं जैसे बम्बई में बम्बईया हिन्दी, कलकत्ता में कलकतिया हिन्दी, दिल्ली में पंजाबी प्रभावित हिन्दी, सिन्धी प्रभावित हिन्दी भी है। इन गैर मानक हिन्दी रूपों के नजदीक हमारी हिन्दी को पहुँचाना चाहिये। यह कोई किताब में लिखने को नहीं मिलेगी, यह तो जनता की तरफ अपना कान लगाये रखो। लोगों से मिलते-जुलते रहो और उनकी बातें सीखो और जो तुम्हारे यहाँ बहुत अच्छे लेखक हों, उनकी भाषा सीखो कि उन्होंने भाषा का कैसा व्यवहार किया है। मुझे अवसर इस सिलसिले में तोल्सतोय याद आते हैं। जब वे पिचहत्तर साल के थे, उनके उपन्यासों का दुनियाँ की बहुत बड़ी-बड़ी भाषाओं में अनुवाद हो गया था तब एक बार वह गाँव में अपनी डायरी लेकर कुछ लिख रहे थे व घूम रहे थे। मास्को के कुछ छात्र उनके दर्शन करने आये तो घर से पता चला कि वह गाँव गये हैं तो वह ढूँढते-ढूँढते गाँव पहुँचे और उन्होंने तोल्सतोय से पूछा कि आप इन किसानों के बीच क्या कर रहे हैं ? तो तोल्सतोय ने कहा मैं रूसी भाषा सीख रहा हूँ। जो व्यक्ति पिचहत्तर साल की उम्र में यह कह सकता है, विश्व प्रसिद्धि प्राप्त करने के बाद कि मैं रूसी भाषा सीख रहा हूँ, उससे हमें सीखना चाहिये। हम जिन्दगी भर हिन्दी सीखें तब भी हिन्दी नहीं सीख पायेंगे। हमारे लेखकों के अन्दर राजनीति तो अलग है, इनके व्यक्तित्व का गठन ऐसा हुआ है कि अहंकार जो है, हिमालय के शिखर से ऊँचा है, जो वाक्य रचना है वह अंग्रेजी से कितनी प्रभावित होती है, उसका उन्हें ज्ञान नहीं और यह दुर्भाग्य की बात है कि जो लोग अंग्रेजी के अध्यापक हैं या अंग्रेजी में लिखते भी रहे थे, उनकी वाक्य रचना अंग्रेजी से इतनी प्रभावित नहीं, जितनी हमारे हिन्दी के अध्यापकों की होती है। वह इसकी नयी हिन्दी है या खास हिन्दी है, जिसको हम विशेष साहित्य व्यापार के लिये काम में लाते हैं—वास्तव में बात यह है कि वे अंग्रेजी की वाक्य रचना से प्रभावित हैं, यह एक दोष है, दूसरा दोष कि जब विचार क्षमता नहीं होती और विचारों की दरिद्रता होती है तो आदमी वाक्यों को मिलाकर लिखता है। सबसे बड़ी कठिनाई अनेक लेखकों को यह है कि वाक्य अस्तव्यस्त हो जाते हैं, सिलसिले वार नहीं रहते। वाक्य ऐसा हो जो सुनने से समझ में आजाय व पकड़ में आ जाय और वाक्य खण्ड ऐसा हो कि वाक्यों का सिलसिला आपस में मिलता

दिखायी दे, तब तक कि पढ़ने से वह आदमी पकड़ लेता है और उसकी कड़ी से आगे बढ़ता चला जाता है। एक बार हिन्दी सम्मेलन में हजारी प्रसाद जी का व्याख्यान था। उसके पहले मैं भी बोला था। हम दोनों इस बारे में एक मत थे कि हमारे अनेक लोग हिन्दी की वाक्य रचना से अपरिचित हैं। उसका बहुत बड़ा कारण यह है कि जिनसे उन्हें सीखना चाहिये, उन्हें वे मूर्ख समझते हैं। जनता से तुम सीखना नही चाहते, तुमसे जो पहले अच्छी हिन्दी लिख गये हैं, उनसे तुम सीखना नहीं चाहते। अंग्रेजी की पाकेट बुक पढ़ते हो, आलोचना किसी की भी, बिना जाने उसका प्रभाव पड़ता है तो तुम अच्छी हिन्दी जानोगे कैसे ? जब कोई अच्छी हिन्दी लिखता है तो बड़ा चमत्कार मालूम होता है। ऐसी भाषा तो हमने सुनी नहीं। और रोज तुम सुनते हो उसका तुम्हें ज्ञान नहीं कि यह भाषा हमारे आस-पास बिखरी पड़ी है, लोग इसमें सुन रहे है, इसको लिखने की जरूरत है। भाषा से इस तरह हमारे सामाजिक व राजनीतिक आन्दोलन का सम्बन्ध है।

आप किन-किन लेखकों से प्रभावित हैं तथा आधुनिक लेखकों में से किस-किस को आपने पढ़ा और सुना है।

हाँ बिल्कुल सही बात है। बिना दूसरों से प्रभावित हुए आदमी लिख कैसे सकता है ? प्रभावित होने से मतलब उनसे सीखना है, उनकी नकल करना नहीं। हिन्दी में भारतेन्दु के समय के बहुत से लेखक है उन सब में से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मैंने छठे दर्जे में पढ़ा था। उसके बाद जब मैं बी. ए. में था तब इनको पढ़ा था, इसके बाद जब मैं रिसर्च कर रहा था उस समय पढ़ा था। प्रेमचन्द की पुस्तक पढ़ने के बाद मेरा सबसे पहला काम था भारतेन्दु के सहयोगियों पर पुस्तक लिखना भारतेन्दु मेरी दूसरी पुस्तक है, जो 1943 में प्रकाशित हुई थी। 1942 से मैं इस पर काम कर रहा था यानी एम. ए. पास करने के आठ साल बाद मैंने पहला काम किया है, भारतेन्दु युग पर पुस्तक लिखी जाए। भारतेन्दु युग के एक लेखक हैं जो थोड़ा बाद में आते हैं बाल मुकुन्द गुप्त। उनके गद्य ने मुझे बहुत प्रभावित किया। उसके बाद प्रेमचन्दजी और खास तौर से निराला के काव्य ने ही नहीं, उनके गद्य ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया। उनके साथ रहने पर मुझे मालूम हुआ कि वे गद्य लिखने के लिए कितना प्रयत्न करते हैं। गद्य की विधा बहुत महत्वपूर्ण है। यह बात उन्होंने मुझे बहुत स्पष्ट रूप से समझायी। हिन्दी में इन लोगों का प्रभाव है। इनके अलावा तुलसीदास व अन्य कवियों का प्रभाव व कविता के अतिरिक्त इनका मेरे लेखन पर पड़ा है। मैं अंग्रेजी का अध्यापक रहा हूँ अतः मुझ पर बहुत से अंग्रेजी लेखकों व आलोचकों का भी प्रभाव है। इनका प्रभाव कहाँ-कहाँ किन-किन रूपों में

आता है यह तो मैं बहुत सोच कर ही बता पाऊंगा। मैंने इस पर कभी सोचा नहीं। कुछ दूसरी भाषाएं भी मैंने सीखीं, उनके गद्य ने भी मुझे प्रभावित किया है, प्रभाव के बारे में सोचता हूं तो मुझे गद्य ही याद आता है। गद्य लिखना एक कला है। बहुत श्रम करने पर गद्य लिखना सीखा जाता है। ये बातें मैंने फ्रांसीसी लेखकों से सीखी। मेरे ख्याल से फ्रांसीसी लेखक सब से अच्छा गद्य लिखते हैं। गोर्की ने एक बार रूसी लेखकों से कहा था कि तुम्हें गद्य लिखना फ्रांसीसी लेखकों से सीखना चाहिए। तुम लोग रूसी भाषा का इस तरह से प्रयोग करते हो जैसे भाषा को पैरों तले रौंद रहे हो। यह जब मैंने पढ़ा तो मुझे आश्चर्य हुआ, अच्छा भी लगा कि गोर्की भाषा को इतना महत्व देते है। दूसरी भाषा से सीखने को कहते है तो ऐसे बहुत से लेखक हैं, जिनका मुझ पर प्रभाव है, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है कि अपनी जनता की बात सुनना और वहाँ से सीखना चाहिये। एक बोलचाल की भाषा है जो उगती हुई चीज है और बराबर विकसित होती हुई चीज़ है। वहां उसे नहीं सीखा तो पुस्तकों से हम चाहे जितना सीखें उस भाषा में आगे प्रगति नहीं कर सकते। 1969 तक हिन्दी के अधिकांश कवियों को पढ़ा था और 'अस्तित्ववाद और नयी कविता' पुस्तक लिखी थी। इसके अलावा गद्य में 'महावीर प्रसाद और हिन्दी' पुस्तक लिखा इससे तुम्हें पता चलेगा कि नये व पुराने गद्य को जो जितने भी मिले उन सब को मैंने पढ़ा। कह सकते हैं कि हिन्दी के बहुत कम लेखक हैं जिनको मैंने नहीं पढ़ा।

भारत के कई राज्यों में सम्प्रदाय व धर्म की आड़ में जो खून खराबा हो रहा है, इसके पीछे किसका हाथ है और आप के विचार में यह सब क्यों हो रहा है इस पर भी अपनी लेखकीय दृष्टि से स्पष्ट करें ?

ऐसा है, 1947 में जो सत्ता का हस्तान्तरण हुआ, वह सम्प्रदायवाद से समझौते के आधार पर था। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ समझौता किया यह ऐसा समझौता है जैसा अंग्रेज चाहते थे। सम्प्रदायवाद से समझौता करने के बाद कोई कैसे आशा कर सकता है कि सम्प्रदायवाद खत्म हो जायगा ? पंजाब का विभाजन हुआ, मुसलमान व गैर मुसलमानों के आधार पर, अब अगर विभाजन की बात उठती है सिक्ख व गैर सिक्खों के आधार पर, तो उसमें आश्चर्य की कौन सी बात है ? बंगाल में विभाजन हुआ, हिन्दू-मुसलमानों के आधार पर। विभाजन के आधार पर धारा चली है। इसके पीछे जो शक्तियां हैं, वे कौन से लोग हैं, जो अंग्रेज के समर्थक थे जिनका आधार लेकर अंग्रेजों ने यह नीति चलायी। यदि पश्चिमोत्तर प्रदेश सिन्ध-पंजाब-काश्मीर को देखो तो दिखायी देगा कि यहाँ औद्योगिक विकास बहुत

कम हुआ है। यहां के जो बड़े-बड़े नवाब थे, महन्त थे, उनका आधार लेकर उन्होंने यह सब चलाया। कांग्रेस ने क्या किया, जितने राजा लोग थे उसका चोला बदल कांग्रेस के अन्दर कांग्रेस के बाहर या थोड़े फासले पर, उनको ढक लिया, उनकी जड़ नही काटी गई अतः यहां पर जो सामन्ती अवशेष है, राजा-महाराजाओं और जमींदारों के वर्ण व्यवस्था के, जाति-प्रथा, यह सब सामन्ती अवशेष हैं। इसका एक आर्थिक आधार है जब तक यह नष्ट नहीं होगा तब तक ये दंगे बन्द नहीं हो सकते और तब तक अलगाववादी तत्व खत्म नहीं हो सकते। भारत की स्थिति यह है कि भारत आत्मनिर्भर बनना चाहता है अर्थात पूंजीवाद आत्मनिर्भर बनना चाहता है। अपना बाजार चाहता है, औद्योगिक विकास चाहता है और जो लोग विरोधी हैं उन्हीं के आश्रय में जाते हैं। यानी भारतीय पूंजीवाद के दो भाग हैं, एक तरफ वह साम्राज्य-वाद का विरोध करता है और चाहता है कि वह उसके बाजार में आये नहीं, उससे छीना-झपटी करे नहीं उसे आगे बढ़ने दे, दूसरी तरफ उसी साम्राज्यवादी के पास कर्ज लेने जाता है इसलिए एक तरफ हम कहेंगे कि हमारे यहां विदेशी ताकतें दखलंदाजी कर रही हैं और जब पूछते हैं तो कहेंगे कि कौन विदेशी ताकतें हैं तो कहेंगे हम उनका नाम नहीं लेंगे। डरते क्यूं भई उनका नाम लेने से, क्यूं कि उनके पास कर्ज लेने जाना है और हम जितना उत्पादन बढ़ाते हैं, उतना वहां हम पटाते चले जाते हैं। ये जो विदेशी दबाव है यह अप्रत्यक्ष कारण है दंगा होने का। भारत एक सीमित भूमिका निभा रहा है शांति आन्दोलन की। वो अमरीका की कठपुतली नही, युद्ध का अड्डा नहीं, जैसा कि पाकिस्तान है। अमेरिका को यह बात पसंद नहीं, दूसरे महायुद्ध में अंग्रेजों की तरफ से भारत की पच्चीस लाख सेना लड़ी थी। अब पच्चीस लाख क्या पच्चीस हजार भी नहीं मिलने वाली तो इसकी कमी को कैसे पूरा करेंगे ? एटमबम से तो लड़ाई की नहीं जा सकती। उनको तो फौज चाहिये, साधन चाहिये, फौजी अड्डे चाहिए इसलिए वह ऐसी परिस्थिति पैदा करना चाहते है जिससे कि भारत के जन-धन को अपने लिये वह इस्तेमाल कर सकें, इसके लिये हर तरह का दबाव यहां तक केन्द्रीय सरकार पर डालेंगे उसमें दंगों का भी दबाव है इस बात जो समझना चाहिये अतः ये दंगे साम्राज्यवाद के मुख्य अस्त्र हैं। इसलिये दंगे पुराने ढंग से नही होते बड़े सुसंगठित ढंग से होते है, आधुनिक हथियार से होते हैं। इनके पीछे बहुत ही दक्ष लोग हैं, जिनको हम पहचानते नहीं हैं ?

आपने 15 अगस्त 1984 को इन्दिरा जी का भाषण सुना ? इस बार उन्होंने काफी स्पष्टरूप से विदेशी ताकतों का नाम लिया था ?

मैंने सुना था उन्होंने अमरीका का नाम नहीं लिया था और जो अमरीका

भारत में दखल अंदाजी करता है उसे भारत सरकार रोकती क्यूं नहीं ? इनको गिरफ्तार करना चाहिये, सी. आई. ए. के आदमियों को सबसे पहले यह मालूम होना चाहिये। बाहर वह लोग जो दखलअंदाजी करते हैं, उनको घुसपैठी कहते हैं, बिना सरकार के जाने, दूसरा वह जो सरकार की जानकारी में हो जैसे मिशनरीज, ये बाहर से पैसा लेते हैं, आदिवासियों में जहर फैलाते हैं, सरकार को सब मालूम है लेकिन बन्द नहीं करती है। इसका बहुत बड़ा कारण है कि जो पहले ब्रिटिश पूंजी यहां पर लगी हुई थी, उसका कभी राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ, मिसेज थैचर यहाँ महादेवी वर्मा को शाल ओढ़ाने आती हैं, ज्ञानपीठ का पुरस्कार इनको यहाँ देने आती हैं, यह हम लोगों के लिये बड़ी लज्जा की बात है। यदि मिसेज थैचर युद्ध प्रचारक नहीं हैं, रीगन की सहायक नहीं हैं, तो कौन हैं ? और जो कामनवेल्थ हुई, उसके दस्तावेज में यह कहा गया है कि यह एक ऐसा संगठन है जिसमें पिछड़े हुये देश व विकसित देश एक ही आवाज से बोलते हैं, एक ही आवाज़ में बोलने वाले पिछड़े कौन हैं ? भारत, विकसित देश कौन है, इंगलैण्ड ? इंगलैण्ड ने जो भारत पर - अत्याचार व शोषण किये और अब भी कर रहा है, उस सब पर पर्दा डालना यह हमारे कांग्रेसी नेताओं की नीति रही है। साम्राज्यवाद से जब तक पूरी तरह से हम सम्बन्ध विच्छेद नही करेंगे, तब तक हमारी आन्तरिक समस्यायें नहीं सुलझेंगी। रूस में हिन्दू-मुस्लिम दंगे क्यों नहीं होते, आयरलैण्ड में केथोलिक व प्रोटेस्टेण्ट के दंगे होते हैं लेकिन चीन में बहुत केथोलिक हैं, वहाँ नहीं होते, रूस में बहुत मुसलमान रहते है, वहाँ दंगे नहीं होते और विश्व में बहुत देश है जहाँ अनेक धर्मों के लोग रहते हैं वहाँ दंगे नही होते और तो और भारत में 1947 के पहले किसी देसी रियासत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे नहीं हुये। काश्मीर में बहुत मुसलमान हैं और राजा हिन्दू किन्तु वहाँ भी दंगे नहीं हुये। हैदराबाद में रजाकारों का आन्दोलन चला जो स्वाधीनता आन्दोलन के थोड़ा पहले का है। हैदराबाद में राजा मुसलमान और प्रजा हिन्दू। यदि क्रांतिकारी ढंग से यहाँ निजामशाही खत्म की जाती तो वहाँ हिन्दु-मुस्लिम दंगे की क्या सम्भावना होती ? काश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम समस्या को क्रांतिकारी ढग से हल की जाती यानी राजा को गद्दी से उठा दिया और जनता का शासन होता तो काश्मीर की समस्या यू. एन. ओ. में आज नही होती ? काश्मीर की समस्या हमने वहाँ रख छोड़ी है यानी क्रांतिकारी समाधान से भाग कर देश की स्थिति को नाजुक बना रखा है। वह ऐसा ही रहेगा जब तक स्वयं लोगों में चेतना जाग्रत नहीं होती।

एक सवाल तुमने नहीं किया किन्तु लोग अक्सर मुझसे करते हैं वो यह है

कि भारत में क्रांति होगी क्या ? इस सवाल के बदले लोग यह भी कहते हैं कि भलेही दुनियाँ बदल जाय, भारत नही बदलेगा और कहते है कि हिन्दू बदल जाय मुसलमान नही बदलेंगे, और मुसलमान कहते है कि आप तो जानते हैं कि इस्लाम धर्म सबसे बड़ा धर्म है। हिन्दुओं मे छूआछूत है। ब्राह्मण, कायस्थ, शूद्र ये कभी खत्म नही हो सकते। दिल्ली में 1984 में इतनी स्त्रियाँ दहेज के कारण जल जाती है। लोग सती प्रथा के लिए घूम रहे हैं, यह सती प्रथा से और भी भयानक है जो सधवा होकर भी अपनी जान दे देती है। मेरा अपना विश्वास है कि हम से भी पिछड़े हुये देश है और मार्क्सवाद अब दुनियाँ मे इतनी गहरी जड़ जमा चुका है, अब बड़े से बड़ा भाग्यवादी, बड़े से बड़ा लेखक, प्रतिक्रिया वादी, बड़े नियतिवादी इस जड़ को उखाड़ नहीं सकते और यह कोई राष्ट्रीय प्रपंच नही है, अन्तर्राष्ट्रीय प्रपंच है। खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है। लोग समझते है कि 1917 मे पता नही कैसे क्रांति हो गई। रूस तो पिछड़ा हुआ था। क्रांति तो जर्मनी मे होनी चाहिये थी, अब क्रांति होनी थी, हो गई। इसके बाद समझे कि दूसरे महायुद्ध में स्टालिन ने पोलैण्ड, हंगरी में पूर्वी जर्मनी मे अपनी फौज के जरिये साम्यवादी राज्य स्थापित कर दिया बाकी जगह तो नही हुआ, चीन मे हो गया, खैर चीन में रूस ने मदद की लेकिन बाद में वियतनाम में हो गया, वियतनाम अमरीका जैसे देश से इतने दिनों तक लड़ा। इसकी मिसाल इतिहास में नहीं। इसको कहते हैं मार्क्सवाद व्यवहार में ऐसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है। रूस जो भारत की तरह पिछड़ा हुआ था अब सुपर-पावर गिना जाता है। क्यों गिना जाता है, सब कहते है टोटेलिटेरियन है, एक तंत्र वादी है, वहाँ स्वतन्त्रता नही है, ठीक है। सीधी बात है, यह उसके पास ताकत कहाँ से आ गयी। उसका रहस्य है कि पूंजीवादी देश साधनों का उतना अच्छी तरह से प्रयोग नहीं कर सकता जितने अच्छे ढंग से समाजवादी कर सकता है। हमारे साधन सीमित हैं, हमें कर्ज लेने की जरूरत नहीं, इस देश के साधनों से इसे बहुत बड़ा शक्तिशाली देश बना सकते हैं। वियतनाम छोटा सा देश फ्रांस से लड़ा, अमरीका से लड़ा, चीन से डरता नहीं, चीन से लड़ने को तैयार है, रूस बहुत दूर है। मान लिया जाय रूस मदद देता है रूस कितनी मदद देगा ? रूस से चीन की सीमा पर लड़ाई हो सकती है, जर्मनी भी हमला कर सकता है, अमरीका हमला कर सकता है पर वियतनाम डरता नही। वह चीन को चुनौती देता है और अमरीका की हिम्मत नही कि वह वहाँ पर अपनी फौज उतार दे और उसे परास्त कर दे। ये एटम बम की धमकी देते है। बहुत बड़े-बड़े बम गिरायेंगे, बहुत बड़े-बड़े शहरों को तबाह कर देंगे। धरती कैसे जीतोगे ? वहाँ तुम शासन कैसे करोगे ? दुनिया को

जीतने के लिए तुम्हें पैदल सिपाही तो चाहिये ही चाहिये। इसलिये ये बहुत तरीके के जाल फैलाते हैं, फूट डालते हैं, मैंने यह बात इसलिये बताई है कि जिन देशों में हम कल्पना भी नही कर सकते कि वहाँ भी मार्क्सवाद की जड़ जमेगी, वहाँ भी मार्क्सवाद की जड़ जमी। भारत के युवकों में देश भक्ति की कमी नहीं, उत्साह की कमी नहीं, आत्मबलिदान की कमी नही, उनमें कमी है कि वह यह नहीं जानते कि रास्ता क्या है ? संगठन किस तरह करना चाहिए। देश की स्थिति ऐसी क्यों है ? इसमें यदि लेखक पहल कर सकें तो युवकों को मदद मिलेगी। कौन मदद करता है या नहीं मार्क्सवाद का इसमें बहुत बड़ा हाथ है। सौभाग्य से ऐसा नहीं है कि यही लोग हैं, मार्क्सवाद पढ़ो और रास्ता निकाला ऐसा नहीं है कि ऐसी समस्या नहीं कि पैगम्बर ने कह दिया, उसे दुनिया दोहरायेगी, ऐसा मार्क्सवाद में नहीं है। अच्छा है, मार्क्सवाद की पोथियां हैं, उसमें सही बात भी हैं, गलत भी अतः अपना रास्ता पहचानो। अपनी परिस्थिति का अध्ययन करो और आगे बढ़ो, तो मैं समझता हूं, भारत का भाग्य बदलेगा, कितनी जल्दी बदलेगा, यह हमारे पर निर्भर करता है विश्व की परिस्थितियों पर निर्भर है, भारत का भाग्य बदलेगा तो हिन्दी साहित्य का भाग्य बदलेगा, हमारी भाषा का भाग्य बदलेगा।

आलोचना और आलोचक

—ग० मा० मुक्तिबोध

⋮ "…ऐसी उदासी जो जिन्दगी के टुकड़े-टुकड़े करके बता देती है कि तुम्हारे शरीर में इतने सेर कार्बन, इतने सेर हाईड्रोजन, इतने छटांक सोना, इतने छटांक लोहा, इतने छटांक चूना, और इतने छटांक फास्फोरस है। ज्ञान की यह घनघोर उदासी बड़ी भयानक होती है। मगर कहीं अपना शरीर पारदर्शी होता और हमारे अवयवों में चलने वाली जैव रासायनिक प्रक्रियायें हमको देखने को मिलती तो शायद डर जाते। लेकिन चूंकि सारा शरीर स्निग्ध-त्वचा ने आवृत है, इसलिए अनुमान के सहारे सब चलता है। प्रमाणों से अनुमान पुष्ट होते हैं या कट जाते हैं। लेकिन प्रमाण धीरे-धीरे मिलते हैं। इन्हें खोजने के लिए तपस्या करनी पड़ती है। कई जिन्दगियां खप जाती हैं। इसलिए नये सत्य पाने तक की मंजिल में भय, आकांक्षा, चिंता, खोज, गणित, पुनः आशंका, पुनः खोज, पुनः गणित करना पड़ता है और यह काम चलता ही रहता है। प्रक्रिया की बेचैनी वस्तुतः भयानक है।

………विकास की दिशा मेरी रही है किन्तु मेरा आत्मसंघर्ष अज्ञेय, प्रभाकर माचवे और नेमिचन्द जैन से विकट रहा है। अन्तर्विरोध हर व्यक्तित्व में होता है किन्तु मुझमें यह अन्तर्विरोध इतना तीव्र होता गया कि उसने विघटन का रूप ले लिया है। मेरा आज (1945) तक का आत्मसंघर्ष एक विभाजित व्यक्तित्व का आंतरिक संघर्ष रहा है। यह संघर्ष अनेक स्तरों पर, अनेक परस्पर विरोधी प्रेरणाओं, आवेगों और आस्थाओं के बीच रहा है।

"हम मध्यवित्त और निम्न मध्यवित्त वर्गों वाले मनमौजी होते हैं। मैं इस बात को अपने बारे में विशेष संदर्भ के साथ कह रहा हूँ……।

रंगभूमि का सूरदास अपनी मनोरचना या मनोरथ में प्रेमचन्द ही है। "गोदान" का होरी भी कहीं प्रेमचन्द की गँवई त्रासदी को खोलता है। कहीं गोबर

की शहर की खोज प्रेमचन्द की खोज सी लगता है। कहां "मेहता-मालती" के प्रेमप्रसंग में या नारी की सामाजिक भूमिका मे विवाह के संगठन से असंतोष व्यक्त करने वाले प्रेमचन्द प्रगतिशील विचारक लगते हैं।

... .वात्स्यायन (अज्ञेय) मेरे लिए—दास्तोएवस्की नहीं हैं। एक सब कुछ छिपाता है, दूसरा साइबेरिया मे रहे या पीटर्सबर्ग में जासूस निगाहों से इन्सान को खोलता चलता है। दास्तोएवस्की के पहले उपन्यास 'पुअर फ़ॉक' की चर्चा आलोचक बेलिस्की ने की थी। वह बाद में उपन्यास "द इन्सल्टिड ऐण्ड–ह्यूमिलियेटिड" में भी अपनी ही कहानी या अपने ही जीवन में मिले चेहरों की कहानी लिखता है। मैं जो उपन्यास लिख रहा हूँ, उसमे गोविन्द आनंद कौन है? क्या मैं गोविन्द हूँ? नहीं। तोलस्तोय "वार एण्ड पीस" में कभी पीयरे जैसा लगता है, कभी नतासा सा, कभी प्रिंस आन्द्रे के मन मे वह अपनी कहानी का प्रसंग जोड़ देता है। कोई भी लेखक अपने ही चरित्रों की स्वाभाविक यानी विश्वसनीय रचना में अपने ही अनुभव की एक झलक पेश करता है। ....गोविन्द मेरे उपन्यास में कहीं नेमिचन्द जैन की छाया सा बन जाता है। आनन्द कहीं उनके स्वभाव से भिन्न मेरा प्रतिरूप है।

मुझे एमिली ब्रान्ते के प्रसिद्ध उपन्यास वुदरिंग हाइट्स की छटपटाती वेदना दुःस्वप्न की गहरी भयानकता का जीवन जीना है। क्रांतिकारी मैं हूँ या नहीं, यह मेरे आत्महत्या न करने के आत्मसंघर्ष पर निर्भर करता है।

.........मेरी कविता में भारत का छटपटाता हुआ मध्यवर्ग है। फ्रांस के कवि रैनेसाँ में भी अपनी ज़मीन की छटपटाहट है...........प्रेमचन्द क्या मेहता, मालती की तरह —गोदान में मध्यवर्ग को पूरी तरह नकारते या ध्वस्त करते हैं? नहीं! वह मध्यमवर्ग की कमजोरियों से मेरी तरह लड़ते है और उसे बदलने के लिए–अनथक परिश्रम करते हैं। यह रचनात्मक–परिश्रम प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया में नज़र आता है। शमशेर में यह आत्मसंघर्ष बारीक है......"हम दोनों मध्यवर्ग को डिफेण्ड नहीं करते हैं, ...उससे उलझते हैं।

महाजनी सभ्यता ही इन्द्रजाल है। साम्राज्यवाद गुलाम देशों या अपने उपनिवेशों में इन्द्रजाल की कूटनीति चलाता है और कूटनीति के इन्द्रजाल में मध्यवर्ग के युवक पहले फँसते हैं। इस भूमण्डल का तिलस्म हमें तोड़ता है। आज भी आधुनिकता, तिमंज़िले सौन्दर्य-स्वर्ग का महान तिलस्म है। शहरों में पुरुष-स्त्रियाँ सभी तिमंज़िले सौन्दर्य-स्वर्ग के संगीत में धँस रहे हैं। यह मोहनकारी आधुनिकता का संगीत शोषण का, गुलामी का इन्द्रजाल है, तिलस्म है........"मत धँस इसमें, मत

मत घँस इसमें, पीछे न देख, मूरख मत नन, मूरख मत बन।"

————रोमांटिक कविता का पूरा आंदोलन फ्रांस, इंगलैण्ड, जर्मनी और रूस में अवचेतन की यात्रा का, अवचेतन की खोज की तैयारी का आयोजन कहा जाना चाहिए। सिर्फ रूस में पुश्किन और अमेरिका में मार्क ट्वेन और वाल्ट ह्विटमैन अपनी भीतर की प्रयोगशाला में भी अपने अपने देश की यथार्थ की खोज करते रहे हैं ——जहाँ मेरे सम सामयिक कवि छायावाद का ही एक निजी संस्मरण या भावुकता का एक आधुनिक लोक कविता में गढ़ रहे हैं, मैं छायावाद के रुढ़भाव की चीरफाड़ करता हूँ——मेरा पत्रकार हेमिंग्वे की जाति का प्राणी है।

अज्ञेय को अमेरिका की आज़ाद दुनियां और साम्यवाद-विरोधी कल्चरल फ्रीडम अच्छी लगती है। धर्मवीर भारती को सेठाश्रय अच्छा लगता है और प्रगतिशील चिंतन से चिढ़ सी होती है··········क्या मैंने "लकड़ी का बना रावण" कविता में अज्ञेय का छाया-रूप उभारा है ? क्या मैंने "ब्रह्मराक्षस" कविता में पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी का छायारूप उतारा है ? क्या मैंने एक "भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन" कविता में नेमिचन्द जैन, शमशेर बहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल और राम विलास शर्मा [या अपने वाम भटकाव की ओर अपनी कमज़ोरियों की केस-स्टेडी तैयार की है ?

"कल्चरल फ्रीडम" के कर्ता-धर्ता अशोक मेहता तथा हिन्दी के स्थनामधन्य साहित्यिक यह भूल जाते हैं कि जिस देश में वे रहते हैं, उसका नाम भारत है और आज तक बगैर कल्चरल-फ्रीडम-कांग्रेस" के अस्तित्व के भी इस देश में सांस्कृतिक स्वाधीनता रही है। ""—आज शिक्षित मध्यवर्ग मे जो भयानक-अवसरवाद छाया हुआ है, आत्मस्वतंत्रता के नाम पर जो स्वहित, स्वार्थ, स्वकल्याण की जो भाग-दौड़ मची हुई है, "मारो-खाओ, हाथ न आओ" का जो सिद्धान्त सक्रिय हो उठा है, उसके कारण कवियों का ध्यान निज मन पर केन्द्रित हो जाता है।

मैं समझता हूँ कि गुणी आलोचक का सबसे बड़ा काम यह है कि वह "रिकागनिशन" (पहचान) के इस प्रोसेस (प्रक्रिया) को एक्जेलेरेट (तीव्र) करवाये। इसके बाद अगर उसे (रचनाकार को) उठना हो तो वह उठे, नहीं तो वह गिर पड़े।

इसी मालवे की शुजालपुर मंडी में नेमिचन्द जैन और भारत भूषण अग्रवाल आगरा से आकर, वीरेन्द्रकुमार जैन और मेरे साथ मिलकर "तार सप्तक" की योजना बनाई थी·······प्रयोगकार वात्स्यायन जी को, उनके संगठन-सामर्थ्य की योग्यता से आमंत्रित किया गया।

यह नहीं है कि कवि का पद अनिवार्य रूप से विचारक के पद से बड़ा ही हो। मेरा तो ख्याल यह है कि आज हिन्दी को अच्छे विचारक की अधिक आवश्यकता है, इतनी कवि की नहीं। प्रकृति और वेदना से जो व्यथित कवि होकर परिस्थितिवश विचारक हो जाता है, उसकी यह यात्रा जो उसने काव्य से लेकर विचार तक की है, अत्यन्त महत्वपूर्ण और मूल्यवान है और उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

मैंने——यही पाया है कि एक आलोचक जो एक कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर या निराला के या भारतेन्दु, प्रेमचन्द जैसे साहित्यकार के सम्बन्ध में मार्मिक विश्लेषण करता है, वह उसी श्रेणी के और उसी समय या शैली के कवि या लेखक के सम्बन्ध में न्याय नहीं कर पाता।

——अमृतराय हमारे प्रगतिशील सिद्धान्त पर पूरी सहानुभूति रखते हैं। उस संदर्भ में मैंने (डॉ) रामविलासजी से अपने तीव्र मतभेदों का उल्लेख किया था। अमृतराय ने कहा था He has an-anti-writing attitude और मैंने उनके कथन में यह जोड़ दिया था, It is an anti-life attitude.

आलोचना में स्वांग खूब चलता है। सितम्बर 1957 में, इलाहाबाद में लेखक-सम्मेलन होने जा रहा है। शिवदानसिंह चौहान, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी और धर्मवीर भारती वहाँ खूब स्वांग रचेंगे। स्वांग शब्द शायद ठीक नहीं। होना चाहिये नाट्य। आलोचना के क्षेत्र में जो तार्किक-नाट्य है, उसकी यथार्थता हमें समझ में आती है, जब हम व्यक्तिशः उन आलोचकों की वृत्तियों को जाने।

——मिलने पर आलोचक बहुत सी बातें करते हैं। वे बातें जो उनके हृदय से निकली होती हैं, उनके आलोचनागत मंतव्यों से बहुत दूर जा पड़ती हैं। कभी-कभी वे उन बातों के विरुद्ध भी पायी जाती हैं, बहुत बार उनके मन्तव्यों से अधिक मार्मिक, अधिक दृष्टि सम्पन्न और अधिक यथार्थ भी होती हैं। इसलिए कि बात करते समय वह आलोचक नाट्य नहीं करता जा रहा है। लेकिन जब वह लेखनी चलाने लगता है या मंच पर जाता है, तब वह आलोचक का मुकुट पहन कर, सत्य का राजदण्ड स्वीकार कर, भाषण देने लगता है, पिटी-पिटाई टिप्पणी–घिसी-घिसाई शब्दावली में, ऐसी शब्दावली में और ऐसे नाटकीय स्वर में जो उसने याद करके दिमाग के तरकस में रख छोड़े हैं।

हिन्दी-क्षेत्र की कवि गोष्ठियों, समारोहों में यही दृश्य दिखलायी देता था। यहाँ तक कि आपसी तौर पर एकांत में कविताएँ सुनते वक्त भी तल्लीनता का जो नाट्य मित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जाता था, उसका थोथापन स्वयं मुझे बुरी तरह अखर जाता।

धर्मवीर भारती ने धुरीहीनता पर लेख लिख कर पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी और उनके साथ की पीढ़ी पर प्रहार किया था। यह ग्रखाड़े में पुरानों की मूर्ति गिरा कर अपनी मूर्ति के लिए जगह खाली करने का पैंतरा भर ही है।

कविता बहुत संजीदा और मुश्किल कर्म है फिर भी इतना स्वाभाविक, जितना साँस लेना। कृत्रिमता, सायास रचना-कर्म और झूठ का कविता से कोई मेल नहीं.......कविता बदला लेती है और उसका प्रतिशोध बहुत क्रूर होता है। ऐसे कवि जो स्वयं के साथ जालसाज़ी करते हैं, बहुत जल्दी मिडियाकरों या चुके की पंक्ति में फेंक दिये जाते हैं। वह बहुत जल्द चुक जाते हैं। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, गिरिजा कुमार माथुर और अज्ञेय की स्वयं से जालसाज़ी का यही विचित्र रहस्य है, आशय है।

"व्यवस्था के शोषण के नाभिनाल से बँधे कवि, अपने ही हत्यारे बनते जा रहे हैं।

प्रेमचन्द इस देश के पहले समाजवादी हैं।

बौद्धिक कैंची ने उन आदमियों के दिमाग़ के जंगली पौधों को सुरुचिपूर्ण आकार नहीं दिया है.......मन के भीतर ज्ञान की जो रचना होती है, जो एक व्यवस्था होती है, जो एक विशेष व्यवस्था होती है, उस ज्ञान व्यवस्था का उन लोगों आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी या डॉ. नगेन्द्र में अभाव है। इस ज्ञान व्यवस्था को विकसित करते रहने के बजाय, इन लोगों ने संभवत. अपने दिमाग़ को विशेष प्रकार की जानकारियों का कबाड़खाना बना रखा है। फलतः नए-पुराने आलोचकों का ज्ञान जानकारी बन कर रह गया है, प्रतीति और विचार बन कर संचार नहीं करता। ज्ञान उनके व्यक्तित्व और चरित्र के संगठन में योग नहीं देता, विश्व के विभिन्न प्रश्नों से अछूता रह जाता है।

हर आदमी खास कर आलोचक अपनी प्राइवेट ज़िन्दगी जी रहा है।

प्रसिद्ध हंगेरियन पंडित आलोचक लुकाच ने क्लासिकल उपन्यास की दृष्टि से नए सोवियत साहित्य की आलोचना की थी....... लुकाच नवीन सोवियत-साहित्य का मर्म ग्रहण नहीं कर सके।

"सौन्दर्य-शास्त्र"....... एक मूल्य शास्त्र है। चूँकि हमारे जीवन की प्रधान दिशाएँ और तत्सम्बन्धी जिज्ञासाएँ विभिन्न युगों में बदलती रही हैं और बदलती रहेंगी, इसलिए इस शास्त्र का वैसा विकास नहीं हो सका।

सौन्दर्य शास्त्र, नैतिकशास्त्र आदि मूल्य-शास्त्र होने के कारण वे मुख्यतः सिद्धान्त-प्रणालियों के समवाय के रूप में प्रस्तुत होते हैं [illegible] निर्णय का भार हम पर ही रह जाता है।

हम कलात्मकता के उन समर्थकों के साथ हैं जो वस्तुतः समर्पित भाव से जनता में से आए हुए लेखकों के कलात्मक स्तर को ऊँचा उठाने की तत्पर बुद्धि रखते हों.........किन्तु हम कलात्मकता के उन समर्थकों के विरुद्ध हैं जो जनता में से आए हुए लेखकों की अपेक्षित अपरिपक्वता का निदर्शन-प्रदर्शन केवल इसलिए करते है कि उनके साहित्यिक शिखरवाद को अर्थात् व्यक्तिवादी सांस्कृतिकता की रक्षा हो। साहित्य क्षेत्र में सौन्दर्यवाद और कलात्मकता की ऐसी प्रवृत्ति रही है जिसने लेखकों को.........सामान्य जनसमुदाय से अलग कर दिया है।

किसी प्रवृत्ति की औचित्य स्थापना के हेतु जिस सौन्दर्यशास्त्र का जन्म होता है वह सिद्धान्त उस प्रवृत्ति के ह्रास के साथ ही निर्बल हो जाता है.........फलतः जिसे हम सौन्दर्य कहते हैं, उसमें कुछ लोग अपूर्णता या एकांगिता तथा बाधाग्रस्तता देखते हैं और वे जिसे सौन्दर्य कहते हैं, उनमे हमें खोखलापन की बू आती है।

भारतीय मन की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। वह साहित्य को अपने आत्मीय परमप्रिय मित्र की भांति देखना चाहता है जो रास्ते चलते समय बात कर सके, सलाह दे सके, काट छांट कर सके, प्रेरित कर सके और मार्गदर्शन कर सके। भारतीय साहित्य में उन लोगों की वाणी को ही प्रधानता मिली है, जिन्होने आध्यात्मिक असतोषों और अतृप्तियों को दूर करने की दिशा में विवेक-वेदना से ग्रस्त होकर काम किया है.........मेरे आलोचक ने टोका—

रचना प्रक्रिया यह तुम्हारे कवि की थियोरी है। इस मानसिक बुनावट का कवि जटिल होता है, जैसे तुम हो। इसीलिए अक्सर समाजशास्त्री समीक्षक की एकांगिता का विवेचन करते हुए तुम्हारा कवि-आलोचक मनोवैज्ञानिक दृष्टि पर ही जोर दिया करता है।

मेरा अनुभव है वास्तविक-जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा-शक्ति के अभाव में साहित्य-समीक्षा का बुरा हाल होता है रोम्या रोलाँ के प्रसिद्ध उपन्यास ज्योक्रिस्तोफ के अन्तर्गत दार्शनिक मनःस्थिति में लिखे गए प्रदीर्घ जीवन-आलोचनात्मक खंडों को निकाल देने की सलाह देने वाले समीक्षकों की कमी नहीं रही, रामविलास शर्मा खैर मनाओ, हिन्दी में तुम्हारी दार्शनिक कविता की खबर नही ली लेते तो वह भी तुम्हारी महाकाव्यात्मक कविताओं की प्रदीर्घ जीवन आलोचनात्मक खण्डों को निकालने की सलाह देते। यह अच्छा हुआ, तुमने उनकी नेतागिरी का लोहा नही माना। वह भी समाज-शास्त्री-समीक्षा के शिखर पर जमे रहे।

हिन्दी का छायावाद से नयी कविता या नयी कहानी तक आता साहित्य-सृजन क्यों संकट ग्रस्त था ? क्योंकि वहां ह्रास-ग्रस्तता की प्रवृत्ति बढी है। मोपांसा तक आते आते फ्रेंच-साहित्य भी ह्रासग्रस्त होगया था। ठीक उसी प्रकार समीक्षा ने भी, हिन्दी और फ्रांसीसी भाषा में ह्रासकालीन चौखटों के मूल्यों की वकालत शुरू कर दी थी। वस्तुसत्यों के मानवीय महत्व का लोप होकर""" रूप की सराहना होने लगी।

ह्रासकालीन समीक्षक एक ओर आधुनिकतावाद के नाम पर बाहर की उखड़ी हुई मान्यता को 'नये' नाम पर हिन्दी में शुरू करता है, दूसरी ओर इतिहास या मार्क्सवाद से अलग हट कर नये रीतिवाद की खोज करता है। समीक्षक जब ह्रास-कालीन जीवन मूल्यों की वकालत करने लगते है, तब रूप के नाम पर भी एक विशेष प्रकार के रूप का ही समर्थन किया जाता है।

चिंतन के धरातल पर हिन्दी में यही हो रहा है। आलोचक की सौन्दर्य मीमांसा का प्रश्न, विश्लेषण और निष्कर्ष की बौद्धिक क्रियाऐं, रचनाकार का अनादर करती हैं। रचनाकार की आधुनिक-सौन्दर्य-अनुभूति, आलोचक के समाजशास्त्र या काव्यशास्त्र में अनफिट रह जाती हैं""""असल में आलोचक बौद्धिक क्षेत्र में आलोचक में जो ठंडापन है, उसके फलस्वरूप कवि और आलोचक के बीच की दूरी, दूरी का सतत भान और उस भान के बावजूद दोनों में नैकट्य—परस्पर घनिष्ठता और इसके विपरीत, दूरी के उस भान के कारण मेरे मन में आलोचक के विरुद्ध एक झख मारती हुई खीझ और चिड़चिड़ापन, इन सब बातों से मेरे अन्तःकरण में, आलोचक से मेरे कविसम्बन्धों की रचना विषम होती जा रही है।

कम्यूनिज्म के अन्दर मतभेदों की सक्रियता का उद्देश्य दूरगामी है। अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट संस्थाओं में रूस का ही नेतृत्व क्यों बरक़रार रहे ? क्यों इसके ही नियुक्त किए हुए 'मुखिया' उन संस्थाओं में "आका" बने रहें ? लेनिन ने अर्थ-वाद के नाम पर ट्रेड यूनियनों में "जमे" हुए नेताओं की इसीलिए आलोचना की थी। उनकी आलोचना का आधार था, संस्थाओं में किसी न किसी तरह जमा रहने वाले लोग क्रांति विरोधी हो जाते हैं""" वे नहीं चाहते थे कि दुनिया के पिछड़े या गरीब या गुलाम देशों में क्रांति हो।[1] ☐ डॉ. मञ्जुल उपाध्याय

---

1. चयन, "मुक्तिबोध की आत्मकथा" श्री विष्णुचन्द्र शर्मा, राधाकृष्ण-प्रकाशन 1984 से साभार। संग्रहकर्ता—डॉ. मञ्जुल उपाध्याय

शिवदानसिंह चौहान–आलोचनात्मक अवलोकन

—गोपाल कृष्ण कौल

दिनाङ्क 13–5–84 को दिल्ली के एक मद्रासी–अल्पाहार–आलय में प्रगतिवादी आलोचना के प्रवर्त्तक और विख्यात चिंतक श्री शिवदान सिंह चौहान और "आलोचना" पत्रिका के भूतपूर्व सह-सम्पादक तथा साहित्यिक गतिविधियों के प्रसिद्ध आयोजक, कवि और आकाशवाणी के अवकाशप्राप्त 'प्रोड्यूसर' तथा लेखक श्री गोपाल कृष्ण कौल से आलोचनात्मक-वार्तालाप हुआ।

इस अवसर पर, समकालीन लेखक और कवि डॉ. विनय भी उपस्थित थे।

आपके किस लेख से, हिन्दी में प्रगतिवादी आलोचना का शुभारम्भ हुआ ?

शिवदान सिंह चौहान : 1937 ई. में "भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता" शीर्षक मेरा लेख "विशाल भारत" में छपा था। इसी से बहस शुरू हुई। यह 'प्रगतिवाद' पर प्रथम निबन्ध था। इसके पूर्व सिर्फ प्रेमचन्द ने 1936 में 'प्रगतिशील लेखक सम्मेलन' का अध्यक्षीय वक्तव्य दिया था पर उसमें मार्क्सवादी आधार भूमि नहीं थी।

डॉ. रामविलास शर्मा ने तत्कालीन पार्टी सचिव (सी. पी. आई.) से कहा था कि वह निबन्ध (प्रस्तावित निबन्ध-संग्रह) नहीं छपना चाहिए क्योंकि उसमें निरालाजी की कुछ कविताओं की आलोचना थी।

संगठन-संयोजन कार्य भी तो आपने किया होगा ?

चौहान : इलाहाबाद में, 1935 ई. में, मैं लेखकीय गतिविधियों का संयोजक बनाया गया था। 1938 में लखनऊ में होने वाले, हिन्दी-उर्दू-लेखक-सम्मेलन में, हिन्दी के लिए मैं और उर्दू के लिए प्रो. एहतशाम हुसैन मन्त्री चुने गये थे। मैं 1942 में जेल जाने के पूर्व तक मन्त्री बना रहा। जेल में रहने की अवधि में डॉ. रामविलास शर्मा को स्थानापन्न मन्त्री बनाया गया था।

आपको जेल में क्यों भेजा गया ?

चौहान : मैं 1936 से "छात्र समिति (Student's Association) का सामान्य सचिव (General Secretary) था। इसी वर्ष All India Student's Federation की नींव पड़ी। इलाहाबाद में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उद्घाटन किया था और मोहम्मद अली जिन्ना ने अध्यक्षता की थी।

हमें खुशी यह थी कि हमने दोनो, देशनियतिनिर्धारक नेताओं को एक मंच पर एकत्र किया। नेहरूजी तो साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित ही थे, तब जिन्ना साहेब भी, साम्यवाद से सहानुभूति रखने वाले मंचों, संगठनों से गुरेज नहीं करते थे।

क्या आपको प्रगतिवाद का प्रवर्तक कहा जा सकता है ?

चौहान : 1930 में, पाँच छात्रों की एक अनौपचारिक संस्था बनाई थी। श्री महादेव नारायण टण्डन, श्री राधेश्याम चोपड़ा, राजवल्लभ ओझा (प्रसिद्ध पत्रकार) तथा मैं था। पंचम साथी का नाम भूल रहा हूँ। यह एक अध्ययन चक्र था। हम मार्क्सवाद की पुस्तकें पढ़ते थे—लगभग 500 पुस्तकें एकत्र कर लीं थी। प्रतिमास एक हस्तलिखित पत्रिका निकालते थे। टण्डन अंग्रेजी में और मैं हिन्दी में लिखा करता था। हम स्वतन्त्र भारत के लिए नई सामाजिक संरचना के हेतु आर्थिक-सामाजिक योजना बनाया करते थे कि सहयोगी उत्पादन—कृषि-उद्योगादि, इस तरह होगा, इस तरह वितरण होगा—वगैरह) ''' '''सोवियत रूस में 1934 में, लेखक सम्मेलन हुआ था, जिसकी अध्यक्षता गोर्की ने की थी। मैंने उनके विचार पढ़े। अमेरिका में भी "सर्वहारा लेखक सम्मेलन" हुआ था, उसमें व्यक्त विचारों से भी मैं अवगत हुआ। सिडनी वेब और पीटर्स वेब की पुस्तकें भी पढ़ीं, बर्नार्ड शॉ की पुस्तकों के सिवा, उस वक्त सोवियत यूनियन से, International Literature निकलता था '''''''उस वक्त मुख्य प्रश्न फासीवाद—फासिज्म से लड़ने का था। वही पृष्ठ भूमि थी, जिसके बल पर मैंने "भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता पर लेख लिखा था। आप चाहें तो हिन्दी में इसे प्रगतिवाद का प्रवर्त्तन कह सकते हैं। रचनाएं तो पहले से लिखी जा रहीं थीं पर मार्क्सवादी-सैद्धान्तिक आधार पर लिखी आलोचना का यह शायद प्रथम नमूना था और इस पर संवाद-विवाद भी चला।

आपने "प्रगतिवाद" शब्द का प्रयोग अपने निबन्ध के शीर्षक में क्यों नहीं किया ?

चौहान : प्रगति का मार्क्सवादी सिद्धान्त या वाद, साहित्य के लिए प्रेरक तो हो सकता है, हुआ भी परन्तु साहित्य "वाद" का प्रतिफलन होता नहीं हैं अतः "प्रगतिशील" शब्द मुझे अधिक व्यापक और सार्थक लगा। फिर "प्रगतिशील साहित्य" और सगठन मे ऐसे भी लेखकों की गुन्जायश थी और होनी चाहिए जो प्रगतिवादी या मार्क्सवादी तो नहीं हैं परन्तु साम्राज्यवाद, जातिवाद, वर्णवाद, साम्प्रदायिकता""""के विरोधी है। "प्रगतिशील" शब्द मे ऐसे सभी मानववादी : लेखकों की भागीदारी हो सकती थी। इसलिए मेरी समझ में, "प्रगतिशील" शब्द सटीक है।

परन्तु आपने, एक पुस्तक "प्रगतिवाद" नाम से लिखी है ?

चौहान : यह सही है। जहाँ मैं द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद या वैज्ञानिक भौतिकवाद को समझाना चाहता हूँ, उसकी दृष्टि से चीजों : प्रक्रियाओं : इतिहास और समाज को समझाना चाहता हूँ, वहीं मैंने "प्रगतिवाद" शब्द का ही प्रयोग किया है। मैं तो "प्रगतिवादी" ही था और हूँ न, अतएव मैंने अपने एक निबन्ध संग्रह का नाम "प्रगतिवाद" रखा। किन्तु जहाँ गैर मार्क्सवादी लेखक भी सक्रिय हों, वहाँ "प्रगतिशील" शब्द का प्रयोग ही मुझे ठीक लगा। साहित्य और संगठन को केवल "प्रगतिवादी" लेखकों तक सीमित नहीं किया जाना चाहिए।

साहित्य में "प्रगतिशील" ही होगा, सिद्धान्त से तो साहित्य बनता नहीं। फिर हम, साहित्य की समझ के लिए, 'सामाजिक-यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग करते थे क्योंकि गैर प्रगतिवादी लेखकों के लेखन में भी सामाजिक-यथार्थ का प्रतिबिम्बन मिलता है, बाल्ज़ाक, तोलस्तोय, ज़ोला, शेक्सपियर आदि अनेक उदाहरण हैं। अतएव हमें, साहित्य और संगठन में, सभी मानववादियों (Humanists) को साथ लाना चाहिए, उन्हें अपनाना चाहिए, अन्यथा हम अलग-थलग पड़ जायेंगे जैसा कि संकीर्णतावादी-साथियों के दुराग्रह से हो रहा है।

मैंने केवल, प्रगतिवादी या मार्क्सवादी दृष्टिकोण ही नहीं रखा बल्कि सामान्य मार्क्सवादी विश्व बोध के सिवा, सौन्दर्य की भी व्याख्या की अतः, मैंने 1937-38 में "हिन्दी काव्य में सौन्दर्यभावना" पर लिखा। यह लेख "प्रभा" में प्रकाशित हुआ था, जिसका मैं तब सम्पादक था।

श्री सज्जाद ज़हीर और मैं, 'प्रभा' में काम करते थे। बन्ने भाई (सज्जाद ज़हीर) और मेरे सम्पादन में, "नया हिन्दुस्तान" निकाला। सी. पी. आई. के New Age के पूर्व, हमारा यह पत्र प्रकाशित होता था। यह साप्ताहिक था।

इसका मैं सम्पादन करता था और श्री हर्षदेव मालवीय, श्री रमेश सिन्हा वगैरह सहयोग करते थे। हमने इसका "नेपाल" अंक निकाला (1939) जो ज़ब्त हो गया। बाद में, द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण बन्द होगया, मैं बीमार पड़ गया। ......मैं पार्टी का सदस्य था। अतः पुलिस तलाशी लेती रहती थी। तब भारतीय साम्यवादी दल (सी. पी. आई.) भूमिगत थी। मैं दल के संदेश को, जवाहरलाल नेहरू आदि बड़े नेताओं तक पहुँचाया करता था। उस समय आर. डी. भारद्वाज पार्टी की केन्द्रीय समिति के प्रतिनिधि थे। इन्हीं की मृत्यु पर शमशेर बहादुर सिंह ने कविता लिखी थी।

मैंने श्री अमृतराय के द्वारा आमंत्रित होने पर "हंस" का सम्पादन कार्य भार भी सम्हाला। 1938 में "छायावादी कविता में असंतोष भावना", "सुमित्रा नन्दन पन्त", "भारतीय जन नाट्य शाला" शीर्षक लेख लिखे। सुमित्रा नन्दन पन्त हमारे आन्दोलन और संगठन के बहुत निकट आ गये थे। उनके घर पर हमारी गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। पन्त जी की "ग्राम्या" और "युगवाणी" पर मैंने लिखा और उनकी प्रगतिशीलता को पहचाना। बाद में, संकीर्णतावादियों ने पन्त जी और उनके लेखन पर हमले किए। वे यह भूल गये कि पन्त जी और नरेन्द्र शर्मा ने "रूपाभ" पत्र निकाला था, जिसमें प्रगतिशील साहित्य और मूल्यों का समर्थन होता था। इसी पत्र में शमशेर और केदार के "प्रयोग" छपते थे। अज्ञेय की प्रयोगशील, "तारसप्तक" के पूर्व, "रूपाभ" में, प्रगतिशील रचनाएं छप रही थीं पर आलोचक, अध्यापक, और इतिहासकार, "रूपाभ" और, पन्त जी की प्रगतिशील-प्रयोगशील भूमिका को ही भूल जाते हैं और सारा श्रेय "अज्ञेय" को दे जाते है। यह इसलिए भी हुआ क्योंकि हमारे ही प्रगतिवादी साथी आलोचक, कुत्सित समाजशास्त्र के प्रभाव में पड़कर, पन्त जी और "रूपाभ" का अवमूल्यन करते है अतः सारा श्रेय अज्ञेय को मिल गया।

——अज्ञेय जी ने तब "आधुनिक हिन्दी साहित्य" के लिए मुझसे, "छाया-वादी कविता में असंतोष भावना" माँगा था। वह लेख उन्होंने छापा था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी इस पुस्तक से सम्बन्धित थे। उन्होंने समझा कि यह शिवदान सिंह कोई छात्र होगा पर जब लेख छप गया तो द्विवेदी जी ने, मेरे लेख को सबसे अच्छा बताकर बहुत प्रशंसा की थी।

मैंने, पन्त जी के "रूपाभ" में मजदूर बस्तियों पर एक रिपोर्ताज़ भी लिखा था। बाद में तो अनेक रिपोर्ताज़ लिखे गए, जिनमें रांगेयराघव के, बंगाल के अकाल पर रिपोर्ताज़ बहुत प्रभावक माने गए।

"" " नरेन्द्र शर्मा, डॉ. रामविलास शर्मा के विषय में बताया करते थे। 1938 में मुलाकात हुई। लखनऊ-कांफ्रेन्स में हम मिले। मुझे डॉ. शर्मा, घर ले गए। निराला जी से भी मिलवाया। निराला जी ने एक बार मुझसे कहा कि मैं भी प्रगतिशील हूँ। मैं बहुत लज्जित हुआ क्योंकि मैंने अपने प्रथम लेख में (विशाल-भारत) उनकी कुछ कविताओं पर कटाक्ष किया था। निराला के उपालम्भ के बाद मैंने फिर वह लेख संग्रह में नहीं दिया।

"""उस समय साम्यवादी नेता, कार्यकर्ता और पार्टी, जवाहरलाल नेहरू को बहुत निकट मानती थी क्योंकि नेहरू जी, साम्यवाद/समाजवाद को, भारत में सृजनात्मक विधि से प्रयुक्त करना चाहते थे अतः बहुत से साथी सोचते थे और मैं भी ऐसा ही सोचता था कि कांग्रेस-आन्दोलन और संगठन को, सामाजिक परिवर्त्तन का माध्यम बनाया जाय। अखिल भारतीय कांग्रेस पार्टी एक ऐतिहासिक प्रभामण्डल लिए हुए, बड़ी शक्ति थी।

क्या आप आज भी यह मानते हैं कि कांग्रेस यानी शासकीय दल को, जिसका चरित्र वह नहीं रहा जो स्वाधीनता संघर्षकाल में था, समाजवादी परिवर्त्तन का माध्यम बनाया जा सकता है या उसे माध्यम बनाने का प्रयत्न करना चाहिए ?

चौहान : साम्यवादी शक्तियाँ, दल और अन्य मञ्च और मोर्चे (Front Organisations) कमजोर हैं, मुख्यधारा अभी भी कांग्रेस ही है अतः मैं तो यह जानता हूँ कि अभी भी उसका रुख, साम्राज्यवाद विरोधी है और वह समाजवादी शिविर के निकट आती गई है, आती जा रही है। ऐसे में, उस विपक्ष से, वह प्रगतिशील, व्यापक जनाधार वाली पार्टी है जो साम्राज्यवादी अमेरिका और उसकी समर्थक पश्चिमी शक्तियों के पक्षधर हैं। मैं ऐसे पूँजीवादी-साम्राज्यवादी देशों के पक्षधर और सोवियत रूस विरोधी साम्यवाद विरोधी विपक्ष के साथ मिलकर, "क्रांति" की कल्पना को 'आत्मघात' मानता हूँ। आप देखिएगा कि वर्तमान कार्य नीति असफल हो जायगी। अतः साहित्य में, अंध व्यवस्था विरोध, विद्रोह, क्रांति आदि शब्दों के प्रयोग के पूर्व हमें यह सोचना चाहिए कि शासक दल और विपक्ष दलों में, कौन अधिक समाजवादोन्मुख समाज के निर्माण का माध्यम बन सकता है।

आप नेहरू जी की प्रगतिशील भूमिका बता रहे थे। उसे कृपया बताइये। उससे कांग्रेस के भीतर, प्रगतिशील तत्वों की भूमिका समझने में मदद मिलेगी।

चौहान : 1927–29 की अवधि में श्री जवाहरलाल नेहरू की सहायता से

भारतीय साम्यवादी आन्दोलन और पार्टी को बल मिला था। एम. एन. राय और उनके अनुगामी तो विरोधी थे। वे कांग्रेस को पूँजीवादी पार्टी मानते थे। याद रहे, लेनिन ने एम. एन. रॉय के मत को नहीं माना था। लेनिन ने साफ़ समझा था कि अखिल भारतीय कांग्रेस की भूमिका, साम्राज्यवाद विरोधी है अतः उसे ख़ारिज नहीं किया जा सकता।

आज तक मतभेद चला आ रहा है कि कांग्रेस के साथ सहयोग करें या विरोध करें ?

मेरा मत है कि कांग्रेस के "प्रगतिशील" व्यक्तियों को प्रतिक्रियावादियों से पृथक कर, सहमति के बिन्दुओं पर, हमें पार्टी को सहयोग देना चाहिए जैसा कि "नेहरू काल में" था।

द्वितीय विश्व युद्ध में, पार्टी और 'प्रगतिशीलों' की भूमिका के विषय में बहुत भ्रम फैलाए जा रहे हैं। आपने 'धर्मयुग' और 'इलस्ट्रेटिड वीकली' में, अरुण शौरी के साम्राज्यवाद विरोधी तथ्यों के तोड़-मरोड़क लेखों को देखा होगा।

चौहान : साम्यवाद के पेशेवर विरोधियों की परवाह न कर हमें तथ्य और परिस्थिति समझनी चाहिये। 1939 मे विश्व युद्ध शुरू हुआ। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया। साम्यवादी दल ने इसका विरोध किया। यह तब 'जन-क्रांति' चाहते थे, जनता प्रस्तुत थी। अब आप ही बताइए, साम्यवादी देशद्रोही थे या जननिष्ठ वफ़ादार ?

------1943 में रूस पर जर्मन हमले के बाद विश्वयुद्ध का चरित्र बदल गया, यह बोध भारतीय साम्यवादी दल को ही नहीं हुआ था, बल्कि नेहरू जैसे प्रगतिशीलों को भी हुआ था।

------आख़िर शोषित जनता के एक मात्र गढ़ सोवियत यूनियन को बचाना देशद्रोह क्यों था ? हमारे देश की जनता की नियति भी तो, समाजवादी क्रांति से जुड़ी हुई है। साम्यवादी कहते थे कि रूस पर हमला हो जाने की स्थिति में हमें अंग्रेजों को बिना शर्त समर्थन देना चाहिए– जबकि कांग्रेस का मत था कि मित्र राष्ट्रों का समर्थन तो हो पर अंगरेज़ हमें आजादी दें और पूर्णस्वतन्त्रता का वचन दें। बस यही मतभेद था। इसे न समझ कर, कार्य नीति को रणनीति मान लेने पर, उस परिस्थिति में आए अन्तर को न देख कर, साम्यवादी दल को, देशद्रोही कहना 'देशद्रोह' है और जनद्रोह भी है।

आपकी भूमिका उस समय क्या रही ?

1942 में, मैं बनारस की साम्यवादी पार्टी का सचिव था। 'दमन बन्द करो', 'नेताओं को छोड़ो', इस आशय के पैम्फलेट लिखे थे। मैं जेल में बन्द कर दिया गया। मुकदमा चला पर 1 वर्ष बाद रिहा कर दिया गया। बनारस की जेल मे तब श्री सम्पूर्णानन्द, श्री प्रकाश, नरेन्द्र देव आचार्य भी थे। श्री राजनारायण भी थे जो फासिस्टों की तरह सोवियत रूस की हार पर खुशियां मनाया करते थे। कांग्रेसी, फासिस्ट जर्मनी द्वारा सोवियत रूस की पराजय पर दुःखी होते थे, यह याद रखना चाहिए।

——मैं बीमार होगया। जेल से मुक्त होने पर 'प्रेमचन्द-प्रकादमी' पर विचार दिया। अकाल पर 'मरने दो' एकांकी लिखा। 'हंस' का अकाल अङ्क निकाला।

परन्तु अमृतराय के भाई चाहते थे कि 'हंस' के सम्पादन से मुझको अलग कर दिया जाए, ऐसा अमृतराय जी ने मुझसे कहा था। मैं छोड़ कर चला आया। 1944 में, लखनऊ की पार्टी के केन्द्र पर आ गया। वहां कुछ साथियों ने प्रचार किया कि मैं 'व्यक्तिवादी' हूं तथापि पार्टी के परामर्श पर, 'हंस' के सम्पादन मण्डल मे, मेरा और डा. रामविलास शर्मा का नाम जाने लगा।

1945-46 में डा. राम विलास शर्मा की प्रेमचन्द और भारतेन्दु पर पुस्तकें निकली। उनमें भारतेन्दु को शेक्सपियर से और प्रेमचन्द को गोर्की से बड़ा सिद्ध किया गया था। यही नहीं, उस वक्त अमृतराय जी कहा करते थे कि 'झण्डा. ऊंचा रहे हमारा' साहित्यिक गीत है। यानी इस झण्डागीत को ललित साहित्य माना जाना चाहिए।

मुझे इस प्रकार के कथन कुत्सितसमाजशास्त्रीय लगे। 'साहित्य की परख' में मैंने डॉ. रामविलास जी और अमृतराय के उक्त कथन पर प्रहार किया। उस समय सोवियत रूस में भी 'कुत्सितसमाजशास्त्र' को एक्सपोज़ किया जा रहा था।

—''' बाद में डॉ. रामविलास शर्मा ने, द्वितीय संस्करण में उक्त पुस्तकों में से वे अंश निकाल दिए, जिनमें भारतेन्दु को शेक्सपियर और प्रेमचन्द को गोर्की से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया था।

——1946 मे, दिल्ली आकर मैंने 'प्रगतिशील लेखक संघ' की शाखा स्थापित की। प्रगतिवाद पर मेरी पुस्तक छपी। काश्मीरी कवि 'महजूर' पर मेरे लेख की डॉ. मोहम्मद अशरफ़ ने बहुत प्रशंसा की थी।

मैंने शरणार्थियों के लिए किंग्स वे कैम्प कायम किया। शरणार्थियों को बसाया। उसी समय काश्मीर पर हमला हो गया। मैं लेखकों का एक प्रतिनिधि-

मण्डल, काश्मीर ले गया। उसमें श्री विष्णु प्रभाकर, रामानन्द सागर, राजेन्द्र सिंह बेदी, रामचन्द्र तिवारी, ख्वाजा अहमद अब्बास आदि थे। हम, शेख अब्दुल्ला, जवाहर लाल नेहरू से मिले।

नादिक साहब तथा डी. पी. दर के कहने पर मैं काश्मीर में ही रह गया। उन्होंने मिलीशिया–जनसेना का कार्यभार चौधरी शेरजंग (प्रसिद्ध क्रांतिकारी) को सौंपा और मुझे 'सांस्कृतिक मोर्चे' का सचिव बना दिया।

1947–51 तक मैंने काश्मीर में काम किया। नाटक शाखा, संगीत शाखा, चित्रकार-शाखा तथा लेखकों का सगठन बनाया, प्रशिक्षण दिया। लगभग पाँच लाख लोगों को नाटक दिखाए। राजकमल प्रकाशन के ओमप्रकाश जी के कहने पर मैंने "काश्मीर देश और संस्कृति" पर पुस्तक लिखी। मैंने कई दर्जन व्यक्ति पार्टी में भरती कराए, इनमें रहमान राही, नादिम वगैरह लेखक भी थे।

साहित्य और संगठन में, मैं संकीर्णता का समर्थक कभी नहीं रहा यों सैद्धान्तिक स्तर पर मैं लगातार दृढ़ रहा। कुत्सित समाज शास्त्र का प्रभाव तब बहुतों पर था। एक बैठक में गोर्की की कविता, 'मृत्यु तथा कुमारी "Death and Maiden, का अनुवाद पढ़वाया तो कुत्सित समाजशास्त्र से प्रभावित साथियों ने इस कविता की निन्दा की कि यह कविता, पथ भ्रष्ट करने वाली है। प्रेम और रोमांस की बातें बूर्ज्वा बातें हैं। जब मैंने बताया कि यह कविता गोर्की की है और स्तालिन ने इसकी प्रशंसा की है, तो वे साथी भड़क उठे कि पहले क्यों नहीं बताया?

दरअसल, 1948 से कामरेड रणदिवे के नेतृत्वकाल में, कुत्सित समाजशास्त्र का प्रभाव बढ़ने लगा था। रणदिवे के अनुगामी, नेहरू को चांगकाई शेक कहते थे। उन्होंने, असामयिक तेलंगाना विद्रोह कर दिया। उन्होंने शेख अब्दुल्ला को भी प्रतिक्रियावादी कहा। मैं इस रुझान का तब भी विरोधी था और आज भी विरोधी हूँ। यह याद रहे कि रणदिवे के अनुगामी (सी. पी. एम.) आज भी, वही संकीर्णतावादी नीति अपना कर, कांग्रेस की प्रगतिशील नीतियों को भी पसंद नहीं कर पाते और सम्प्रदायवादियों से मिल कर भी वे कांग्रेस को अपदस्थ करना चाहते है।

रणदिवे का अनुगमन करते हुए, डॉ. रामविलास शर्मा ने, एक लेख में नारा दिया कि शिवदानसिंह चौहान के प्रभाव को नष्ट करो और यह कि राहुल, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि टीटोवादी हैं। डॉ. शर्मा ने, सभी प्रमुख साथी लेखकों और आलोचकों को, अपनी अनुदार नीति से, denounce

किया और प्रगतिशील लेखक आन्दोलन को कमज़ोर किया।

.........डॉ. रामविलास शर्मा के लेख से मुझे क्लेश हुआ। मुझे लगा कि, इस तरह तो लेखक आन्दोलन और संगठन ही बिखर जायगा और बाद में यही हुआ भी। बहरहाल, मैंने 'मानव आत्मा के शिल्पियों से' शीर्षक लेख में यह कहा कि यह फासिज्म है। यह लेख, चम्पालाल रांका के सम्पादन में, 'नई चेतना' (बीकानेर) में छपा था।

संगठन में डा. शर्मा के इस रुख का विरोध किसने किया था ?

गोपाल कृष्ण कौल—यह कार्य मैंने किया था। शायद 1952-53 में, दिल्ली में, अप्रैल में प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन हुआ था। उसमें डॉ. शर्मा ने मन्त्री की हैसियत से, जो रिपोर्ट प्रस्तुत की, उसमें गतिविधियों का उल्लेख नहीं था, लेखकों को उपदेश दिए गए थे। अतः मैंने कहा कि रामविलास जी ने, कार्यकारिणी की समिति नहीं बुलाई, कोई काम नहीं किया, गतिविधियों का आकलन नहीं किया, अतएव यह रपट ही नहीं है। सरदार जाफ़री के समर्थन के बावजूद रपट रद्द होगई। बाद में डॉ. शर्मा ने पद से त्याग पत्र दे दिया।

मैंने यह भी कहा कि प्रगतिशील लेखक संघ को पार्टी की दासता से मुक्त करो क्योंकि पार्टी की नीति बदलती रहती है। लेखक बदलती कार्यनीति के साथ, यह बुनियादी रुख नहीं बदल सकते कि हमें सामन्ती-पूंजीवादी-व्यवस्था का विरोध कर मार्क्सवादी चेतना और मूल्यों को स्थापित करते रहना है।

चौहान : तब से डॉ. रामविलास शर्मा हम लोगों से नाराज़ हो गए। उन्होंने मेरे विरुद्ध लेख लिखे, लिखवाए। संगठन और विचार धारात्मक व्याख्याओं में जो लचीलापन, उदारता और व्यापकता थी, उसे उन्होंने कठोर संकीर्ण शास्ता का रूप धारण कर नष्ट कर दिया।

डा. रांगेय राघव ने भी तो डा. शर्मा के इस "कुत्सित समाजशास्त्र" पर प्रहार किए हैं ?

गोपाल कृष्ण कौल : डॉ. रांगेय राघव ने ही नहीं, अन्य लेखकों ने भी डॉ. शर्मा की दादागीरी का विरोध किया क्योंकि डॉ. शर्मा ने प्रगतिशील लेखकों को अपनी अनुदारता : अक्खड़पन से और ठाकुर नामवर सिंह ने अपने जातिवाद, कलावाद और अवसरवादी उदारतावाद तथा अनेकार्थवाद-एम्बीग्विटी से, प्रगतिशील लेखक आन्दोलन और संगठन की साख गिराई 'फलतः आज भी वह पूर्व गौरव को प्राप्त नहीं कर पा रहा है, जबकि देश में पूंजीवाद के अन्तर्विरोध बढ़ गए हैं और जनता की स्थिति बदतर होती गई है तथापि प्रगतिशील लेखक संगठन, उक्त दोनों अतियों का शिकार हो रहा है।

प्रगतिशील लेखक संघ के कई लोग इन अन्तर्विरोधों से परिचित हैं पर फिर भी इन्हें मार्क्सवादी माना जाता है ?

कौल : मार्क्सवाद अपने में सैद्धान्तिक-सूत्रों का एक विशाल भण्डार है। अवसरवादी और अनेकार्थवादी अपने और अपने गुट को बढ़ाने, व्यवस्था और पूंजीपतियों से फ़ायदा उठाने, पार्टी द्वारा सोवियत रूस की यात्राओं पर जाने-भिजवाने, प्रगतिशील संस्थाओं में वर्चस्व प्राप्त करने, प्रकाशकों के एजेण्ट बनकर उनकी बिक्री बढ़वाने और अपने चमचों की किताबें छपवाने, जननिष्ठ सच्चे स्वाभिमानी लेखकों का नाम न लेने और अपनी जाति या गुटके लेखकों को उछालने—यह एक पूरी, मनमानियों की कहानी है, जो प्रगतिशील संगठन के इन सड़े हुए नेतानुमा आलोचकों के दुर्व्यहार के प्रति घृणा उपजाता है''' आखिर लेखक, इन उपेक्षकों, आलुंचकों और गुट्टी भिड़ाऊ दादाओं की अशिष्टताएं क्यों सहें ?

—''''''जनवादी लेखक संघ इस कारण भी बना कि प्रगतिशील लेखक संगठन का निष्क्रिय नेतृत्व, प्रपंची आलोचकों की दादागीरी और सत्तापरस्ती भी पृथक संगठन के मूल में थी।

कौल जी, क्या इन दोनों संगठनों के पृथक्त्व का कोई सैद्धान्तिक आधार है ?

कौल : कोई नहीं। पृथकता का आधार, नए राजनैतिक दल (सी.पी.एम.) का निर्माण है जो अधिक लड़ाकू है। सी. पी. आई. से जुड़े लेखक संगठन (प्रगतिशील) में तो, "साहबी साम्यवाद", जिसमें प्यूडल-बिहेविअर—सामंती व्यवहार भी मिला हुआ है और भीतरी दाव घात बहुत हैं। मन्त्री, भीष्म साहनी, एक अभिमानी लेखक से नहीं, एक आई० ए० एस, अफसर से, चिकने—नम्र—राजदूतनुमा—डिप्लोमेटिक से लगते हैं, वह कभी सत्ता और व्यवस्था से नहीं टकराते और जो टकराते हैं, उन्हें वे महत्त्व नहीं देते। वह पार्टी के वफ़ादार सदस्य हैं और पार्टी के कार्यवाहक की तरह काम करते है, स्वतन्त्र-स्वाभिमानी-तीखे-लेखक की तरह नहीं। अतः लेखक बिदक कर, जनवादी लेखक संगठन की ओर खिसक रहे है। वे लड़ते तो हैं व्यवस्था और सत्ता से, उनके उतने निहित स्वार्थ भी नहीं है अभी, साफ़गोई भी है ''''''।

जनवादियों के भी अन्तर्विरोध आपकी वेधक और तीखी नज़र में आए होंगे ?

सिद्धान्ततः कोई अन्तर नहीं, कार्यनीति भिन्न है लेकिन वहाँ भी, अनेकार्थवादी-एम्बीग्युअस राजेन्द्र यादव हैं और वहाँ भी 'ठाकुरों' की ठसक है। मसलन्,

ठाकुर चन्द्रवलीसिंह हैं, कर्णसिंह हैं, उधर ठाकुर नामवरसिंह हैं। इन ठाकुरों की आपसी टकराहट एक सीमा तक, सामन्तवाद के अवशिष्ट संस्कारों और अहंकारों की टकराहट है। इससे बड़ी गड़बड़ी हो रही है, सामान्य लेखक विस्मित है।

आप भी तो "जनवादियों" के साथ चले गए हैं ?

कौल : मैं कहीं गया नहीं ! मैं, दोनों संगठनों में कोई बुनियादी अन्तर मानता ही नहीं पर यह सच है कि उन्होंने ढंग से बुलाया तो चला जाता हूँ, उन्होंने हमारा आदर भी किया। यहाँ प्रगतिशील ठाकुर नामवरसिंह तो हर जगह कवियों में अपने सम्बन्धी ठाकुर केदारनाथ सिंह और कथाकारों में अपने भाई ठाकुर काशीनाथ सिंह का ही नाम लेते रहते हैं। जनवादी कद्र करते हैं, यहाँ बेकद्री और उपेक्षा है तथापि मैं एक स्वतंत्र लेखक हूँ, जो प्रगतिशील और जनवादी दोनों के उत्कृष्ट कार्यक्रमों में सहयोग करता रहा हूँ और दोनों मंचों पर, साफ-साफ सत्य बोल देता हूँ। मेरा मत है कि इन संगठनों और ग्रुपों के फेर में अधिक पड़ जाने से लेखक सत्य नहीं बोल पाता और लोग तथा लेखक सच बोलने-लिखने लगें तो क्रांति हो सकती है, मिथ्यात्व, प्रपंच, फ्रॉड, गुटबाजी और मियक के शिकार अपारदर्शी, गैर सच्चे लेखक नेता या आलोचक,लेखक आंदोलन में मुख्यतः बाधक हैं और पार्टी की दखलंदाजी भी एक बड़ी बाधा है.......

चौहान जी, आपकी बात तो, समसामयिक आंदोलन के विचार में, अधूरी ही रह गई। आप बता रहे थे कि आप 1951 में काश्मीर से वापस हुए थे ?

चौहान : श्री ओमप्रकाश ने कहा कि कोई आलोचना की पत्रिका निकाली जाए। तब "आलोचना" का सम्पादन किया। मुझे, घर से राजकमल प्रकाशन तक आने जाने का खर्च मिलता था, यही कोई ५० रु. माह, बस।

मैंने, व्यापक-दृष्टि अपनाई, सभी का सहयोग लिया। तब डा. नामवर सिंह हमारे सहायक सम्पादक थे

उस समय Congress for Cultural Freedom, यानी साम्राज्यवादियों का सांस्कृतिक मोर्चा बन चुका था और स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' और पाण्ड्ये, इसके नेता थे। इन लोगों ने, साहित्य में शीतयुद्ध शुरू किया, साम्यवाद विरोध और निरपेक्ष स्ववंतता, इनका नारा था।

"आलोचना" के द्वारा, मैंने इस शीतयुद्ध का विरोध किया और प्रगतिशील परिपेक्ष्य के लिए लड़ता रहा।

अज्ञेय जी ने, श्रीमती लीलावती मुंशी (के० एम० मुंशी की पत्नी) जो, उस, वक्त राजकमल बोर्ड की अध्यक्ष थी, से कह कर, मुझे निकलवाना चाहा कि मैं साम्यवादी हूँ अतः मुझे 'आलोचना' से बाहर किया जाना चाहिए।

इस तरह मुझ से छीनकर, 'आलोचना' 'परिमल ग्रुप', इलाहाबाद को सौंप दी गई। इस गुट में, डा. धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, डा. रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा वगैरह थे। इन लोगों के सम्पादन में, जो अङ्क निकले, वे 'शीतयुद्ध' के अकाट्य प्रमाण हैं......कौल और आप यह नोटकरें कि हम शीत-युद्ध वादियों में सिरमौर, साही विजय देवनारायण से, डा. नामवरसिंह की दांत-काटी दोस्ती है और 'नयी कविता के प्रतिमान' ने नामवर सिंह ने साही के सूत्रों का ही प्रयोग किया है। जो व्यक्ति शीतयुद्धों या प्रिय है, वह प्रगतिशील लेखक आंदोलन क्या चलाएगा ?

चौहान : 'परिमल-ग्रुप' पर आलोचना के चले जाने से हंगामा होगया। रामवृक्ष बेनीपुरी ने, 'नई धारा' में हमारे पक्ष मे लिखा और विरोधी 'परमलियों' श्री जगदीश गुप्त, रघुवंश, भारती धर्मवीर, ब्रजेश्वर वर्मा आदि को 'प्रकाशकों का कुत्ता' कहा।

बाद में, आलोचना नंददुलारे वाजपेयी पर गई पर वह चला नहीं पाए तब घूम फिर कर 'आलोचना' मेरे पास आ गई।

अब शीतयुद्धकारी साम्राज्यवादी सांस्कृतिक मोर्चे के कर्त्ताधर्ताओं से अधिक भयंकर भूमिका की बात सुनिए।

डा. नामवरसिंह ने देवीशंकर अवस्थी द्वारा, 'आलोचना' और मेरे विरुद्ध लेख लिखवाए और अपने को, एक प्रचार-अभियान द्वारा मार्क्सवादी मनवाया, जबकि डा. नामवरसिंह का मार्क्सवाद और उनकी भूमिका, हमेशा संदेहास्पद रही है। वह प्रत्ययों (concepts) और प्रपचों, दोनों के मिश्रण मे निपुण हैं।

वह शीला संधू के राजकमल प्रकाशन के परामर्शदाता बनाए गए और भीतरी काट से, उन्होंने 'आलोचना' हथिया ली। मुझसे पूछा तक नहीं गया। यह अशिष्टता की हद थी।

मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह ने, मेरे विरुद्ध लेख लिखा, जिसे राजकमल प्रकाशन में 'साइक्लो' कराया गया। इस लेख मे, डा. नामवरसिंह की प्रेरणा से यह लिखवाया गया कि प्रगतिशील लेखक संघ का नाश, शिवदानसिंह चौहान ने किया है।

निम्नता की यह निम्नतम सीमा थी। मैं साहित्य से ही तटस्थ हो गया, दुःखी होकर। मुझे साहित्य-क्षेत्र, गंदगी नाला लगने लगा अतः तब से मैंने विचारधारात्मक कार्य अधिक किया है। 'Socialist World Perspective' का तीन वर्ष तक सम्पादन किया और Nationality राष्ट्रीयता के प्रश्न पर, सोवियत यूनियन और अमरीका के नमूनों का तुलनात्मक अध्ययन पेश किया। मुझे अंग्रेजी में काम करके, कुछ हिन्दी वालों की दुर्गन्ध से मुक्ति मिली।

मैं और मेरे आलोचक

—कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह

बाबा मच्छन्दरनाथ को तो जानते ही हैं। पहले से ही पंजा सख्त किए हुए हैं गले पर कि वो कहूँ जिसे कहना अभी उतना जरूरी नहीं है। फिर आपका यह पत्र। विषय वाक़यी बड़ा रोचक होगा—है, जो इस पर कुछ संजीदगी से उतरा जाय। मगर इसके खतरे भी उतने ही हैं। एक रचनाकार अपने बारे में बाध्य होकर कुछ कहने के लिए मुँह खोले तो आत्म-प्रचार हो जाय, वो कहे जिसे कहा जाना बहुत जरूरी हो, मगर जो अमूमन कहा नहीं जा रहा हो तो बड़बोलापन हो, और जो कुछ नहीं कहे—किसी बात का उत्तर न दे तो फिर बहुत अहंकारी हो जाय। इसके बावजूद लोग समय-समय पर उससे कुछ सुनना चाहते हैं, इसलिए कि शायद वह 'कोई और बात' दे जाय, गोया वो 'कोई और बात' उसके समस्त रचनात्मक चिन्तन और लेखन से ऊपर की कोई बात हो। सोचने की बात है। ऐसा क्या है जो उसकी रचनाओं में प्रत्यक्षतः नहीं मिले, और उसका उद्‌घाटन या आरोपण उसे बाद में अलग से करना पड़े।

क्या यह इस बात का सबूत पेश नही करता कि रचनाओं से साक्षात्कार करने के लिए लोग—खास कर आलोचक कम तैयार रहते हैं? ज्यादातर उस पर चलताऊ ढंग से टीका टिप्पणी करके काम चला लिया जाता है; जबकि आलोचना बाहरी वस्तु न होकर रचना के साथ जुड़ी हुई एक अनिवार्य क्रिया होती है और चिन्तन कर्म की संजीदगी उससे भी उतनी ही अपेक्षित है जितनी स्वयं रचना या रचनाकार से। सौभाग्य से अपने लिए मैंने उतने आलोचक पैदा नहीं किये, जितने विरोधी और यह मेरे प्रकट या प्रच्छन्न विरोधियों के विरोधी-भाव से किए गए सहयोग का भी फल है कि आज मैं अपने खाते में इतनी सारी रचनाओं का हिसाब लेकर अपनी जगह खड़ा हूँ। उनका यह विरोध यदि कुछ स्वस्थ होता तो बात और बनती। मगर आज की एक समस्या यह भी है कि वैसा विरोध केवल विरोध के लिए होता है, उसके पास अक्सर कोई रचनात्मक दृष्टि नहीं होती, न ही अपना कोई निश्चित चरित्र होता है। फिर भी, उससे आपके सामने कम-से-कम एक चुनौती तो खड़ी

हो ही जाती है जिसका सामना करने में और कुछ नहीं तो निषेधात्मक प्रभावों को ही काट कर अपने आगे बढ़ने की अनिवार्यता पैदा हो जाती है, और रचनात्मक संघर्ष को कुछ और संगठित एवं तेज होना पड़ता है।

आलोचना को मैं किसी भी हालत में रचना के विरोधी व्यापार के रूप में नहीं लेता, भले ही वह आलोचक विशेष की दिशा हीनता या अपनी खुद की किसी कमजोरी के कारण पंगु या धर्महीन हो जाय। रचना को उसके जीवन-मूल्यों के अस्वीकार से, मूल से ही काटने का काम विरोध के द्वारा निष्पन्न होता है। इस-लिए रचनाकार अपने प्रति खड़े किये जा रहे विरोधों से जीवन-मरण की लड़ाई लड़ते रहने की शक्ति अपने अन्दर से पैदा करता है और फिर उसी शक्ति के बल पर आगे भी बढ़ता है। उसके निजी दम-खम की परीक्षा विरोधों की कसौटी पर होती है, विरोधों के सामने सिर्फ वही रचनाकार नतमस्तक या निरस्त हो सकता है जो निष्प्राण है—जीवन्त रचनाकार के सामने विरोध कोई समस्या नहीं।

रचना भीतर से बाहर का साम्य बैठाने के लिए रचनाकार द्वारा किये जा रहे अनवरत संघर्ष की एक दीर्घ प्रक्रिया है जो उसे एक सुनिश्चित विचारधारा से प्राप्त दिशा और लक्ष्य के सहारे जातीय जीवन और चिंतन-पद्धति से जोड़कर हमेशा मनुष्य की एक उच्चतर भूमिका की ओर अग्रसर करके चलती है। उसका सर्वाधिक महत्त्व अपने इसी गतिशील चरित्र के कारण होता है। जिसके बल पर वह रचना-कार के सरोकार से समाज को भी उस उच्चतर भूमिका में उतारने में समर्थ होती है, और उसकी रचनात्मक शक्ति और सम्भावनाओं के लिए एक वृहत्तर परिदृश्य खड़ा करती है। सजग पाठक और आलोचक मेरी रचनाशीलता की इस केन्द्रीय चिंताधारा और दिशा से परिचित होंगे, और ख्याल है, मेरी सूक्ष्म रचनाओं से भी अन्तरंगता स्थापित करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होगी। यहाँ सतर्कता केवल एक ही बात की बरतनी होगी, और वो यह कि उन्हें भी उसी जमीन पर आकर खड़ा होना पड़ेगा जो जमीन उन रचनाओं की है—रचना और पाठक या आलोचक के बीच सम्बन्ध और संतुलन को ठीक किये रखने के लिए यह बहुत जरूरी है।

आपको यह जानकर किंचित हैरानी हो कि मेरी नजर में मेरे सबमें विश्वस-नीय आलोचक वे हैं जो मेरी रचनाओं के प्रथम पाठक और/या श्रोता हैं और जो अपनी शुद्ध मनोभूमि में उतर कर रचनाओं को बिना किसी अन्यथा-भाव में पढ़-सुन लेते हैं, और अपनी सहज प्रतिक्रिया भी, जो सहमति या असहमति किसी भी रूप में हो सकती है, व्यक्त करते चलते हैं। ये संख्या के हिसाब से कम हैं, और मेरे

लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । ये मेरे घर-परिवार से लेकर मित्र-मण्डली और अन्य कार्य-क्षेत्रों तक फैले हुए हैं । घर-परिवार से बाहर निकलकर गिनाऊं तो बम्बई से कलकत्ता, से दिल्ली स हैदराबाद या अब पटना और गांव के बीच ऐसी कई जोड़ी प्रश्न-मुखर आंखें हैं, कई-कई समय-विद्ध मस्तिष्क और हृदय हैं जिनके सामने में, जहां भी रहूं, अपने को हर वक्त जवाबदेह पाता हूं और यही जवाबदेही मेरी रचना दृष्टि और आलोचनात्मक समझ को विकसित करने में एक निर्णायक भूमिका निभाती रही है। रामबहादुरसिंह 'मुक्त' और रामावतार चेतन (बम्बई से ही) महेन्द्र कुलश्रेष्ठ और महीपसिंह तथा शील (अब कानपुर) और इन्दु प्रकाश पान्डेय (अब प. जर्मनी) तथा सत्येन्द्र श्रीवास्तव (अब लन्दन) और एक और नाम नन्दन (अब दिल्ली) छठे दशक के उन गिने-चुने कुछ रचनाकारों के नाम हैं, जिनके बीच मैंने अपने को नये सिरे से सहेज कर खड़ा किया, और आगे के दशकों की रचनात्मक चुनौतियों का सामना करने के लिए एक प्रकार की मानसिक तैयारी भी करली, हालांकि इनमें से अधिकांश रचनाकार परिमलीय चेतना के थे जिसके विरुद्ध मैं तब भी वहां अकेले खड़ा था । उसके बाद फिर कलकत्ता जाना पड़ा जहाँ अगस्त क्रांति के बाद, जन-संघर्ष का दूसरा साक्षात्कार और अनुभव और खाद्य-आंदोलन ('59) के बीच बर्बर घुड़दौड़ और डंडेबाजी तथा अश्रु-गैस के दमघोंटू मगर गर्म वातावरण में प्राप्त हुआ । इन दिनों के साथियों में सर्वश्री हर्षनाथ, मनमोहन ठाकौर, डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, डॉ. रमेशचंद्र सिंह, दूधनाथ, चन्द्रदेव, भगवान, शलभ, अवधनारायण, अलख, सकलदीप, विमल वर्मा, इसराइल, मृत्युंजय, श्री हर्ष, उपल, नवल और पापाण जैसे बिचली और नयी पीढ़ी के कई-कई लेखकों और रचनाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं । इनके असीम प्यार : साहचर्य ने अपने आत्मीय और संतुलित निर्णयों के बल पर मुझे उसी समय एक सर्वथा भिन्न भूमिका मे खड़ा कर दिया था । और कहूं तो विरोध के जिस चरित्र को लेकर मैं खड़ा हूं और जिसके चलते अभी प्रति-वाद और प्रतिषेध का एक विवादास्पद मुद्दा बना हुआ हूं, उसकी जड़ में वही भूमिका सक्रिय है । इनकी सहमतियों और/या असहमतियों के बीच खड़ा होकर मैंने-अपने समय को मार्क्सवाद-लेनिनवाद के नये नजरिये से देखना प्रारम्भ किया, और अपने शब्दों से मेरा एक भिन्न किस्म का सरोकार खड़ा हुआ । यह सरोकार जैसे-जैसे बढ़ता गया वैसे-वैसे अपनी रचनाशीलता पर मेरा भरोसा भी बड़ा होता गया. और यह भरोसा एक दिन इतना बड़ा हो गया कि इसके बल पर अपने रचना-संघर्ष के लम्बे दौर में बाज-बाज मौकों पर 'सामान्य' से हटकर एकदम अकेले भी खड़ा होना पड़ा तो कोई असमंजस नहीं हुआ—क्योंकि वहां भी मैं अपने संघर्ष के

अपरिहार्य से ही नियंत्रित होना रहा। इस स्थिति को ठीक से नहीं समझ पाने के कारण ही कुछेक लोगों की नजरों में मैं अहंकारी या घोर व्यक्तिवादी भी हूं, जब कि हकीकत यह है कि रचनाकार के अपने सोच और दिशा के सही होने के अहसास तथा अहंकार और/या व्यक्तिवाद में काशी-काबा का फर्क होता हैं।

वस्तु-स्थिति के प्रति साफ नजर होने और वैचारिक दृढ़ता आ जाने पर यह बिल्कुल स्वाभाविक है और रचनाकार का स्वर कभी-कभी कुछ ऊंचा हो जाय। यह संघर्षशील जनवादी कविता का दोष नहीं: बल्कि एक चारित्रिक वैशिष्ट्य होता हैं। ऐसी स्थिति में उस अर्जित विनम्रता की अपेक्षा मुझसे कभी नहीं की जा सकती जो कविता से सामन्ती और बुर्जुआ समाज की एक खास मांग होती है। इसके विपरीत, मैं समझता हूं, संघर्षधर्मी कविता को कभी कभी बहुत बेबाक और उदंड भी होना पड़ता हैं जो बेबाकपन और उदंडता से उसे अपनी जगह पर दृढ़ता से खड़ी रह कर अपनी जरूरी बात कहने में जरूरी तौर पर सहायता मिलती हो। सम्भवतः यही कारण है कि मेरी रचनाओं के प्रति सही रुख अपना कर चलने वालों को मेरे स्वर की दृढ़ता और निर्भीकता कभी खली नहीं और उल्टे, उन्होंने वहाँ भी मेरी भाषा की ताकत को देखा है। बड़बोलापन या औद्धत्य सिर्फ उन्हीं रचनाकारों/आलोचकों को नजर आया है जो कविता और/या आलोचना के क्षेत्र में अपनी नयी पहचान बनाने की कोशिश में है, मगर जिन्हें अपनी खुद की स्थिति को साफ नहीं होने की वजह से सोच और सृजन की वह सामर्थ्य हासिल नहीं हो सकी हैं जिससे अपनी बात साफ-साफ और बिना किसी हिचकिचाहट के कह दी जाय। वे बल्कि बहुत साफ को भी उलझाकर कहने का चमत्कार हासिल करने में लगे रहते हैं, और कभी कभी जो किसी फंतासी का भी सहारा लेते है, वे वस्तु-स्थितियों के संकेत को साफ और तेज करने के लिए नहीं, बल्कि उस पर मिट्टी डालने के लिए होता है और अन्ततः इससे उनका कलावादी छद्म ही सामने आता है। चिन्ता की बात तो यहाँ से हो जाती है कि उन्हें यह महसूस तक नहीं हो पाता कि जिस कलावाद के विरोध का झण्डा उठाकर वे सामने आना चाहते है स्वयं वही कलावाद उन्हें वक्त की सच्चाई से काट कर अपनी गिरफ्त में लिए चल रहा है। मगर आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय माहौल में कुछ गलत और अराजक तत्वों का एक मोर्चा खड़ा होता 'जा रहा है' जो क्रांतिकारी तत्वों के संगठन और विकास के प्रमाणों के लिए नहीं, विघटन और विलोपन की ओर ढकेलते जाने की गैरक्रांतिकारी हरकतों के कारण क्रांतिकारी बना हुआ है। और चूंकि ये घात बहुत करीब आकर करते है, जरूरत पहले सबसे ज्यादा सतर्क इन्हीं तत्वों से रहने की है।

भय है, आपको लगे कि कुछ विषयेतर प्रसंगों की सृष्टि कर मैं यहाँ बात को एक गलत मोड़ देने लगा हूं। मगर ऐसा कुछ नहीं है। इसके विपरीत, जो है और जिसकी ओर विशेष अभिप्राय से आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं वह बहुत नागद और हैरतअंगेज है। हम अपनी वस्तु-स्थितियों से साक्षात्कार करने से घबड़ाते हैं और हममें इतना भी साहस नहीं रह गया है कि एलानिया इस बात का इकबाल करें कि कहाँ और किसके पक्ष में लड़े हैं। अपने जातीय स्वत्व और स्वातंत्र्य की रक्षा के लिए हमारी लड़ाई किससे है ? जो आज केवल इंदिरा-कांग्रेस की निरंकुशताशाही के विरोध का नारा लगाकर अपनी मुहिम जीत लेना चाहते हैं वे सिर्फ वस्तु-स्थितियों की अपनी गलत समझ और बेचारगी पर 'संविधान की रक्षा करो और लोकतंत्र बचाओ' का एक झीना और वह भी फटा हुआ पर्दा डाल रहे हैं। अपनी ठोस परिस्थितियों के सजग विश्लेषण से संघर्ष की जिस वैज्ञानिक समझ को विकसित कर चलना था, जन-संघर्ष को संगठित और तेज करने के लिए जिस राजनीतिक जवाबदेही को लेकर बढ़ना था उसकी पात्रता हासिल करने से हम अभी अन्त-अन्त तक वंचित रहे हैं। अलग-अलग हलकों में अलग-अलग मोर्चों पर उठ रहे जन-ज्वारों को संगठित और व्यापक जन-संघर्ष में बदलने में अभी आज तक कामयाब नहीं हो सके हैं, और जनसत्ता को हासिल करने की लड़ाई जनता की गुमराही पर लड़े संसदवाद के साये में मत-पत्र के बल पर जीत लेने का रंगीन सपना पाल रहे हैं, जबकि मत-पत्रों का वजन सगठित जन-शक्ति के निर्णय की धार पर नहीं बल्कि मुट्ठी भर गुण्डा और असामाजिक तत्वों के हाथों में पड़ी बन्दूकों के इशारे पर टंगा है। यह एक नए किस्म का बौद्धिक पलायनवाद और राजनीतिक अवसरवाद है जिसका अन्तकाल जातीय संघर्ष के निर्णायक क्षणों में कोरे विसर्जनवाद में होने जा रहा है। कहने की जरूरत नहीं कि आज की अपनी रचनाशीलता को सबसे बड़ा खतरा इसी विसर्जनवाद से बधी अपनी राजनीतिक नियति से है जिससे मुक्ति फिलहाल सशस्त्र-जन-क्रांति की तैयारी और कशमकश में हासिल की जा सकती है। यही संभावना मेरी दृष्टि में शुरू से ही संदेह होकर खड़ी है, और अपनी सीमा में तमाम सृजनात्मक ऊर्जा को समेट कर मैं बस इसी संभावना को विकसित करने में लगा हूं। मेरे निकट कविता और कला का इससे परे अभी कोई सत्य नहीं है, और यह सत्य ही मेरा वह जीवन-स्वप्न है जो सार-तत्व के रूप में मेरी भिन्न-भिन्न रचनाओं में पलता रहा है—और कोई जो देखने को तैयार हो, फिर लगातार उभरते और संघटित होते भी देखा जा सकता है।

आलोचना को मेरी रचनाओं से सही ढंग से जुड़ने के लिए अपने अन्दर पहले इस तथ्य को देखने परखने की वैज्ञानिक समझ विकसित करनी पड़ेगी और यह एक ऐतिहासिक दृष्टि और द्वन्द्वात्मक तार्किकता को विकसित किये बगैर सम्भव नहीं है। अपने समय की निर्माण-प्रक्रिया से जुड़कर चलने के संघर्ष में रचना-भाषा और सोच दोनों ही स्तरों पर अपनी शक्ति और प्रकृति के अनुरूप यहां-वहां कुछ विस्फोट करते चलती है, और इन्हीं विस्फोटों के बलपर वह अपने समय की जड़ीभूत चेतना और सौंदर्यानुभूति के संकीर्ण वृत को तोड़कर सृजन और सौंदर्योन्मेष के नये लोक में संचरण करती हैं। यहीं उसके सामने खड़ी रचना नयी चुनौतियों, नये सृजन-प्रतिमान खड़ा करने की अनिवार्यता पैदा करती हैं और उस अनिवार्यता से बँध कर चलने में ही यह देखा जा सकता है कि कोई रचनाकार अपने अन्दर से कितना अनुशासित है, और इस तरह अनुशासित रहकर अपने रचना-संसार में मनुष्य की निर्माण-क्षमता के किस संभव-गर्भ परिदृश्य का उद्घाटन कर रहा है। मैं नहीं समझता हूं कि आज अपने बीच का कोई आलोचक किसी रचना पर अपना निर्णय देने के लिए इस हद तक जाकर रचना-सत्य और रचना-संभव की जाँच करने को तैयार है, इससे भी खतरनाक बात यह है कि ऐसे में फिर जिस विचारधारात्मक संघर्ष को वह इतना अहम् मान मानकर चल रहा है, उसकी सृजनात्मक अपेक्षाओं की पूर्ति भी आखिर कितना कर पाता है। निर्णय देना बहुत आसान हैं; कितना अच्छा होता कि निर्णय देने की पात्रता हासिल करना भी उतना ही आसान होता :

सो, अच्छा होगा, बात पहले आप से ही शुरु की जाय। मैं, आलोचक-प्रवर डा. नामवरसिंह की निषेधाज्ञा के बावजूद, आपको और आपके साथ-साथ कुन्तल मेघ, ग्रँवाल, आनन्द प्रकाश और शिवकुमार मिश्र से लेकर अलखनारायण, चंचल और कर्ण को अपने खेमे यानी वाम पक्ष के कुछ सक्रिय आलोचकों के रूप में खड़ा पाता हूं। यह और बात है कि यहां भी अपनी-अपनी प्राथमिकताएं और अनिश्चतताएं हैं और संघटित रूप से कुछ ऐसा ठोस नहीं खड़ा किया जा सका है, मगर डा नामवरसिंह आज की आलोचना का हिसाब प्रस्तुत करते हुए यदि आप लोगों का नाम अपने खाते से काट कर मलयज और रमेशचन्द्र शाह जैसों को सामने लाते हैं तो इसलिए नहीं कि ये लोग उनकी दृष्टि में वाकयी आज के महत्त्वपूर्ण आलोचक है बल्कि स्पष्टतः इसलिए कि वे (यानी डॉ. सिंह) अपने समय के उन आलोचकों की जरूरी और महत्त्वपूर्ण रचनात्मक पहल से सामान्य पाठक का ध्यान कहीं और खिसका देना चाहते है जो एक सही दिशा में आगे बढ़ने में अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय हैं, और उनके आलोचनात्मक चिंतन की विलासिता और सीमा की ओर संकेत करते

हैं। यह डॉ. नामवरसिंह के आलोचक की आलोचकीय कुशलता है जिसका यदि ठीक से हिसाब बैठाया जाय तो वक्त के झूठ का, वक्त के सच के रूप में पेश आने का एक दिलचस्प इतिहास खड़ा हो जाय। मगर इससे आपको अपने बारे में, अपने वक्त के कुछ उबलते हुए संदर्भों में पूरी तैयारी और दृढ़ता से खड़े रहने के बारे में उतना आश्वस्त होने की जरूरत नहीं। नामवर अपने झूठ को सच बताकर पेश करते में एहतियाती तौर पर जिस सफाई और संजीदगी का इजहार कर जाते हैं वह अपने सच को भी पेश करने आपके यहां गायब रहती है। लिहाजा निर्णय और निष्कर्ष के कुछ बहुत संगीन मौकों पर भी आपकी वजनदार बात अपना वजन खो देती है, और आप बस एक सवाल खड़ा करके रह जाते हैं। मेरा आशय, ख्याल है, आपके सामने स्पष्ट है। जहां बहुत कुछ किया जा सकता है–और बहुत कुछ करने की पक्की जमीन भी तैयार रहती हैं–वहां 'चलो, कुछ तो हुआ' से संतुष्ट हो जाने की बौद्धिक निष्क्रियता के मैं विरुद्ध हूं :

'समकालीन कविता की भूमिका' लिखते-लिखते आपको यह तो पता चल जाता है कि कुमारेन्द्र 'कविता द्वारा वर्ग-चेतना को तीव्र कर वर्ग-समुच्चय करने में विश्वास करते हैं' और उनमें 'गुरिल्ला चेतना' है, कि 'ऐसे कवि ही हर वर्ग-युद्ध की ओर संकेत हुआ करते हैं और वे किसी बधे-बंधाये ढांचे तक सीमित नहीं रहते'। अब गौर करें तो यह कोई हल्की-सी बात नहीं, बल्कि एक बहुत बड़ी बात हैं। मगर सवाल है उसके पहले या फिर बाद आप क्या करते हैं, जिससे यह जो बहुत बड़ी बात हैं फिर हल्की-सी न लगे और कुमारेन्द्र की कविता से आपका वायदा अपनी जगह पर दृढ़ता से कायम रहे। 'विपयान्तर' ('6·) की बात दरकिनार कर दें तो भी 'प्रतिश्रुत पीढ़ी' से लेकर 'सूर्य-ग्रहण' 'एक सूरज मां के लिए', 'घर' और 'गाँव' के प्रकाशन तक अपनी बात और वायदे के औचित्य और आधार देने के लिए आपके सामने ऐसे कई-कई अवसर आये जहाँ, थोड़ा-सा-सतर्क और सक्रिय रह-कर आप अपनी बात और वायदे दोनों को कुछ वजन और विश्वसनीयता प्रदान कर सकते थे। खैर, इसे छोड़िये। थोड़ा और आगे बढ़ें। 'इतिहास का संवाद' पर कलम उठाकर आपने एक और विस्फोट कर दिया। यह संकलन चूंकि 'उस नयी आग को समर्पित है जो संघटित होने की प्रकिया में आज मुल्क ज़र्रे-ज़र्रे में सुलग रही है, हाथ लेते ही आपको लग गया कि 'सशस्त्र दृष्टि को कविता द्वारा अग्रसा-रित करने में कुमारेन्द्र अग्रगामी है', अतः उन्हें 'निराला-मुक्ति बोध'–धूमिल के बाद जन-मुक्ति चेतना का प्रतीक कवि माना जाना चाहिए'। इससे रचनाकार के लिए कोई फर्क नहीं पड़ा, अपनी स्थिति का उसे पता रहता है। मगर सामान्य पाठक को

जो आपके इस आकस्मिक विस्फोट से कुछ हिल जा सकता है, आश्वस्त करने के लिए आप क्या करते हैं ? आप कहेंगे, 'भये, यह भी आलोचना की एक गुरिल्ला कार्रवाई है, इसे तुम नहीं समझोगे, । और ठीक है, मैं नहीं समझूंगा, मगर इतना तो निवेदन कर ही सकता हू बाबा गोरखनाथ जी, कि गुरिल्ला कार्रवाई भी जनाधार तैयार किये बिना आगे नहीं बढ़ती और उस हालत में अपना अन्त, अपनी शुरुआत में ही कर बैठती है। साहब, बिलकुल फालतू बात ! मेरे वगैर किसी को स्वीकृति प्रदान करने की अपने यहाँ कोई परम्परा नहीं रही है, और उसे ही आप खड़ा करना चाह रहे हैं, और वो भी बिना तैयारी के। निराला-मुक्तिबोध और धूमिल या कुमारेन्द्र की अपनी-अपनी शक्ति और सीमाएं हैं और वे अपने बीच, एक ही दिशा में खड़े होने के बावजूद, बहुत बड़ा फर्क लिए हुए है। उस फर्क को साफ किए बिना यांत्रिक ढङ्ग से इस तरह उन्हें एक ही पंक्ति में खड़ा कर देना आलोचना की गैरजवाबदेही का इजहार करना होगा। आप क्या इसे महसूस करते हैं ? मुझे अपनी ताकत का पता है, और अपनी सीमाओं के प्रति भी सजग हूं। अपने इस आकस्मिक विस्फोट के लिए अपने को तैयार किया, इसके लिए आपको कितनी भी शाबाशी दी जाय, कम होगी। मगर, इसलिए कि विस्फोट के बाद उस जगह से आपका द्रुत पलायन हो जाता है, और आगे बढ़ कर उसकी जिम्मेदारी लेने के लिए आप वहां खड़े नहीं मिलते, आलोचना को उसके कठिन कर्म और गहन दायित्व से जोड़कर देखनेवालों के लिए यह उतनी गहरी चिंता का भी विषय बन जाता है। ऐसा नहीं कि रचना तो जमी रहकर अपनी जगह संघर्ष करती रहे और आलोचक उसके प्रति अपनी जवाबदेही से मुक्त होकर 'सम्पूर्णता के नीड़' में सुख नींद के खर्राटे भरता रहे, समय के निर्माण में दोनों को समान रूप से जूझते रहना पड़ता है।

आप ही बतायें—उस आलोचना का क्या हाल होगा जहाँ विरोध तो विरोध आप जैसे सुविज्ञ और बगमार समर्थकों की भी निर्णय-अनिर्णय के बीच झूलती' यह स्थिति रहे ? मुझे इसमें तनिक भी शक नहीं कि आप मेरी रचनाशीलता के प्रति कोई निषेधात्मक रुख नहीं, बल्कि स्पष्ट समर्थन का भाव अपना कर चल रहे हैं। फिर भी यह सवाल तो खड़ा रह ही जाता है कि मेरे रचना-संघर्ष और आपके आलोचक के विधायक कर्म के बीच यह एक खतरनाक अन्तराल आखिर क्यों और कहां से खड़ा हो जाता है ?

आपके ठीक दूसरे छोर पर खड़े मुसका रहे हैं नामवरसिंह। डॉ. सिंह, कहा जाय तो, आज की आलोचना के यो बाजबहादुर है, जिन्होंने सबसे पहले, अपनी

जमात से बहुत आगे बढ़कर, मेरी एक रचना 'विषयान्तर' के पक्ष में खड़ा होने का बीड़ा उठाया था (ज्ञानोदय, '65), मगर जिन्होंने फिर अपनी वंशगत परम्परा का निर्वाह करते हुए, हाथ की तलवार खूंटी पर टांगकर गले में प्रगतिशीलता की तुलसी-माला डाल ली, और फिर दिल्ली और वृन्दावन के बीच वही कीर्तनियों की मण्डली ढूंढकर उसमें अपने को शामिल कर लिया। चलो, प्रभु की दया अपरंपार। जहां कुछ नहीं था, वहाँ राजगद्दी नसीब हुई। साहित्यिक कर्म पर उतर कर आदमी और किस मोक्ष की कल्पना कर सकता है ? मगर मर्यादा को ध्यान में रखते हुए मैं यहां कुछ और नहीं, सिर्फ एक तथ्य को, वो भी मामूली तौर पर, सामने रखना चाहूंगा। क्षात्र-धर्म से राज-धर्म में डॉ नामवरसिंह का यह संक्रमण एक बहुत ही कष्टकर और लम्बी प्रक्रिया है, जिससे बहुत धैर्यपूर्वक गुजरकर कविता की वापसी से इत्तफाक करते हुए रचना-तिलस्म के एक जुदा संसार की तलाश आखिर वे कर ही लेते हैं। न सही भारत, अमेरिका की खोज निकालने के लिए कोलम्बस को दाद तो देनी ही पड़ेगी।

बात पटना के लेखक सम्मेलन ('70) की है। मैंने एक मंचीय इत्तफाक में डॉ. सिंह से एक सवाल किया था। वो सवाल 'कविता के नये प्रतिमान' में प्रस्तुत उनकी आलोचना की चांद में बूंजी काढ़ने वाली विवेक-पटुता को लेकर था। 'अनुभूति की जटिलता और तनाव' की फरहादी कशमकश से गुजरकर ऋषि-तुल्य डॉ नामवरसिंह कुछ आप्त वाक्यों को प्रस्तुत करते हैं :

"इस पृष्ठभूमि में यदि आज के तथाकथित अकवितावादी कवियों की आक्रोश पूर्ण कविताओं का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाता है कि मानसिक तनाव उनकी कविता का विषय भले ही हो, स्वयं कविताएँ तनावहीन और माविष्ट हैं। इसलिए उनमें अनुभूतिगत जटिलता के स्थान पर एक प्रकार की सपाटता और सरलता मिलती है। निसंदेह कुछ एक अपवाद यहां भी है, जैसे धूमिल, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, कमलेश आदि जिनकी कविताओं में अन्दर की दृढ़ता से लगाव होने वाली व्यंग्य: विडम्बना के साथ स्वर में निर्णयात्मकता है। वस्तुतः इन कविताओं का स्वर आन्तरिक तनाव से रहित है, किन्तु परिवेश से लगाव साधने की जोर-आजमाइश कहीं अधिक है और यही बोध इन युवा कवियों की कविताओं को इस्पाती सघनता प्रदान करता है।"

मेरा सीधा सवाल यहां विवेच्य कवियों की प्रकृतिगत भिन्नता को दृष्टि में रखते हुए इस इस्पाती सघनता को लेकर था। मुक्तिबोध को केंद्र में खड़ा करने

के पुरस्कार में डॉ. नामवर ने फिर उसी क्रम में, एक काफी बड़े अन्तराल को छोड़ कर, तब दिल्ली दरबार के दो चमकते सितारे रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा को खड़ा करने का अधिकार स्वायत्त करने का सुविचारित प्रयास किया था ' मेरा दूसरा सवाल डॉ. नामवर के इसी आलोचक-विवेक को लेकर था। उन्हें तब तक तत्काल कोई उत्तर नहीं सूझा था , और जो सूझा था वह मन ही मन मुझसे अपने को उत्तरोत्तर दूर करते जाने का घातक निर्णय था। मगर उत्तर फिर उन्होंने बहुत बाद में आकर दिया। भोपाल की कुंज-गलियों में बैठ कर, बिलकुल राधा-मुद्रा में खण्ड-खण्ड पाखण्ड दुर्ग के तिलस्म की ओर रहस्यवादी संकेत करते हुए। मेरा विनम्र प्रश्न है, डॉ. नामवरसिंह के व्याज से खड़ी हो रही आलोचना की मार्क्सवादी समझ का वैचारिक और बौद्धिक स्तर यदि यही है तो फिर अपने संघर्ष-काल में उसकी सहभागिता का भरोसा कर, कौन रचनाकार आगे बढ़ने की सोचेगा ? ऐसी स्थिति में, रचनाकार को आलोचना की उपेक्षा कर खुद अपनी ताकत के बल पर आगे बढ़ते जाने का निर्णय यदि लेना पड़े तो निश्चित रूप से उसे गलत नहीं ठहराया जा सकता। वह अपने रचना-संघर्ष और जीवनानुभवों से प्राप्त दृष्टि के बल पर, आगे बढ़ने से इसलिए रुका नहीं रहेगा, कि सामने खड़े आलोचक के हाथ में 'आगे का रास्ता साफ है' बताने के लिए हरी लालटेन नहीं है। मुमकिन है, यहाँ पहुंचते-पहुंचते आपका सब्र जवाब दे गया हो, या आप यह सोचकर झल्ला रहे हों कि मैंने फिर ख्वामख्वाह आप ही दोनों पर अपनी बात पजाने की कोशिश क्यों की ? बात साफ है, आप दोनों ही महान् हैं, खासकर मेरे संदर्भ में। एक समर्थन की दृष्टि से तो दूसरा विरोध की दृष्टि से। फर्क सिर्फ यह है कि आपका समर्थन यदि अमूर्त्त है तो डॉ. नामवर का विरोध प्रच्छन्न। वैसे, आप दोनों अपनी-अपनी भिन्नता में आलोचना की दो अलग-अलग कोटियां निर्धारित करते हैं जिससे कमोबेश आज की आलोचना का चरित्र सामने आता है। आज की आलोचना समर्थन और विरोध के लिए अभी कुछ और तैयारी और मगज़मारी की अपेक्षा करती है। विश्वास है, आप दोनों अपने-अपने वायदे को लेकर वफादार बने रहेंगे—यह हिन्दी आलोचना के हित में होगा।

अब आइये, बात को जरा दूसरे कोण से देखें। उक्त दो कोटियों के बीच एक तीसरी कोटि की अवस्थिति है। (कृपया इसे मध्यम मार्ग के रूप में न लें)। इस कोटि के आलोचकों में प्रमुखतः डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. प्रेवाल, राजकुमार सैनी, अलख नारायण, आनन्दप्रकाश और मृत्युंजय हैं। ये सबके-सब व्यक्तिगत रूप से मेरे, प्रशंसक हो जाने की हद तक, समर्थक हैं, क्योंकि पहले ये मेरे आत्मीय हैं।

इनमें सबसे पहले संभवतः डॉ. त्रिपाठी ने मेरी रचना "सिलसिला" में रचना की मेरी वैज्ञानिक दृष्टि का उद्घाटन किया था। ऐसे ही, सैनी ने शुरू से ही विशेषकर मेरी कविता की अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को रेखांकित करने की कोशिश की है। मगर आगे चलकर जब लेखकों की राजनीतिक घेराबन्दी शुरू हुई, इन दोनों की दृष्टि मुझ पर केन्द्रित होने में बाधित हुई, और इनका स्वर मेरे समर्थन में उत्तरोत्तर दृढ़ होता जा सकता था, कुछ धीमा पड़ने लगा। इसके बावजूद यहां यह रेखांकित करना उतना ही जरूरी है, इनकी आत्मीयता पर कभी कोई आंच नहीं आयी। ये मेरे शुभचिंतक हैं, और रहेंगे। लेकिन यही स्थिति अलख और मृत्युंजय की नहीं है। ये दोनों भी उतने ही, बल्कि कहूं तो कुछ ज्यादा आत्मीय दृष्टि से हैं कि मेरा इनका साथ कलकत्ता जैसे महानगर में लगभग पारिवारिक सम्बन्ध के रूप में दृढ़ से दृढ़तर होता गया, और जहां तक मेरे रचना कर्म को लेकर देखने-सोचने का सवाल है वो कभी किसी बाह्य प्रभाव से नियंत्रित नहीं हुआ। वहां आत्मीयता के बावजूद विश्लेषण के वस्तुगत नियम ही ज्यादा सक्रिय रहे। ठीक इसी तरह का मेरा आत्मीय जुड़ाव डॉ. ग्रेवाल और आनन्द प्रकाश से है। मगर, ये दोनों अपने आलोचना कर्म को लेकर कुछ ज्यादा सचेत हैं, और यहां खूबी यह है कि वैज्ञानिक चिंतन के कस बल पर मेरी रचनाओं के प्रति सोच की जो पद्धति खड़ी हुई है, उसमें आत्मीयता जैसे किसी तत्व का हस्तक्षेप नहीं हुआ है। यह और बात है कि मेरी रचनाओं को लेकर उनकी पसंद कहीं ज्यादा गहरी हो, और कहीं टिके रहने में,उसे कुछ हिचकिचाहट हो। इसी क्रम में एक और आलोचक भी, किन्तु कुछ भिन्न अन्दाज में, सामने खड़े हो जाते हैं। वो है श्री रामनिहाल गुंजन। मेरे आत्मीय ये भी हैं समझें, तो रोज-रोज के साथी। यहां 'भी' के इस्तेमाल के लिए क्षमा चाहूंगा। गुंजन की एक मुश्किल यह है कि वे मध्यम वर्गीय स्थिति को लेकर अभी उतना साफ नहीं हो सके हैं, हालांकि खुद भी एक स्तर-भेद से वहीं खड़े हैं। मगर, मेरा मध्यम वर्गीय होना, उन पर इतना हावी है कि 'एक सूरज माँ के लिए' तक में उन्हें 'मध्यम वर्गीय लिजलिजाहट' मिल जाती है, जबकि 'सरोज-स्मृति' में उनकी उसी दृष्टि में रचनाकार का आत्म-संघर्ष युग-संघर्ष में परिणत हो गया रहता है, और यह नजरअंदाज कर दिया जाता है कि जो रचनाकार जहां खड़ा है वो भी, बल्कि कुछ अधिक ही, मध्यमवर्गीय चरित्र का है। इसे क्या कहिएगा–वर्गीय दृष्टि से या उसकी जगह खड़ा आत्मगत भेद ? गुंजन जी की आलोचना के साथ, जहां तक उसका मेरी रचना से सरोकार है, सोच की एक विडंबना खड़ी हो गयी है, जिससे उनकी दृष्टि न सही जगह पर सही ढंग से काट कर पाती है, न ही समर्थन के मुद्दे

पर उतनी दृढता से समर्थन। गुंजन जैसे आलोचकों के उदाहरण के सहारे स्तर-भेद से यह देखा दिखाया जा सकता है कि वर्ग-भेद और वर्ग-चरित्र की यांत्रिक समझ से आज की आलोचना में भटकाव की स्थिति कैसे पैदा होती जा रही है। कोई आदमी क्रांतिकारी इसलिए नहीं हो जाता कि उसके कपड़े कुछ ज्यादा साफ नहीं हैं, और न ही कोई अपने साफ कपड़े के कारण प्रतिगामी या प्रतिक्रांतिकारी हो जाता है। संघर्षशील व्यक्ति की चेतना के चरित्र ग्रहण करने और विकसित होने से इन दोनों स्थितियों का कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ये दोनों ही उस सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था की उपज हैं जो अपने समाज के विघटन के मूल में है, और आदमी को आदमी के विरुद्ध खड़ा किये रहने में ही अपनी सुरक्षा देखती है।

आज की आलोचना में उभरता यह तत्त्व फिर भी उतना घातक नहीं है, जितना यह कि दलगत, क्षेत्रगत या फिर जातिगत घेराबन्दी में खड़ा होकर कोई विचारधारात्मक लड़ाई का झण्डा उठाले, और विचारधारा के मूल पर ही आघात कर कभी उसी रचनाकार के समर्थन में खड़ा हो जाने के लिए बाध्य हो जाय जो उसकी नजर में अभी हाल तक शत्रु दल का एजेंट रहा हो, या फिर अपने गुट, गोत्र या जाति के किसी रचनाकार विशेष को, अपनी औकात भूलकर, शिखरीय ऊँचाई देने की नीयत से आलोचना की आड़ में एक बौद्धिक फरेब की शरण ले ले। आज, जब आप आलोचना का हिसाब करने बैठे हैं, गहराई से देखें तो, यहाँ-वहाँ ऐसे कई-कई तत्त्व भिन्न-भिन्न रूपों में सक्रिय मिलेंगे जो समय की तात्कालिकता और इतिहास की मांग के सामने बिलकुल झूठे पड जाते है। मगर आज की यह भी एक त्रासदी है कि व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की दौड़ में उन्हें झूठ और आत्म-प्रवंचना के बल पर खड़ा अपना यह बौद्धिक फरेब हालाहाली समझ में नहीं आ पाता। दूर की कौड़ी पकड़ लाने वाली उनकी सूझ आलोचना में अराजक स्थिति लाने के लिए जितना जिम्मेदार है उतना बौद्धिक दारिद्रय नहीं। दारिद्रय को फिर भी बदला जा सकता है मगर आत्मघाती नियति से जुड़े बौद्धिक फरेब के चरित्र को बदलना बहुत मुश्किल है। यहाँ मुक्तिबोध के 'पिल्लों' का सामने आ जाना भी स्वाभाविक ही है। इस बात की कल्पना आज मैं बहुत आसानी से कर सकता हूं कि आखिर किस मनःस्थिति में आकर मुक्तिबोध ने उन 'पिल्लों' को याद किया था इनकी एक खास जाति होती है और ये हर समय में होते हैं—कहीं किकियाते या भौंकते मिलते हैं या फिर किसी सूनी गली में कोई टीला पाकर टांग उठाते देखे जा सकते हैं। और हर समय इनके सामने एक ही सवाल खड़ा रहता है—कहीं कोई टुकड़ा फेंक दे या फिर पुचकार कर शरण देदे। और कुछ नहीं चाहिए इन्हें। कुछ खौराये हुए पिल्लों को आपने भी देखा होगा। क्या होती है इनकी स्थिति ?

आलोचना के इन सजातीय और फिर कुछ विजातीय मुद्दों के टकराव की अवस्था से गुजरते हुए मैंने अपने बीच खड़ी कटुता को, खयाल है, कुछ अधिक उजागर कर दिया है। ध्यान रखें, उजागर ही किया है, पैदा नहीं, पैदा तो यह बल्कि पहले से ही है। सतर्कता के लिए इस बात को रेखांकित करके चलना जरूरी है क्योंकि बौद्धिक सहिष्णुता और सहभागिता की जगह इस कटुता और इससे उत्पन्न चिंतन की प्रतिगामिता की जड़ें काफी गहरे जा चुकी हैं। ऐसे में मुझे एक उत्साहजनक अनुभव यह हुआ है कि आलोचकों की उदासीनता के बावजूद रचनाकार यदि अपने छोटे-बड़े या समवयस्क अन्य रचनाकारों से रचनात्मक स्तर पर जुड़ा रहे तो उसे सीखने-सहेजने के लिए एक बहुत भरोसे का आधार मिल जाता है। जिन्हें कभी प्यार से डांट भी चुका हूं ऐसे भी (उम्र के हिसाब से छोटे) कई-कई रचनाकारों से लेकर मुक्ति बोध, शमशेर, नागार्जुन, शील, केदार और त्रिलोचन या फिर शलभ, विजेन्द्र, वेणु, विकल, आलोक, ऋतुराज और मनमोहन तक—इन सबको अपने सामने पाता हूं और यकीन करें, इनकी रचनाओं से गुजरते हुए अपने को सहेजते और संघठित करते जाता हूं। इनमें भी सबसे भिन्न स्थिति आलोक और विकल की है। आलोक कभी-कभार, बिल्कुल अकस्मात, किसी मोड़ पर मिल जायगा और विनम्रता से प्रणाम करते हुए दार्शनिक अन्दाज में हथेलियां आगे बढ़ाकर कहेगा —'अब नहीं लिखता, क्या कीजिएगा !'—और मैं उसके इस 'क्या कीजिएगा' से कटकर फिर कुछ और सजग हो जाऊंगा। ऐसे ही एक अद्‌भुत जीव हैं विकल। जागता रहूं तो, सोया रहूं तो, किसी भी समय कभी किसी कोने से तो कभी किसी कोने से तो कभी बिलकुल पास से आवाज देगा—'भैया ! और मैं उसके मुंह से टपकती लार को पोंछते हुए उसकी मासूम आंखों में कई-कई रचनाओं को पढ़ता चला जाऊंगा। ऊपर-ऊपर से देखने में यह एक बहुत ही भावात्मक प्रसंग लगेगा, मगर मेरे निजी जीवन और फिर रचना-संसार मे इन जिंदा आकृतियों और स्वरों का बहुत बड़ा हिस्सा है और ये मुझसे बहुत सार्थक रूप से जुड़े रहकर मुझे और मेरे रचनात्मक विश्वास को दिन-पर-दिन और बड़ा करते जा रहे हैं। जहां आलोचना चुप या उदासीन रहती है वहां इनकी, और इन्हीं जैसे उक्त सभी रचनाकारों की रचनाएं आकर सामने खड़ी हो जाती है और मेरे एक-एक शब्द पर अंगुली रखकर नब्ज की परीक्षा करने लगती है। इन रचनाकारों का मुझ पर कितना सख्त अंकुश है, इसे मुझसे अलग खड़ा कोई आलोचक शायद ही कभी समझ सके।

और हालांकि 'हवामहल' (अप्रकाशित) और 'नब्ज' जैसी लंबी रचनाएं पहले की है, 'एक सूरज मां के लिए' की रचना के पीछे खड़ी चुनौती मुक्ति बोध

की है। इसी तरह धूमिल ने सामने 'पट कथा' रखकर 'सूर्यग्रहण' को पकड़ने के लिए ललकारा तो विजेन्द्र ने 'थटकथा' पर पाव रखने के लिए आमन्त्रित किया, और आलोक ने सामने दीवार पर 'पोस्टर' लगाकर 'गांव' घूम आने का निवेदन किया। मगर आज कौन आलोचक है जिसकी दृष्टि एक ही समय में खड़े विभिन्न रचनाकारों के इस भावनात्मक अन्तरावलम्बन पर पड़ी है। एक अर्से से मेरा यह मानना रहा है कि एक ही दिशा में मुंह कर एक समय में रहनेव ले हम सभी रचनाकार एक ही रचना की सृष्टि करने में लगे है मगर इससे इत्फाक करने के लिए अभी तक कोई आगे नही बढ़ा है। फिर जिस चिंतन-पद्धति और सौदर्य-प्रक्रिया को लिए अभी तक कोई आगे नहीं बढ़ा है उसका विवेचन-विश्लेषण भी अपनी आलोचना के लिए अजनबी ही बना हुआ है। अब मुमकिन है, मेरी इस बात को पकड़कर कुछ ऐसे आलोचक सामने आ जायें जो अपने वैदुष्य और आलोचना-कौशल का प्रदर्शन मुझ पर दूसरों के प्रभाव दिखाने मे करने लगें। ऐसे लोगो की मसानी खोपड़ी में यह बात बहुत मुश्किल से घर पर पायेगी कि संघर्ष काल की सहभागिता की तरह ही एक संघर्ष-धर्मी रचनाकार की, अपने समय के अन्य रचनाकारों से सोच और सृजन के स्तर पर, एक और सहभागिता सहचिंतन के रूप में चलती रहती है, जिससे उस समय की रचना विशेष का चरित्र निर्मित होता है।

आलोचकों के लिए यह काम का विषय नही था, मगर मूलतः रचनाकार होने के नाते ही अभी-अभी मृत्युंजय उपाध्याय ने, उनकी हदबंदी को तोड़कर, जिस तरह मेरी रचनाओं में अपने समय की अन्तर्वस्तु को सघटित और विकसित होते हुए दिखाया है, और जिस संजीदगी से उसकी तार्किक संगति और कलात्मक परिणति को समझने के लिए आनन्द प्रकाश ने द्वन्द्वात्मक तार्किकता का आधार लेकर आलोचना की एक चितन-पद्धति खड़ी की है, उसे आज की आलोचना के अनुशासन-वृत में मान्यता प्राप्त करने में कितना कठिन संघर्ष करना पड़ेगा, अभी नहीं कहा जा सकता। मगर, यहां मैं इतना जरूर कहना चाहूंगा कि इन दोनों आलोचकों ने मुझसे रचनात्मक चिंतन के स्तर पर जुड़कर अपनी वस्तुगत स्थितियों और उनसे लगी रचनात्मक चुनौतियों को समझने-समझाने की एक ईमानदार कोशिश की है, और इनका आलोचनात्मक चिंतन के विकास में एक निश्चित योग है।

इसे मैंने प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि अपने प्रकट या प्रच्छन्न विरोधियों के अन्ध विरोधों से भी, रचनात्मक संघर्ष के दौर में मैंने एक अच्छी-खासी शक्ति हासिल की है। फिर, सह-चिंतन में साथ चलने वाले आलोचकों से मुझे कितना बल मिला है, इसे कहने की जरूरत नहीं। मगर मेरे इस स्वीकार के

बावजूद, ग्राज की ग्रालोचना के प्रति जो मेरा एक गहन रुख सामने ग्राया है, उससे यह गलतफहमी हो सकती है कि मैं ग्रालोचना ग्रौर ग्रालोचकों के प्रति क्षुब्ध गलत-गस्त ग्रौर ग्रसहिष्णु हूं, ग्रौर उनकी मुझे कोई जरूरत नहीं; जबकि हकीकत यह है कि मूल रूप से मैं ग्रालोचना को रचना से ग्रलग करके नहीं देखता ग्रौर इसे जातीय जीवन का दुर्भाग्य ही समझा जाना चाहिए कि रचना ग्रौर ग्रालोचना साथ न चलकर दो विभिन्न दिशाग्रों में चलने लगे, ऐसी गलतफहमी ग्रौर या कठिनाई रचना ग्रौर ग्रालोचना के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को ठीक से नहीं समझ पाने के कारण उत्पन्न होती है। रचना की ग्रपनी जमीन ग्रौर ग्रपनी शर्तें होती हैं, ग्रौर उन्हीं शर्तों पर चलकर वह ग्रपना विकास करती है। उसे फिर ग्रपनी शर्तों पर चलाने की कोशिश कोई विवेकवान ग्रालोचक कभी नहीं कर सकता।

किन्तु, इसका ग्रभिप्राय कवि की तुलना में ग्रालोचक को दूसरे दर्जे की नागरिकता प्रदान करना नहीं है। ग्रालोचक का प्रमुख कार्य कविता की, उसके विभिन्न प्रसंगों को पकड़ कर, ग्रर्थ-निष्पत्ति तक पहुंचना-पहुंचाना होता है, ग्रौर इस कार्य का सही-सही सम्पादन तभी संभव है जब ग्रालोचक कविता ग्रौर/या कवि से प्रतिद्वन्द्वी के रिश्ते में नहीं जुड़कर स्वयं उसके सहभोक्ता के रूप में जुड़े। केवल तभी उसे दिशा-निर्देश के लिए ग्रंगुली उठाने का भी ग्रधिकार प्राप्त होता है। ग्रनुशासित ग्राचरण ग्रौर विवेक से ग्रालोचक चाहे तो ग्रपने समय की पंगु होती जा रही बौद्धिकता ग्रौर दिशाहीन रचनाशीलता का इलाज करने में कवि का सहयोगी हो सकता है, ग्रौर कवि के लिए इससे बड़ा सौभाग्य ग्रौर कोई नहीं हो सकता कि समय के ग्रराजक कुहासे ग्रौर वैचारिक बिखराव के बीच से रचना-कर्म के लिए जरूरी निर्देशक तत्त्वों को समेटकर रचना की जमीन तैयार करने में उसे ग्रालोचक का भरपूर सहयोग मिले। यहां इस कार्य-सम्पादन में ग्रपनी ग्रनिवार्य भूमिका निभाकर ग्रालोचक स्वयं केन्द्र में नहीं होते हुए भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, केन्द्र में होने का सुयोग तो रचना का हमराज ग्रौर हमसाया होने के कारण कवि को ही प्राप्त होता है, कवि, कविता ग्रौर ग्रालोचक के ग्रन्तर्सम्बन्धों को समझने की कोशिश यहीं यदि पारिवारिक ग्रायाम में की जाय तो यहीं पर ग्रालोचक सहज ही कवि ग्रौर कविता से ऊपर उठकर ग्रभिभावक की भूमिका में चला जाता है; ग्रौर यहां यदि वह विवेकभ्रष्ट होने से बचा रहे, उसके लिए उसकी सम्पूर्ण मर्यादा सुरक्षित रहती है, हालांकि उसका दायित्व गुरु से गुरुतर हो जाता है। वह तब ग्रपने को कविता की चिंता से मुक्त नहीं पाता, खासकर इसलिए भी कि उसकी कविता की चिंता ग्रपने ग्रायाम-विस्तार में पूरे समय ग्रौर उसके निर्माण की चिंता में बदल गयी रहती है।

प्रगतिशील आलोचना की अपेक्षाएँ

— डॉ० शिवकुमार मिश्र

प्रगतिशील आलोचना की अपेक्षाएं वस्तुतः आलोचना कर्म में लगे प्रगतिशील आलोचक से की जाने वाली अपेक्षाएं है। रचना हो या आलोचना, रचनाकार हो या आलोचक, जब वे अराजक हो उठते हैं, अपने कर्म से जुड़ी अपेक्षाओं के दायरे से बाहर जाने की कोशिश करने लगते हैं, उनका कर्म आहत होता है, अपनी साख खो देता है। फिलहाल हम प्रगतिशील आलोचना की अपेक्षाओं अर्थात् प्रगतिशील आलोचक से की जाने वाली अपेक्षाओं तक ही अपने को सीमिति रखना चाहेंगे, इसलिए कि आलोचना कर्म से जुड़े एक आलोचक के नाते हम शिद्दत से इस बात को लगातार महसूस कर रहे हैं कि हमारा वर्तमान आलोचना कर्म उन अपेक्षाओं को सही तरीके से पूरा नहीं कर पा रहा जिन्हें पूरा किए बिना उसके अपने अस्तित्व का कोई मतलब नहीं है।

सवाल उठता है कि आखिर आलोचना का मतलब क्या है और उसकी जरूरत किस लिए है। आलोचना का मतलब हमारे लिए रचना के मतलब से जुड़ा हुआ है। रचना का मतलब हमारे लिए, कम से कम एक सार्थक रचना का मतलब हमारे लिए, एक निहायत वैयक्तिक सर्जन कर्म तक ही सीमित न होकर एक व्यापक सांस्कृतिक कर्म से है, और यह सांस्कृतिक कर्म अपने साथ एक इतिहास भी लिए है और भविष्य भी, तथा उसकी सार्थकता गहरे मानवीय प्रयोजनों से जुड़ी हुई एक प्रशस्ततर जीवन दृष्टि तथा जीवन विवेक को विकसित करने तथा उसे समृद्ध करने से है। व्यक्ति की सर्जना होते हुए भी रचना वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण करती है और जिसे शुक्ल जी ने शेष सृष्टि कहा है उस तक प्रसार पाकर इस शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्धों की रक्षा तथा निर्वाह करती है। शब्दावली शुक्ल जी की भले ही कुछ हो, परन्तु जब वे कविता को या रचना को हमें मनुष्यत्व की सबसे ऊंची कक्षा में पहुंचाने वाली इयत्ता कहते हैं तो प्रकारान्तर से रचना को एक बृहत्तर आशय, बड़े मतलब से जोड़ते हुए उसकी चरितार्थता इस बात में देखते

हैं कि वह हमारी मनुष्यता को समृद्ध करती है या नहीं, हमें एक बेहतर मनुष्य बनाती है या नहीं, एक मानवीय सर्जना के रूप में, अपनी समूची सांस्कृतिक ऊर्जा के साथ हमारे सामने आती है या नहीं। जाहिर है कि रचना की यह मानवीय सार्थकता, उसकी यह सांस्कृतिक सिद्धि रचना के अपने अंतवर्ती नियमों से अनुशासित होते हुए ही, साहित्य या कला की बुनियादी अपेक्षाओं से जुड़कर ही सामने आती है और उसे ऐसे ही आना भी चाहिए, किन्तु रचना के ये अन्तवर्ती नियम, साहित्य या कला की ये बुनियादी जरूरतें उन प्रशस्ततर अपेक्षाओं से अलग थलग न होकर उनके अन्तर्गत ही अपने को ज्ञापित करती हैं जिनका सम्बन्ध एक सार्थक जीवन-विवेक से, व्यापक मानवीय प्रयोजनों से, हमारी बेहतर मनुष्यता से, एक उच्चतर मानवीय संस्कृति से होता है। हमारे कहने का आशय यहां यही है कि रचना हमारे लिए मात्र एक कलात्मक वस्तु ही न होकर एक ऐसी कलात्मक इकाई होती है जो कलाकृति के रूप में अपने को व्यापक मानवीय सन्दर्भों से जोड़कर ही चरितार्थ कर पाती है। कला और जीवन के रिश्ते को अपनी सारी भास्वरता में उजागर करने वाली रचना ही, कला के मानवीय प्रयोजनों को अपने सारे उत्कर्ष में उद्घाटित करने वाली रचना ही हमारे लिए रचना है, सार्थक रचना है, और ऐसी रचना को बाहर भीतर से पूरी तरह खोलकर रख देने वाली और उसकी महत्ता का पूरी तरह से अहसास करा देने वाली आलोचना ही हमारे लिए आलोचना या सार्थक आलोचना है। आलोचना का कार्य केवल रचना को देखना ही नहीं उसकी संपूर्णता में दिखाना भी है और देखने और दिखाने का यह कार्य जाहिर है कि रचना के अपने संसार और जिस बड़े संसार से वह जुड़ती है उसे अच्छी तरह जाने समझे नहीं हो सकता। आलोचना की शक्ति तथा कमजोरी की पहचान इसी बिन्दु पर जाकर होती है कि आलोचक रचना के अन्तर्वाह्य को, इस अन्तर्वाह्य से सम्बद्ध उसके सारे उपकरणों को जान और समझ पाया है या नहीं, और यह कि रचना के इस अंतर्वाह्य के जो सामाजिक जीवन सन्दर्भ हैं उनके और रचना के आपसी रिश्तों को वह सही बिन्दुओं पर पहचान, परख और खोल पाया है कि नहीं। रचना और आलोचना के हमारे इस आशय से सम्भव है कुछ लोगों को मतभेद हो किन्तु रचना और आलोचना की सही पहचान की हमारी जमीन यही है और हम इसी जमीन पर खड़ी रचना और आलोचना को सार्थक मानते हैं और रचना हो या आलोचना, रचनाकार हो या आलोचक उनसे हमारी अपेक्षाएं भी इसी जमीन से जुड़ी हुई हैं। सवाल है कि क्या वर्तमान प्रगतिशील आलोचना अपने साथ जुड़ी हमारी अपेक्षाओं को पूरा कर रही है। यदि आकांक्षित रूप में नहीं, तो इस कमी के बिन्दु कौन से हैं या क्या हैं।

समीक्षा सम्बन्धी अपने एक निबन्ध में मुक्तिबोध ने समकालीन आलोचना की जिस एकांगिता का जिक्र किया था कुछेक अपवादों के बावजूद वह एक एकांगिता अभी भी विद्यमान है। अपने निबन्ध में समकालीन समीक्षा की एकांगिता के दो सन्दर्भ मुक्तिबोध ने रेखांकित किए थे—एक कृति के मात्र ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय पहलू के उद्घाटन को ही कृति की समग्र समीक्षा मान लेना, और दूसरा उसके सौन्दर्यात्मक पहलू पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करना। मुक्तिबोध का अपना मंतव्य था कि इन दोनों में से किसी एक पक्ष को समग्र आलोचना दृष्टि का पर्याय मानना आलोचक को एकांगी बनाना है। उनके अनुसार इन दोनों पक्षों के समुचित और संश्लिष्ट विनियोग की जमीन पर कोई समग्र आलोचना दृष्टि खड़ी हो सकती है और उसी की ओर हमारा प्रयास होना चाहिए। प्रकारांतर से मुक्तिबोध यहां एक ऐसी आलोचना दृष्टि की हिमायत कर रहे हैं जो न केवल आलोचक के काव्य विवेक या साहित्य विवेक को उसके सारे उत्कर्ष के साथ सामने लाए वरन् उसके समाज-चिन्तन को भी अपनी सारी ऊर्जा के साथ उद्घाटित करे, और यही नहीं जिसमें इस साहित्य-विवेक तथा जीवन विवेक की संश्लिष्ट संगति में ही कृति की मूल्यवत्ता उजागर हो। साहित्य और जीवन के रिश्ते की सही पहचान, उनकी द्वन्द्वात्मक सक्रियता, उनके प्रगतिशील, सामाजिक तथा मानवीय संस्कारों की जितनी संगति रचना के लिए जरूरी है उतनी आलोचना के लिए भी और सच्चा आलोचक वही है जिसके साहित्य और काव्य विवेक तथा जिसके जीवन और समाज चिन्तन में इतनी एकतानता हो कि कृति के मूल्यांकन के दौर में दोनों अलग अलग न दिखते हुए अपनी संश्लिष्टता में कृति के अन्तर्बाह्य को हमारे सामने खोल कर रख दे। कहना न होगा कि आज की हमारी आलोचना अभी भी उक्त निष्कर्ष पर खरी नहीं मानी जा सकती। पूर्ववर्ती आलोचक,जहां साहित्य और जीवन के आपसी रिश्तों को अमान्य करते हुए अथवा उन्हें गड्डमड्ड करते और उलझाते हुए या फिर अपने अतिवादी आग्रहों के चलते साहित्य को निरा शब्द व्यापार घोषित करते हुए, साहित्यक रचना को ही अपने में स्वतः सम्पूर्ण मानते हुए, मात्र उसी के भीतर से उसके मूल्यांकन के प्रतिमान लाते हुए साहित्य के सौन्दर्यात्मक मनोवैज्ञानिक पक्ष को ही नितांत जीवन निरपेक्ष रूप में मूल्यांकन के एकमात्र नजरिए के रूप में विज्ञापित कर रहे हैं वहां दूसरी ओर अपने को प्रगतिशील जीवन तथा साहित्य दृष्टि का हामी मानने वाले आलोचक इस एकांगिता के चलते कृति के सौन्दर्यात्मक मनोवैज्ञानिक पक्ष को उपेक्षित करते हुए उसके ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय पक्ष पर ही अपने को पूरी तरह केन्द्रित कर मूल्यांकन का एक ऐसा उदाहरण सामने ला रहे हैं

जो अभी अधूरा और पूरी तरह विश्वसनीय नहीं है, आलोचना का पहला रूप जहां मात्र कला मूल्यों को ही सबकुछ मानकर चल रहा है, वहां दूसरा रूप विचारधारा और जीवन मूल्यों पर ही अपने को मुख्यतया केन्द्रित कर एक दूसरे किस्म की एकांगिता को को प्रश्रय दे रहा है। कला मूल्यों की संश्लिष्ट उपस्थिति में कृति की समग्र मूल्यवत्ता को उजागर करने वाली आलोचना बहुत कम दिखाई पड़ रही है।

हमारे सामने एक उदाहरण आचार्य शुक्ल का है। आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि की सबसे बड़ी उपलब्धि उसके अन्तर्गत विद्यमान साहित्य विवेक और जीवन की संहिति है। जितनी मजबूत पकड़ उनकी कविता पर थी उतनी ही मजबूत पकड़ उनकी जीवन और जीवन व्यापारों पर थी। अपनी समीक्षा दृष्टि का निर्माण उन्होंने कविता और जीवन सम्बन्धी अपनी इस समझ का दूसरे साथ सार्थक और संश्लिष्ट विनियोग करते हुए किया था। अपने आलोचनात्मक संघर्ष में एक ओर वे कविता की मनमानी व्याख्या करने वालों से टकराए थे, दूसरी ओर जीवन की मनमानी व्याख्या करने वालों से भी जूझे थे। एक ओर जहां वे निरे काव्यशास्त्रियों की आलोचना करते हुए, कविता को शास्त्र के वाग्जाल से मुक्त करते हुए उसे इन्द्रियबोध, भाव तथा विचार की प्रशस्त भूमियों से जोड़ते हुए हमें दिखाई पड़ते हैं, दूसरी ओर निरे समाजशास्त्रियों की धज्जियां उड़ाते हुए समाज-चिन्तन को जीवन के प्रगतिशील आयामों तक विस्तृत करते है और यही नहीं कविता की और काव्यालोचन की एक ऐसी बानगी हमारे सामने रखते है जिससे उनका उच्चत्तर काव्य विवेक और जीवन विवेक दोनों ही अपनी समूची धार के साथ विद्यमान है। रस और लोक मंगल की जो कसौटियां उनकी काव्य समीक्षा की परिचित कसौटियां हैं वे वस्तुत: काव्य और काव्येतर भूमियों से सम्बद्ध न होकर जैसा कि कुछ लोगो का ख्याल है, एक ही समीक्षा दृष्टि का अभिन्न अंग हैं और वह एक ही भूमि की चीजे है। उनके रस का अन्तर्भाव लोकमंगल में है और उनके लोकमंगल का अन्तर्भाव रस में।

रस को हृदय की मुक्तावस्था का पर्याय बताकर, हृदय की मुक्तावस्था को मनुष्य के शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्धों की रक्षा तथा निर्वाह का माध्यम कहकर तथा रस की स्थिति को मनुष्यत्व की सबसे ऊंची कक्षा में पहुंचाने वाली स्थिति कहकर उन्होने लोकमंगल के विचार को कवि तथा कविता का सबसे बड़ा लक्ष्य माना। इस लोकमंगल को भी उन्होने जीवन तथा समाज की प्रगतिशील सोच के तहत अन्याय और अन्यायी के विरुद्ध न्याय और अन्याय पीड़ित के पक्ष में व्याख्यायित किया। वे जितने आस्थावान रस की कसौटी के प्रति रहे, उसके

मानवीय और लौकिक स्वरूप के प्रति रहे, उतने ही आस्थावान लोकमंगल की अपनी अवधारणा के प्रति भी रहे। उन्होंने कविता तथा जीवन दोनों ही आयामों पर अपनी तर्कसम्मत, वैज्ञानिक, लोकवादी दृष्टि की ही संक्रियता बनाए रखी तथा हर किस्म की अमूर्त तथा असंगत लोक निरपेक्ष काव्य तथा जीवन सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन किया। कविता की व्याख्या को कोरे कलावाद, सौन्दर्यवाद तथा कोरे शब्द व्यापार पर आधारित करने वालों पर जहां उन्होंने कठोर प्रहार किया वहां जीवन की भी इलहामी व्याख्या करने वालों पर भी उतनी ही निर्ममता से टिप्पणियां कीं। कुल मिलाकर शुक्ल जी की समीक्षा दृष्टि एक ऐसा मानक बनकर हमारे सामने आई कि हमारा यह दायित्व हो गया कि हम अपने समय के सन्दर्भों में उसे पल्लवित करते हुए, उसे और धारदार बनाते हुए समीक्षा की प्रगतिशील परम्परा को आगे बढ़ाएं।

हमने इस समीक्षा दृष्टि को विरासत के रूप में स्वीकार भी किया, उसे पैना भी बनाया परन्तु उसका कारगर विनियोग, जैसा और जिस रूप में हमें करना चाहिए था, कुछेक अपवादों को छोड़कर वैसा नहीं कर सके। मसलन एक जबर्दस्त विचारधारात्मक संघर्ष के क्रम में आचार्य शुक्ल जिस प्रकार प्रतिगामी काव्य-मूल्यों और जीवन मूल्यों का विरोध करते हुए दोनों स्तरों पर नए और स्वस्थ प्रस्थान बिन्दु लेकर सामने आए तथा दोनों को एकमेक करके जिस प्रकार एक संश्लिष्ट समीक्षा दृष्टि की बानगी पेश की हम प्रगतिशील काव्यदृष्टि तथा प्रगतिशील जीवन दृष्टि के बावजूद आलोचना का ऐसा व्यावहारिक नजरिया नहीं पेश कर सके जहाँ काव्यमूल्यों तथा जीवन मूल्यों की आकांक्षित एकतानता सम्भव हो पाती। हमारी दृष्टि विचार और विचारधारा के धरातल पर जितनी पैनी तथा सक्रिय रही, कविता के कथ्य तथा प्रतिपाद्य के प्रति हम जितना सजग रहे, इस कथ्य तथा प्रतिपाद्य के वाहक कविता के रूप तथा उस रूप का निर्माण करने वाले कलात्मक उपकरणों की हमने उपेक्षा की। रूपवाद के विरोध को हमने प्रायः रूप का विरोध मान लिया, कविता के सौन्दर्यात्मक हर पहलू को हमने प्रतिगामी समझा, कविता की अपनी बुनियादी जरूरतों, उसकी अपनी अन्तरंग स्वायत्तता को हमने खुले हृदय से कभी स्वीकार नहीं किया, हम बस कविता के कथ्य की सामाजिकता, उसके प्रतिपाद्य की प्रगतिशीलता तथा उसके वैचारिक आधार के खरेपन को ही मुख्य मानकर चलते रहे फलतः कविता का पूरा खुलासा, उसकी सौन्दर्यात्मक सत्ता का पूरा उद्घाटन, उसकी अन्तरंग निर्मिति की सभी बारीकियां हम नहीं निर्देशित कर

उससे उचित का ग्रहण और अनुचित का त्याग किया तथा नए प्रतिमान सामने रखें। यही नहीं, उन्होंने भारतीय काव्य तथा शास्त्र परम्परा के साथ-साथ पश्चिम की अपने समय तक विकसित काव्य काव्यशास्त्रीय परम्परा को यथा सम्भव जाना और परखा। साहित्य के अलावा मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र तथा ज्ञान और विज्ञान के नवीनतम चिन्तन से भी नजदीक का परिचय स्थापित किया और तब हिन्दी भाषा तथा साहित्य की अपनी पूरी परम्परा की अपनी अन्तरंग पहचान के आलोक में उन्होंने इस परम्परा का मूल्यांकन किया तथा मूल्यांकन की अपनी दृष्टि विकसित की। हमारे कहने का मतलब यह कि शुक्ल जी यों ही समीक्षा के क्षेत्र में नहीं आ गए थे। उसके लिए उन्होंने आजीवन कठोर साधना की थी। अपने द्वारा अर्जित साहित्य विवेक तथा जीवन विवेक को वे तभी कारगर तरीके से अपनी समीक्षा व दृष्टि का अंग बना सके और इस प्रकार भारतीय काव्य चिन्तन में अपना कुछ नया और मौलिक जोड़ सके, सच्चे अर्थों में आचार्यत्व के अधिकारी बन सके।

प्रगतिशील समीक्षकों की पिछली पीढ़ी की बात तो नहीं करूंगा परन्तु अपनी और अपने बाद की पीढ़ी के समीक्षकों के सन्दर्भ मे कहना चाहूंगा कि जिस वैचारिक तैयारी के साथ हमें अपने सामने खड़ी चुनौतियों के दायरे में उतरना था शायद वैसी वैचारिक तैयारी हम नहीं कर सके। चुनौतियां हमारी सामने बहुविध रहीं और हैं—एक ओर परम्परागत काव्यशास्त्रीय चिन्तन और जीवनदृष्टि के नाम पर हमारे सामने सामंती अभिजातवर्गीय मानसिकता से प्रेरित शास्त्र और उसके हवाले है, भाववादी दर्शन से प्रेरित जीवनादर्श है, सारा सामाजिक ढांचा सदियों पुरानी अभिजात मानसिकता पर आधारित है, दूसरी ओर आधुनिकता और नएपन के नाम पर पश्चिम की पतनशील जीवनदृष्टि तथा कला और साहित्य के प्रतिमान हैं, साहित्य तथा कविता को जिन्दगी के प्रगतिशील प्रयोजनों से काटकर उन्हें अमूर्त सौन्दर्य के, अर्थहीन शब्द व्यापार के कुहासे में गुम कर देने की साजिशें हैं, व्यक्तिवाद, स्वातंत्र्य तथा रचना स्वातंत्र्य की चालभरी दलीलें हैं, और हमें इन सबसे निपटना है। हम इन चुनौतियों से इस सारे दौर गुजरें हैं और उनसे जूझने के क्रम में अपनी और अपनी काव्य तथा जीवन दृष्टि के सामर्थ्य की खरी पहचान भी कराई है, परन्तु यह सब अपेक्षित रूप से नहीं हुआ है,परम्परा के प्रति अपने नजरिए के बावजूद मार्क्सवादी की सारी समझ के, हमने एक लम्बे समय तक अस्पष्टताओं में उलझाए रखा और उसका सही मूल्यांकन नहीं कर पाए। इससे

हमारी अपनी मूलवर्ती दृष्टि भी आरोपों के दायरे में आई और हम गलत समझे गए। परम्परा को जाने बिना, हमने उसे प्रायः उपेक्षणीय माना, काव्य शास्त्र की परम्परागत मान्यताओं को बिना उस काव्यशास्त्र में सही दखल के, हमने अमान्य किया और समकालीन पश्चिम की पतनशील दार्शनिक रुझानों का विरोध करते हुए आधुनिक जीवन के हर उस पहलू को उन रुझानों से प्रेरित माना जिससे व्यथा, दर्द, निराशा, अकेलेपन आदि के सन्दर्भ गहरी मानवीय जमीन पर ठेठ अपने परिवेश से प्रसूत होकर उभारे गए थे। हमने मार्क्सवाद की शब्दावली को उत्साह से अंगीगार किया और सही अंगीकार किया परन्तु अपनी परम्परागत आलोचनात्मक शब्दावली को अहेतुक माना। हमने हिन्दी आलोचना की अपनी परम्परा को भी ठीक से नहीं समझा और ना ही नए सन्दर्भों में उसे विश्लेषित करने की कोशिश की पश्चिमी आलोचकों का नाम और उनके कथनों के सन्दर्भ हमने लिए परन्तु हिन्दी के अपने लेखकों को, उनके सार्थक मंतव्यों को हमने बहुत संकोच के साथ कभी कभार ही स्थान दिया। यह तो पिछले वर्षों में एक नया उत्कर्ष हमने अपने काम को दिया है और अपनी जातीय परम्परा को रेखांकित करना शुरू किया है जब डॉ० रामविलास शर्मा जैसे समीक्षकों ने एक के बाद एक अपनी कृतियों में हिन्दी की अपनी जातीय परम्परा को, उसकी यथार्थवादी-जनवादी चेतना को व्याख्यायित और विश्लेषित किया और हमारे सामने हिन्दी नवजागरण का एक नया परिदृश्य खुला। इस सन्दर्भ में विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का अपनी काव्यशास्त्रीय परम्परा की मार्क्सवाद के आलोक में किया अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। आज हमें अपनी प्रगतिशील काव्य दृष्टि का सम्बन्ध हिन्दी आलोचना की अपनी विरासत से जोड़ने की ज्यादा जरूरत है ताकि हम साहित्य की अपनी जातीय चेतना को अधिक निकटता से जान और समझ सके तथा मार्क्सवाद की बुनियादी मान्यताओं को अपनी इस जातीय जमीन में अधिक व्याख्यायित कर सकें।

प्रगतिशील समीक्षा से एक अन्य अपेक्षा हम पराम्परा के सही मूल्यांकन के सिलसिले में करते हैं। समूची परम्परागत भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हमें विचारों के, अपने विचारों के, नए आलोक में परखना है, उसके उन बिन्दुओं को रेखांकित करना है जो आज भी हमारे लिए प्रासंगिक हैं और हमारे आज के प्रयोजनों को ताकत और मदद देते हैं। हमें इस परम्परा को उसी मानसिकता के पंडितों के हाथ नहीं सौंप देना है जिस मानसिकता की वह उपज है, कारण एक खास मानसिकता की उपज होते हुए भी वह उस मानसिकता का अतिक्रमण करते

हुए अपने वृहत्तर संदर्भों के साथ हमसे कहीं जुड़ती भी हैं। विश्वंभरनाथ उपाध्याय का कार्य प्रारम्भिक कार्य है, हमें इस कार्य को आगे बढ़ाना है ताकि इस परम्परा का जो अंश हमारी विरासत है, उसे हम रेखांकित कर सकें, उसे अपने आगामी प्रयाण के साथ जोड़ सकें। इसी प्रकार भारतीय साहित्य की तथा हिन्दी साहित्य की अपनी परम्परा को भी हमें अपने विचारों के आलोक में देखना है तथा उसे भी रूढ़िवादियों की 'मोनोपाली' के रूप में उन्हें ही नहीं सौंप देना है हमें उसे पहचानना उसकी जमीन पर है परन्तु व्याख्यायित अपनी जमीन पर करना है तथा उसका वह सब एक विरासत के रूप में गौरव के साथ लेना है जो सार्थक और कालजयी है। उसमें ऐसा है, यह हम जानते हैं। हमारे पास वह वैज्ञानिक विवेक है जो हमें उससे परिचित कराए तथा उसके जीवंत अंशों को पहचनवाए। उसी का उपयोग हमे करना है।

हमें अपने समय की सर्जना से भी सीधा टकराना है। वह हमारे समय की चीज़ है अतः वह हमारे लिए सबसे अधिक प्रयोजनीय है। उस पर पड़ रहे तमाम प्रकार के अवांछनीय दबावों को उनके स्रोतों के साथ हमे जांचना है, अपने समय के सामाजिक संदर्भों में उसे देखना है, और फिर उसकी मूल्यवत्ता को रेखांकित करना है। अपने समय की सर्जना से उदासीन होकर, उसे उपेक्षणीय मानकर हम अपनी आलोचना दृष्टि की साख नहीं बना सकते। हमें इस सर्जना को अपने साथ लेकर चलना है, उसकी प्रतिगामी रुझानों का पर्दाफाश करते हुए उसके उन सूत्रों की ताईद करनी है जहां वह प्रतिगामिता से उबरने की कोशिश कर रही है तथा हमसे जुड़ने के उपक्रम में है। अपने विचारों की धार तथा ताप को न खोते हुए भी हमें इन विचारों को संयत होकर, उनकी पूरी क्षमताओं के तहत उपयोग में लाना है। यदि हम ऐसा कर सके तो निश्चित रूप से अपनी आलोचना और आलोचना दृष्टि को आज की सबसे प्रभावी आलोचना दृष्टि के रूप रेखांकित मैं कर सकेंगे, उसे विश्वसनीय और प्रामाणिक बना सकेंगे। ये बातें मैं अपनी पीढ़ी तथा अपने बाद की आलोचक पीढ़ी के लिए ही कह रहा हूँ, जिसमें अपनी सारी कमियों के साथ, अपने आत्मावलोकन के क्रम में, मैं भी शामिल हूँ।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र से :

एक साहित्यचिन्तनात्मक साक्षात्कार

—डॉ. गोविन्द रजनीश

गो. रजनीश : पंडितजी ! आपने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ लिखी हैं। 'लोकप्रिय कवि अज्ञेय' की भूमिका और 'रीति विज्ञान' काफी चर्चित भी रहे हैं। अपने आलोचनात्मक लेखन की भूमिका और महत्त्व के बारे में स्वयं क्या सोचते हैं ?

वि. नि. मिश्र : अपने महत्त्व के बारे में मैं विचार नहीं करता। मैं उसी आलोचना को महत्त्वपूर्ण मानता हूँ जो साहित्य की सृजनशीलता को व्यक्त करे। रस-ग्रहण में बाधक न होकर सहायक हो। मैं यह नहीं कहता कि आलोचना में प्रशंसा हो। कमियों का संकेत होना आवश्यक है जिससे सम्पूर्ण भाव और साहित्य का चित्र उपस्थित हो सके। इसके साथ ही दोष के परिमार्जन पर बल तथा दोष किन परिस्थितियों में उपजा है, इसकी सहानुभूतिपूर्ण पड़ताल भी होनी चाहिए। दूसरे, साहित्य के दो पैमाने हैं–एक सार्वभौम–जो यह देखता है कि मनुष्यमात्र देश और इतिहास के बाहर कितना चित्रित हुआ है। दूसरा यह है कि सम्बोध्य या सामाजिक अपनी आकांक्षा, भूमिका या परिवेश से कितना जुड़ा है। दोनों को छूती रचना या आलोचना श्रेष्ठ होती है। जिन्होंने एक को अपना कर अपने युग को लाद देना चाहा है, वहीं उनकी आलोचना अपने रास्ते से अलग हो गई है। दोनों आयाम सामने रखकर कवि या रचनाकार के साथ अत्याचार न होगा।

प्रश्न : आप आस्वादपरक आलोचना और शैली वैज्ञानिक आलोचना के पक्ष धर रहे हैं। बहुत से लोग इन्हें समीक्षण के लिऐ अपर्याप्त सिद्ध करते रहे हैं। समकालीन स्थितियों के दबाव में जिस प्रकार का साहित्य लिखा जा रहा है, क्या इनको उसके मूल्यांकन के लिए उपयुक्त समझते हैं ?

उत्तर : साहित्य की आलोचना साहित्य से उद्भूत होती है। साहित्य पहले है। आलोचना बाद में है। साहित्य पढ़कर ही आलोचना निर्गमित होनी चाहिए।

ग्रास्वादपरक ग्रालोचना का उद्देश्य पाठक को रचना की ग्रोर करना होता है। पाठक की संसक्ति ग्रौर सम्पृक्ति को जगाना होता है। इससे साहित्य के अध्ययन की भूमि तैयार होती है।

साहित्य इकहरी चीज नहीं, वह दोहरा कर्म या दायित्व है जो अपने को दीप्त करता है, पाठक को भी। जो यह नहीं कर पाता, उसे अपर्याप्त मानता हूं। मैं अपने को ग्रालोचक नहीं, अच्छा पाठक मानता हूं। चाहता हूं ग्रालोचक शब्दों का महत्त्व समझे। शैलीवैज्ञानिक ग्रालोचना एक मात्र ग्रायाम नहीं, एक ग्रायाम है। दूसरा भी एक ऐतिहासिक पक्ष है। रीतिकाल ग्रौर पंत की सौन्दर्याभिव्यंजना को उस ऐतिहासिक पक्ष के समाहित करने पर ही देखा जा सकता है। 'जुही की कली' से 'सांध्य काकली' तक अपने में कवि (निराला) की बनावट कैसे ग्राई? इसे उस ग्रायाम से देखा जा सकता है। स्थितियों का दबाव साहित्य पर सीधे न पड़ कर व्यक्तियों पर पड़ता है। घरिया की तरह साहित्य में मनुष्य के ग्रनुभव पकते, जमते ग्रौर तैयार होते रहते हैं। यदि इस प्रक्रिया से साहित्यकार नहीं निकलेगा, तो उसका लिखना नकली होगा। नकली मार्क्सवादी ग्रालोचक से मेरा मतभेद यही है कि वह इतिहास को पहली चीज मानता है, मनुष्य के ग्रनुभव पर कम बल देता है। जबकि ग्रादमी का ग्रनुभव जरूरी है। ग्रादमी के ग्रनुभव में इतिहास को गहराई से उतरना चाहिये। साहित्य के लिए दोनों पक्ष जरूरी है।

भाषा की सम्भावना को देखे बिना लिखने में भी सार्थकता नहीं होती। सहजता का ग्रर्थ यह नहीं कि ग्रभ्यास न करें। ग्रनुभव के दौर से गुजरे बिना सहजता ग्रा नहीं सकती।

प्रश्न : दूसरों की राय ग्रापकी ग्रालोचना के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रस्त हो सकती है। ग्रापको अपनी कौन सी ग्रालोचना विशेष रूप से पसंद है? ग्राज तक मूल्यांकन का ग्राधार विशुद्ध रचना धर्मिता न होकर, 'समूहपरक' ग्रौर सम्बन्धपरक होगया है। क्या ग्राप अपनी ग्रालोचनात्मक प्रतिभा के मूल्यांकन से संतुष्ट हैं?

उत्तर : प्रत्येक व्यक्ति के राग द्वेष ग्रौर लगाव होते हैं। रुचि भी होती है, साहित्य रचना में राग-द्वेष का ग्रतिक्रमण करता है। वह यह जानता है कि क्या यह सबके ग्रनुभव की चीज है? सबके ग्रनुभव में कल्मष ग्रौर चिपचिपाहट नष्ट हो जाती है। देखना यह होता है कि मेरी पसंद अकेली है या सबकी है? सबके स्तर पर सोच श्रेष्ठ होती है।

जैसा कि मैंने कहा मैं मूलतः न अपने को आलोचक मानता हूं न ही काव्य-शास्त्री। मैं पूर्वाग्रहों की चिन्ता भी नहीं करता, उनसे बहुत उद्वेलित भी नहीं होता। ऐसा छुईमुई भी नहीं हूं कि प्रभावित हो जाऊं।

साहित्य की समझ और मनुष्य की समझ एक मूल्य है, निरा विलास नहीं। परिश्रम करना' सफल होना, उद्देश्य नहीं होता। मूल्य-प्रक्रिया के दौरान विचार करके व्यक्त करना ही प्रमुख उद्देश्य होता है।

मैं पेशेवर आलोचक नहीं हूँ, बहुत कम आलोचनाएँ लिखी हैं। भूमिकाओं और समीक्षाओं से बचना, अध्यापक होने का धर्म समझता हूँ।

मैं समकालीन साहित्य की आलोचना नहीं करना चाहता। कतराता नहीं हूं पर मैं उसे परिपक्व नहीं मानता। जब तक वक्त गुज़र न जाये, रचना की परीक्षा हो नहीं सकती, होती नहीं। धीरे-धीरे उसे रगों में भिदना (बिंधना) चाहिए। कवि सम्मेलन में लोग तरन्नुम में कविता पढ़ते हैं, उसका असर देर तक नहीं रहता। साहित्य वह है जिसे बार-बार दोहराया जा सकें। बार-बार रुचि उत्पन्न कराई जा सके। वह रचना शोध-निबन्ध या समीक्षा नहीं है। उसमें जोड़ा जा सकता है। बुद्ध ने कहा है कि जिस नाव से पार करते हो, उसे जला डालो। पुस्तक को पढ़ा और उसे भुला दिया। वह साधन है, साध्य नहीं, उसे भुला डालो। आंखिन देखी और पोथी का अन्तर समझता हूं। वहां से निजी अनुभव में लौटना होता है जहां पिसाई होती है, जहां पिसाई के बगैर वह अनुभव सबका नहीं हो सकता। तुलसी दास ने भी कहा हैं :

"हैं श्रुति विदित उपाय सकल पर केहि-केहि दीन निहोरैं।
तुलसिदास यह जीव मोह रजु, जोई बांध्यो सोइ छोरैं॥"

प्रश्न : आपने जो लिखा है—बहुत अच्छा लिखा है। उससे आपकी पहचान और प्रतिष्ठा हुई है। लेकिन इस बारे में आलोचकों का व्यवहार रूखा रहा है, उसके विषय में आपने क्या सोचा ?

उत्तर : सच यह हैं, मैंने नहीं सोचा, यह भ्रम है कि रचना की प्रतिक्रिया आलोचक में मिलती है। वह पाठक या भावक से मिलती हैं। वही काटता-छांटता है। पेशेवर आलोचक की राय से हँसी आती है। जो दूसरों ने लिखी', उसी पर फिर लिख दिया। सच यह है कि वह अन्विति की तलाश नहीं करता। इससे मनोरंजन ही होता हैं। जबकि भावक की 'प्रतिक्रिया अपील करती है। वास्तविक रूप में मैं यह मानता हूँ कि रचनायें 50 वर्षों के बाद उसकी सही आलोचना होती है। परीक्षा पहले होती नहीं, भौतिक मृत्यु के बाद होती हैं। अधिकतर आलोचना

स्तुतिपरक या निन्दापरक होती है। पहले आलोचना में पूरी पंक्ति को समझकर दोष बताये जाते थे। अब होता यह है कि या तो किसी को उठा दो या तुरन्त गिरा दो। तब रचनाकार से ममता नहीं, रचना से ममता होती थी। प्राय: मुझे पाठकों या भावकों के पत्र मिलते रहते हैं। उनसे झनझनाहट होती है। वे शिकायत भी करते हैं पर वह शिकायत आत्मीय लगती है। गहराई में चले गये तो श्रम सार्थक प्रतीत होता है। पाठकीय प्रतिक्रिया का एक रोचक प्रसंग है ''''राहुल जी कौतुक प्रिय थे। उनके पास हमारे रिश्ते के एक चाचा साहित्य-चर्चा के लिये आया करते थे। उन्हीं दिनों 'शेखर एक जीवनी' छप रहा था। अज्ञेयजी आये हुये थे। उनका बिना परिचय दिए राहुलजी ने चाचा से पूछा—"उपन्यास कैसा लगा, चाचा ?" चाचा बोले—"क्या बताएँ ? मिलते तो चार जूते लगाते। शेखर को कहीं का न रखा। राहुलजी ने कहा—पाठक की पात्र के साथ सहानुभूति हो जाये, वह कुछ हो जाये, तब समझ लेना चाहिये कि निश्चय ही अच्छा उपन्यास है।

आज के आलोचक पहले ही निर्णय किये होते हैं कि यह इस खाने में है। वह उस खाने में। हमें ऐसे आलोचकों की चिन्ता नहीं है।

प्रश्न : आपकी सामान्य प्रतिक्रिया पेशेवर आलोचकों के प्रति है। वे दो या तीन तरह के हैं। एक वे हैं जिनका विरोध विचार-धारा को लेकर है–जैसे आप अज्ञेय के साथी रहे हैं, जो साम्यवाद विरोधी हैं। इस समय देश के सामने जनमुक्ति का प्रश्न है। इसलिए मार्क्सवादी आलोचकों ने उपेक्षा की, प्रहार किये और कटु अभिमत दिए।

उत्तर : ''''''''बीच में बात काट दूँ—मेरी उपेक्षा करने वाले गैर मार्क्स-वादी भी कम नहीं हैं। वे तथाकथित आधुनिकतावादी या तटस्थतावादी हैं।

प्रश्न : आपने साम्यवादी देशों रोमानिया और वियतनाम की यात्रा की। अपने यात्रा-विवरण में आपने कहीं अनुकूल टिप्पणी नहीं की। उसमें कहीं सहृदता नहीं थी। क्या यह विचारधारा का प्रश्न था ?

उत्तर : मैंने वियतनाम पर सर्वाधिक लिखा। रोमानिया के लोगों के आधार पर विवरण लिखा। वह (संस्मरण या यात्रा-वृत्त) रोमानिया पर नहीं था, रोमानिया के कुछ लोगों पर आधारित था। प्रश्न यह है कि कुछ लोग ऐसा मान बैठते हैं, क्या किया जाये ? मैं राहुलजी के साथ काफी समय रहा हूं। केदारनाथ अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, नामवरसिंह, अमृतराय, श्रीपतिराय, नेमिचन्द्र जैन और प्रभाकर माचवे के साथ भी पर अज्ञेय की 'स्थिति' भिन्न है

उन्होंने एक भायप का निर्वाह किया है वे भाई हैं। मैंने शिवरानी से पूछकर प्रेमचन्द की जीवनी लिखी। 'गोदान' पर लेख लिखा, ग्रमृतराय ने लिखा कि मैं प्रेमचन्द के बारे में उतना जानता हूं, जितना ग्रन्य कोई नहीं। सबसे मैत्री रही, पर वैचारिक स्तर पर मतभेद रहा। वैचारिक स्तर पर ग्रज्ञेय, धर्मवीर भारती और श्री पाण्डे (Cultural freedom) की ग्रालोचना की। व्यक्ति-स्वातंत्र्य ग्रांदोलन का ग्रपने शास्त्रीय ढंग से विरोध किया। विषय की गुणवत्ता के ग्राधार पर विचार व्यक्त किए और व्यक्तिगत सम्बन्धों को ग्रलग रखा और उनके निर्वाह का प्रयत्न किया। मैं व्यक्तिगत सम्बन्धों के निर्वाह को महत्तर माननीय मूल्य मानता हूँ। कहीं व्यक्तिगत ग्राक्षेप हुग्रा तो बुरा भी लगा। पत्नी के सन्दर्भ में भारती (धर्मवीर) की ग्रालोचना की। ग्राग्रह किया कि बेटी (कान्ता से उत्पन्न पुत्री को) को पास रखो। गरिमा और सुख से रखो। हमने पारिवारिक दृष्टि सामने रखीं। पारिवारिक दायित्वहीनता का विरोध करता हूँ। जिन्होंने मेरे व्यक्तिगत सम्बन्धों का निर्वाह नहीं किया उनके प्रति मेरे मन में वैमनस्य नहीं है। ग्राक्रोश भी होता है तो उपेक्षा करता हूँ। शत्रुता की भावना नहीं रखता। विशेषतः उनसे जिनसे एक बार जुड़ चुका हूँ।

मैं मसिजीवी नहीं—राजेन्द्र बाबू की माग्रा पर लिखा था कि जनता क्या ग्रपेक्षा करती है ? फक्कड़ भाव से लिखा। व्यक्ति का महत्त्व न ग्राज है, न तब था। लेखक की ग्रसहमति हमेशा बगावत नहीं होती। जनतंत्र में लेखक के स्वतंत्र ग्रहं की भी ग्रावश्यकता है। उसके बिना पनप नहीं सकता। वह ग्रहं व्यक्ति का नहीं, भाषा और विचार के स्तर पर साझेदारी के लिए ग्रर्पित लेखक का हैं।

प्रश्न : ग्रापने दो संग्रह दिये—"साहित्य का प्रयोजन" और "ग्रंगद की नियति"—पढ़े। उनमें लोक प्रेम छलछलाता है। उनमें कृत्रिम नगरजन्य व्याधियों का विरोध, सहज मानव की प्रतिष्ठा, मनुष्य की खोज है और उनमें दिन पर दिन सिकुड़ते ग्राम्य जीवन की उत्कृष्टताऐं भी हैं। यांत्रिकता और नगरीयकरण से बढ़ती हुई चिंता है। इसमें जो लोक प्रेम और ग्राम्य जीवन प्रेम है, उसे लोक मंगल के पक्षधर ग्रालोचकों ने क्यों नहीं देखा ?

उत्तर : मैं क्या उत्तर दूं ? ग्रालोचकों ने मुख्यतया कविता और कहानी दो ही विधाग्रों को देखा है, ग्रन्यविषय को ग्रनदेखा किया है। वे निबन्ध को कम देखते हैं। पाठ्यक्रम में जैसा पढ़ाते हैं, वैसा पढ़ाते है। जैसा पढ़ाते हैं, उससे हँसे या रोयें, समझ में नहीं ग्राता। उसके चलते वे रचना नहीं पढ़ते। श्री विजयदेवनारायण साही का यह कथन था कि मुझमें ग्राम्यजीवन के प्रति नोस्टेलजिया है। नामवर सिंह का कथन है कि मैं ग्रतीतजीवी हूँ।

प्रश्न : जबकि नामवर ग्राम्य जीवन से आये हैं !

उत्तर : वह ग्राम्य जीवन पर लिखते हैं पर समग्र दृष्टि से विचार करके नही।धूमिल पर आलोचना लिखी–ग्रामीण जीवन के प्रति मोह तो हम दोनों का है। वह मोह नहीं है, जड़ों की पहचान की लाचारी है। किन्तु उसमें सामाजिक दृष्टि का भी उल्लेख है। दूसरे संग्रह की भूमिका में आक्रोश के हेतुओं पर ध्यान दिया है। पहले संग्रह में कविता की मीमांसा का समय नहीं था।

प्रश्न : आप संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित हैं। भाषाशास्त्र, दर्शन और व्याकरण में गति है। आप चाहते तो आलोचना को मोड़ दे सकते थे। अधिकांश आलोचकों का ज्ञान न संस्कृत का है और न पश्चिम के साहित्य का। नगेन्द्र में संस्कृत का आधार नहीं–हजारी प्रसाद में था–पर पश्चिम का नहीं था।

उत्तर : मैंने अंग्रेजी में संस्कृत के काव्य पर निबन्ध लिखे–शोधपरक। कुछ अनूदित हुए हैं। मेरी जिन्दगी व्यस्त, भागदौड़ की रही है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने की योजना हजारी प्रसाद जी के साथ बनी थी, जो पूरी नहीं हो सकी। संस्कृत काव्य का इतिहास लिख रहा हूँ। हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों और जमीन पर संस्कृत, फारसी और लोककाव्य का प्रभाव है। मैं, अतीत जीवी नहीं हूं। अगर वेद का प्रतिफल "रामचरितमानस" में हुआ तो क्या तुलसीदास अतीतजीवी हो गये ? निराला ने तुलसीदास पर लिखा, क्या वे अतीत-जीवी हो गये? मैं अतीत के प्रति Conservative नहीं। अतीत गया गुज़रा नहीं है, वह है जो निरन्तर चला आ रहा है।

प्रश्न : आपने एक बार कहा था कि मैं सनातनी दृष्टि का समर्थक हूं। जो प्रवाही, अजड़, गतिशील, नितनूतन और सनातन है। सनातनता और आधुनिकता की संगति कैसे हो ? आधुनिकता का आधार समकालीनता है। पर एक मात्र कसौटी है निर्ममता से जांच कि कितना ग्राह्य है, कितना नहीं, इसकी जांच अनिवार्य है।

उत्तर : आधुनिकता और समकालीनता में अन्तर है। आधुनिकता में नैतिक दृष्टि रहती है, समकालीनता तो समय के प्रति पूरा अर्पण है। परम्परा में सनातन ग्रन्थों का प्रताप रहता है। यह गलत दृष्टि है। परम्परा शब्द Tradition का गलत अनुवाद है। ज्यों की त्यों, यथावत् हस्तान्तरण हो जाये, यह परम्परा का अर्थ नहीं जबकि Tradition का यही अर्थ है। परम्परा वह है जो उत्कृष्ट से उत्कृष्ट तर हो। उसमें त्याग और ग्रहण होगा। उसमें निरन्तरता बनी रहेगी।

अतः 'क्लैश' या मुठभेड़ परम्परा से नहीं, इतिहास से है। इतिहास से बंधे पश्चिम-समाज से है। एशिया में चीन से है, पश्चिम में यूरोप (ग्रीस को स्रोत मानता है) से। ऐतिहासिक उद्देश्य की पूर्ति हुई वह बाहर हुई, भारत में परम्परा है। अशोक ने माना था, पुराण प्रकृति हैं। 'लॉ' है चलेगा। धर्म चलेगा–समष्टि द्वारा स्वीकृत धर्म है, वह चलेगा। राजा और ब्राह्मण साधक हैं। यह धर्म इतिहास को नहीं मानता। धर्म मिथ को मानता है। इतिहास को नहीं। वह दृष्टि देश और काल को पहचानते हुए बंधेगी नहीं। हमारे देश में न इतिहास बद्धता है और न प्रतिशोध वृत्ति विकसित हुई है। पूर्वजों में वैरी के प्रति आक्रोश हो पर उनकी सन्तान के प्रति प्रतिशोध की भावना नहीं रही। सब मिल-जुल कर रहें। अंग्रेजों ने यहाँ इतिहासबद्ध दृष्टि पनपाई। आर्य द्रविड़, हिन्दू-सिख सब अलग-अलग हैं। इतिहासबद्धता के कारण सिख अलग हो रहे हैं। इतिहास निरपेक्ष दृष्टि धर्म को विश्वास से अलग मानती है। इंडोनेशिया में मरने पर रामायण की पंक्तियाँ उद्धृत करने को चुनते हैं। वे धर्म को सार्वभौम मानते हैं। वास्तव में परम्परा का विरोध आधुनिकता से नहीं क्योंकि परम्परा रूढ़ि नहीं है। आधुनिकता परिवर्तन की प्रामाणिक या उपयोगी पहचान हैं।

प्रश्न : यह अन्तर बहुत अच्छा है परन्तु जहाँ इतिहासबद्ध दृष्टि नहीं होती—वे मिथकीय हो जाते हैं। विवेकवाद इस मिथकीय दृष्टि से विकसित नहीं हुआ। वह अंधविश्वास नहीं। मिथक से पुनर्जागरण कमजोर पड़ता है. आदमी पौराणिकता में फंसा रहता है।

उत्तर : जिन्होंने मिथकीय को पुराना मान लिया, उनसे हमारा विरोध है मिथकीय दृष्टि में पुराण या पुराना नया बन कर जाता है। सूर्य उदित होता है - नया-नया आता है, उषा के द्वारा उल्लास व्यक्त करता है। लेकिन यह जीवन की घटना या अस्तित्व का अंग नहीं बनती।

प्रश्न : बौद्धिकता का क्या होगा ?

मिथक के भीतर बुद्धि का अंश किस प्रकार है, इसे एक उदाहरण से देखा जा सकता है। 'महाभारत, में अजगर ने युधिष्ठर से प्रश्न किया - हजार बार वर्णसंकर हुए फिर जाति का निश्चय कैसे हुआ ? युधिष्ठर ने उत्तर दिया - "मनुष्य की उच्चता का आधार शील है। प्रमाण वेद के कर्मकांड का दिया। यज्ञ, जब होता है तो अंत में 'यज्ञा ऽमहे' (न वह यज्ञ कर रहा, न मैं कर रहा हूं, हम कर रहे हैं) कहा जाता.

है। 'हम' सोचते हैं, यही शील है। यह महं प्रज्ञा का वयम् प्रज्ञा में परिणत होना है। विवेक से शील का संसर्ग वयम् प्रज्ञा है। केवल विवेक या वैज्ञानिकता भहंकार में परिणत होता है। भहं केन्द्रित स्वतंत्र बुद्धि विनाश करती है। १६ वीं. शताब्दी का चिंतन इतिहासबद्ध चेतना के कारण है। पुनर्जागरण काल में कमी यह है कि विवेक में भहम् है। उन्होने संपूर्णता नष्ट कर दी। उसकी दृष्टि खण्डपरक थी, भतः पुनर्जागरण अधूरा था, वह भब होगा। हम दयानंद भौर राजाराममोहन राय का पुनर्जागरण खंडित मानते हैं।

प्रश्न : वैज्ञानिक चिंतन की पौराणिक मिथकीय दृष्टि के साथ संगति कैसे बनेगी ?

उत्तर : भारत में संगतिपूर्ण पूर्णदृष्टि है। १६ वीं शती का विज्ञान, भौतिक विज्ञान दूसरे प्रकार की संपूर्णता की बात करता है। एक जीवन का दूसरे जीवन में विकास। भाधुनिक जीवविज्ञान मानता है कि प्रत्येक छोटे-छोटे प्राणी की निश्चित भूमिका है। हम इसे भूल जाते हैं। संरचना की समग्रता पर भारतीय दृष्टि ने बल दिया। विश्व को जो उपभोग्य मानता है, वही भब परिवेश की सुरक्षा पर सोचता है। परन्तु वह वैज्ञानिक दृष्टि बदली है। हमारे यहाँ के लोग न्यूटन से बंधे हैं, हाइजन वर्ग, भोपेन हाइमर भौर भाइन्सटीन से नहीं। इनका चिन्तन उन्मुक्तता देता है, उसे सम्बद्ध नहीं करता। यही वैज्ञानिक दृष्टि से सोचना है। भारतीय पुनर्जागरण का युग भब भाया है।

हम साम्यवादी व्यवस्था के गुण-दोषों से परिचित हुए हैं। यूरोप की स्थितियों से भौर दर्शन से प्रभावित हुए हैं। बिना नैशान्धकार पाये भालोक का भागमन नहीं होता। भाधुनिकता का नशा भब उतर रहा है।

प्रश्न : भापने इतनी गहराई से सोचा। किसी से भाच्छादित नहीं, मौलिक सोचा। इससे दिशा उभरी। दो विकल्प - पूंजीवादी भौर साम्यवादी ------।

उत्तर : तीसरा हिन्दुस्तान का भपना विकल्प होगा। भपने मॉडल का प्रश्न है---- है भी, नहीं भी, संभावनाएँ देखते हैं। निरन्तर परखते हैं। इस तंत्र को पार करके सोचना तो दुर्निवार है। क्या मनुष्य इतना भवश है कि वह उसका शिकार हो जाये ? भीतर देखते हुए - एक संभावना या विकल्प यह जो मिला है तुम्हारा नहीं है, सबका है।

प्रश्न : भापका चिन्तन सद्भावनापरक या भार्ष है। त्याग से रहें, समष्टि के साथ रहें। गांधीजी के सिद्धांत यहीं के थे। उनका ट्रस्टीशिप का सिद्धांत नहीं चला,

इससे स्वामित्व का संघर्ष रहा। ऐसे में हम क्या कर सकते हैं ?

उत्तर : यह लिखकर नहीं हो सकता। सामाजिक स्तर पर इसके दूसरे उपाय करने होंगे।

प्रश्न : प्रश्न यह है कि २०-२५ प्रतिशत लोग भोग रहे हैं-शेष सह रहे हैं, भाग रहे हैं। क्या वैज्ञानिक तरीकों से हम बदल रहे हैं? आप लोहिया जी के प्रबद्ध साथी रहे हैं। उन्हें समझा है। समूह क्या करें ? चुनाव से कुछ नहीं होता। ऐसे समाज में जहां शोषित, प्रवंचित और पीड़ित है, उसमें क्या करे ? कहीं ये बातें सामूहिक परिवर्तन में बाधक हैं, इसलिये उग्रता आ रही है। आक्रोश उत्पन्न हो रहा है। क्या स्पष्ट उत्तर या समाधान है ? लोग पराजित हो रहे हैं, क्या हो सकता है ?

उत्तर : मैं इस स्थिति के लिए क्रांति या तैयारी का अभाव मानता हूँ। बाहर की शक्तियाँ इस षड़यंत्र में सक्रिय हैं। उसमें रक्त की उबाल की क्रांति हो, तो विफल होगी। जिस प्रकार के मंथन की आवश्यकता है, वह नही हो रहा है। जानना जरूरी है कि कौनसी चीज हमेशा तोड़ती है। जो हो रहा है, उबालपरक है। इससे निराशा होती है कि तैयारी नही है। उसकी विफलता की चिन्ता नहीं। महाश्वेता के उपन्यासों का इसलि ये प्रशंसक हूं। गांधी के नक्शे को मानता हूँ— बलिदान के बिना वह भ्रामक हो जाता है। हम बिना तैयारी के सामंतवाद में उतर गये। बुद्धिजीवी के साहस के बिना नेतृत्व नही हो रहा। लोहिया जी ने कहा था कि खर्च पर रोक लगनी चाहिये। मूल्यों पर नियंत्रण हो। कोई ऐसा राजनैतिक दल नहीं है जो बिना समझौते के, सम्पूर्ण जनहित की नीतियों को कार्य रूप में परिणत कर सके। दायित्वहीन समझौतापरक दलों की नीतियों से मैं असहमत हूँ।

प्रश्न : यहां एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या साहित्यकार के लिये राजनीति के प्रति आस्था आवश्यक है ? आज जिन्दगी में राजनीतिजन्य जो तनाव हैं, उनसे मुक्त कैसे हुआ जा सकता है ?

उत्तर : राजनीति के प्रति आस्था आवश्यक है। राजनैतिक मतवाद सैद्धान्तिक भूमिका चाहे तैयार करें लेकिन उसके साथ सक्रिय कर्म जरूरी है। इससे 'डिसीप्लिन' आता है। साहित्य में प्रतिबद्धता नही होती तो गलत निर्णय होते हैं, उन्हें 'चैक' नहीं किया जा सकता। तनाव है, सही है। पहले भी रहे हैं। राजतंत्र में कवि मन्त्री थे। गणतन्त्र में भी। साहित्य राजनीति से अलग रहा हो, यह बात

नहीं। लिखने वाले को ऊपर उठना पड़ता है। राजनीति की दृष्टि से जोखिम उठाना पड़ता है। क्या तालस्ताय ने यह जोखिम नहीं उठाया? जारशाही के युग के किसानों का रूप प्रस्तुत किया।

प्रश्न : समकालीन कविता में राजनैतिक सम्बद्धता बढ़ी थी। आक्रोश, असंतोष भी दिखाई दिया था। क्या उसने सामाजिक परिवर्तन या विकल्प की भूमिका निभाई थी?

उत्तर : साहित्य राजनीति का विकल्प नहीं है, जो लोग साहित्य में लड़ते, गरजते-तरजते हैं -- व्यवहार मे नही लाते। साहित्य में सत्ता का विरोध करते हैं- राजनीति में निषेध का साहस नहीं रखते। ऐसा साहित्य बड़ा नही हो सकता। दलबद्ध राजनीति में बहुत कुछ नहीं कहा जा सकता, दल के प्रति आस्था बनी रहती है। सिद्धान्त प्रतिबद्ध राजनीति में जो साहित्यकार के व्यक्तित्व का अंग है, निषेध की गुंजाइश बराबर रहती है।

प्रश्न : इसका अर्थ हुआ विचार और कर्म की स्थिति आदर्श स्थिति है?

उत्तर : हाँ, आदर्श स्थिति है। पर पालन कहां तक करते हैं, यह देखने की बात है। महाकवि देव दरबार की स्तुति भी करते थे परन्तु असली कविता राधा-कृष्ण पर लिखते थे। रहीम ने 'बाबरनामा' का अनुवाद किया तो दूसरे प्रकार की रचनाएँ भी लिखी।

प्रश्न : गद्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा आपने निबन्धों को अभिव्यक्ति का माध्यम क्यों चुना? जबकि निबन्धों का समीक्षाशास्त्र अपर्याप्त और अविकसित रहा है। मुझे लगता है आपकी अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम कविता हो सकता था। क्योंकि आपके ललित निबन्धों में कविता की लय है। सहृदय एवं संवेदनशील होने के साथ आपने विदेशी कविताओं का आस्वादन हिन्दी पाठकों को कराया और हिन्दी कविता के श्रेष्ठ को विदेशी पाठकों तक पहुंचा कर सार्थक प्रयास ही नहीं किया अपितु कविता के प्रति गहरे लगाव को भी व्यक्त किया है। इसके बावजूद 'पानी की पुकार' का कैसा स्वागत नहीं हुआ जो यह संकलन पाने का अधिकारी था? क्या इसमें आपके निबन्धकार के व्यक्तित्व के प्रति रूढ़िग्रस्तता बाधक रही है?

उत्तर : समीक्षा शास्त्र से निर्देश लेकर जो लिखता हो, उससे यह प्रश्न अधिक सार्थक होता, मैं उस तरफ से निश्चिन्त होकर लिखता हूँ। लिखता क्या हूँ लाग लिखवा लेते हैं, कुछ घटित होता है, वह लिखवा लेता है। कविता में दूसरे

प्रकार के दबाव में आकर लिखता हूँ। ये दबाव कम मन पर पड़ते हैं, जब पड़ते हैं तब लिखता हूँ। छपने के लिये संग्रह पड़ा है, व्यवस्थित करने की फ़ुरसत नहीं। वैसे कई उपन्यास और अनुशीलनपरक निबन्ध अधिक लिखना चाहता हूँ। इधर प्रकाशित 'संचारिणी' के तथा 'श्याम रसायन' संग्रह के निबन्ध इसी प्रकार के हैं। लेखक के ऊपर एक ठप्पा लग जाता है, वह बना रहता है, अब उसका क्या करूँ? मैं तो अपने को लेखक ही नहीं मानता क्योंकि मैं पूरा समय लेखन को नहीं दे पाता। अधिकतर तो मैं व्याख्याकार की भूमिका अदा करता रहता हूँ। पर मन जरूर मिला है, निपेधी, वही लिखवाता है।

स्व० डा. इन्द्रनाथ मदान से कमलेश भारती की बातचीत

एक भटका हुआ आलोचक हूँ

—डा. इन्द्रनाथ मदान

कृति की राह से गुजरकर कृति का मूल्यांकन करने वाले डॉ. इन्द्रनाथ मदान अब नहीं रहे। कलम की पैनी मार से अपने-पराये किसी को न बख्शने वाले डॉ. इन्द्रनाथ मदान हमसे बिछुड़ चुके हैं।

अब भी उनकी यादें हमारे पास सुरक्षित हैं।

मार्च, 84 के बाद जब वह पी.जी.आई. से घर लौटे, तब से बराबर उनसे भेंट करने मैं पहुंचता रहा। घर में सेवा करने वाले एक नौकर को छोड़कर जीवन के अन्तिम समय तक पुस्तकें ही उनका सहारा थीं। उनके मेज पर, कुर्सी पर, सिरहाने से लेकर पायताने तक किताबें ही किताबें बिखरी मिलती और किसी शोध-रत छात्र की तरह हर पुस्तक पर उनके रेखांकित निशान, उनकी उत्सुकता, दिलचस्पी का परिचय देते हुये मिल जाते। उनकी अपनी लाइब्रेरी में लगभग दस हजार पुस्तकें एकत्रित हो चुकी थीं जो अन्यत्र दुर्लभ थीं। विशेषकर आधुनिक कहानी, कविता, नाटक आदि पर सभी पुस्तकें उनकी लाइब्रेरी में थी

'हिन्दी की आलोचना की स्थिति' के बारे में जब मैंने उनसे चर्चा उठाई तब उन्होंने कहा था, "स्थिति बड़ी खराब है। वास्तव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता के मानदण्डों को गद्य पर लागू करके बड़ी भूल की, जिसे बाद में नामवर सिंह ने भी दोहराया।"

डा. मदान 'पान, मदान और गोदान' प्रसिद्ध है और इससे यही स्पष्ट होता है कि मुंशी प्रेमचन्द और उनके साहित्य में उनकी बहुत दिलचस्पी थी; उन्होंने बड़े व्यथित-हृदय से बताया था कि आचार्य शुक्ल ने अपने 'साहित्य के इतिहास' में प्रेमचन्द पर मात्र अढ़ाई वाक्य लिखे और उन्हें चलता कर दिया। नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रेमचन्द को गालियां दीं। 'रंगभूमि' उपन्यास पर विदेशी

उपन्यास 'वेनिटी फेयर' की नकल का आरोप लगाया, वास्तव में आलोचकों की सीमायें रही हैं।

फिर वे प्रेमचन्द साहित्य की स्मृतियों में खो गये थे।

डा. इन्द्रनाथ मदान ने स्पष्ट किया था कि वे पहुँचे हुए आलोचक नहीं हैं बल्कि भटक रहे आलोचक हैं जो कहीं पहुँचा ही नहीं।

मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' को सर्वप्रथम डा. मदान ने सोलन में गर्मी की छुट्टियों में पढ़ा और वहीं से मुंशी जी को खत लिखा कि आप शहरी और देहाती जीवन को मिलाने की कोशिश में असफल रहे है, फिर बाद में लगा कि यह ज़रूरी है और एक दूसरे पर आश्रित हैं।

मैंने मज़ाक में कहा, "आपको एक आलोचक होकर अपनी राय बदलते कोई संकोच·······"?

"मैं तो कहता हूँ कि भटका हुआ राही हूं। किसी भी कृति पर राय बदलने में मुझे कोई शर्म नहीं। फिर 'गोदान' को मैंने कई बार पढ़ा।"

आप मुंशी प्रेमचन्द से कभी मिले भी थे?

अब तक याद है, लाहौर में आना था, मुन्शी जी को! सादा तबियत, मालूम नहीं देता था कि यह लेखक हैं·······फटे हुए जूते·······थे वो·······समय से एक घण्टे बाद पहुंचे·······तब लोगों ने समझा कि यू. पी. का कोई 'भैया' आ गया अच्छी तरह याद है·······चारपाई पर बैठे थे, बूट में तस्मे नहीं थे·······उनका पहनावा, उनका व्यवहार·······अन्दर-बाहर बिल्कुल सादा·······वैसे कमलेश, मैंने जीवन में बड़े-बड़े लेखकों से मिलने की कोशिश ही नहीं की, महादेवी से इलाहाबाद में रहते हुए भी नहीं मिला। अब तो वैसे भी साहित्यिक-वातावरण खत्म हो चुका है। और यह बात समझ लो, जब तक किताबें हैं तब लेखक से मिलकर क्या लेना है?

डॉ. मदान से मैंने दूसरे आलोचकों के बारे में पूछा तो उन्होंने काफी खुले और व्यंग्यात्मक लहजे में जवाब दिया था—

—नामवर सिंह लिहाज करने वाला आलोचक है। हाँ, नामवर सिंह कई बार ऐसा करता है·······वे हँसते हुए कह रहे थे, डॉ. नगेन्द्र अपनी राय कभी नहीं बदलता। यह रोमांटिक और मनोवैज्ञानिक आलोचक है। अब लोग रामचन्द्र शुक्ल से अलग हो रहे हैं, उसकी शैली से अलग हो रहे हैं·······कहने के ढंग से अलग हो।

रहे हैं·····वे काव्य के पारखी थे, हालांकि उनकी भी सीमायें थीं। उनका आधार तुलसीदास था·······'समाज-मंगल' या·······वे तुलसीदास के सामने सूरदास को छोटा कवि मानते थे, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सांस्कृतिक व रोमांटिक आलोचक थे, रामविलास शर्मा तो खुले आम मार्क्सवादी हैं। रमेशकुंतल मेघ की आलोचना समाजशास्त्रीय और मिथकीय है।

—और डॉ. इन्द्रनाथ मदान अपनी ही नजरों में कैसे आलोचक हैं ?

वे हँसते-हँसते बोले, "हिन्दी आलोचना में सबके 'बाड़े' हैं, मेरा कोई 'बाड़ा' नहीं है, मैं एक भटक रहा आलोचक हूँ, जो कहीं पहुँचा ही नहीं।"

—जो लेखक आलोचक का कर्त्तव्य भी निभाते है, वे आपको कैसे लगते हैं ?

डा. मदान ने कहा—आलोचकों की सीमाओं के कारण छायावादी कवियों को लिखना पड़ा, 'नयी कहानी' वालों को लिखना पड़ा। बाद में महसूस हुआ कि आंदोलन गलत है। कमलेश्वर ने कह दिया कि नित नयी, वह नयी कहानी ! मोहन राकेश ने कह दिया कि बात गलत थी। राजेन्द्र यादव अकेला चिपका हुआ है। मैं कहता हूं कि कहानी को आधुनिकता की चुनौती ने बदला ! थोड़ा-सा चेहरा बदला और नया नाम मिला ! नामवरसिंह ने ठीक लिखा था कि ईद के चाँद की तरह कहानी कभी-कभी पढ़ने को मिलती है, बस रिपोर्ताज मिल रहे हैं···· कैमरा लेकर चले जाओ····जंगल में वर्तन हैं····भूखे-नंगे हैं····'समांतर' है यह ! कहानी का अर्थ होना चाहिए ! क्यों लिख रहे हो? क्या कहना चाहते हो ? इससे फोटोग्राफी अच्छी होती है !

—आपको नये आलोचकों में किनसे उम्मीदें हैं ?

—परमानन्द श्रीवास्तव, रमेशचन्द्र शाह से ! दोनो सृजनात्मक दृष्टि वाले आलोचक हैं।

विश्वविद्यालयों में शोध-रत छात्रों की कमी नहीं है। इसलिए 'हिन्दी में शोध की स्थिति' पर डा. मदान के विचार जानने के लिए प्रश्न पूछा तो उनका वही अन्दाजे-बयां मुखर हो उठा —

हिन्दी में सब डाक्टर होगए....कुछ कम्पाउण्डर रह गए हैं ! कम्पाउण्डरों के नाम तो गिने जा सकते हैं····डाक्टरों की गिनती नहीं हो सकती ! अब न शोध करने वाले हैं, न शोध करवाने वाले! फायदा सिर्फ टाइपिस्ट को हो रहा है! नौकरी चौकरी क्या मिलेगी ! शोध के लिए····आलोचना के लिए नये-नये हथियार, नयी

उपन्यास 'वेनिटी फेयर' की नकल का आरोप लगाया, वास्तव में आलोचकों की सीमायें रही हैं।

फिर वे प्रेमचन्द साहित्य की स्मृत्तियों में खो गये थे।

डा. इन्द्रनाथ मदान ने स्पष्ट किया था कि वे पहुँचे हुए आलोचक नहीं हैं बल्कि भटक रहे आलोचक हैं जो कहीं पहुँचा ही नहीं।

मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास 'गोदान' को सर्वप्रथम डा. मदान ने सोलन में गर्मी की छुट्टियों में पढ़ा और वहीं से मुंशी जी को खत लिखा कि आप शहरी और देहाती जावन को मिलाने की कोशिश में असफल रहे हैं, फिर बाद में लगा कि यह जरूरी है और एक दूसरे पर आश्रित हैं।

मैंने मज़ाक में कहा, "आपको एक आलोचक होकर अपनी राय बदलते कोई संकोच......"?

"मैं तो कहता हूँ कि भटका हुआ राही हूं। किसी भी कृति पर राय बदलने में मुझे कोई शर्म नहीं। फिर 'गोदान' को मैंने कई बार पढ़ा।"

आप मुंशी प्रेमचन्द से कभी मिले भी थे ?

अब तक याद है, लाहौर में आना था, मुन्शी जी को! सादा तबियत, मालूम नहीं देता था कि यह लेखक हैं......फटे हुए जूते......थे वो......समय से एक घण्टे बाद पहुंचे......तब लोगों ने समझा कि यू. पी. का कोई 'भैया' आ गया अच्छी तरह याद है......चारपाई पर बैठे थे, बूट में तस्मे नहीं थे......उनका पहनावा, उनका व्यवहार......अन्दर-बाहर बिल्कुल सादा......वैसे कमलेश, मैंने जीवन में बड़े-बड़े लेखकों से मिलने की कोशिश ही नहीं की, महादेवी से इलाहाबाद में रहते हुए भी नहीं मिला। अब तो वैसे भी साहित्यिक-वातावरण खत्म हो चुका है। और यह बात समझ लो, जब तक किताबें हैं तब लेखक से मिलकर क्या लेना है ?

डॉ. मदान से मैंने दूसरे आलोचकों के बारे में पूछा तो उन्होंने काफी खुले और व्यंग्यात्मक लहजे में जवाब दिया था—

—नामवर सिंह लिहाज करने वाला आलोचक है। हाँ, नामवर सिंह कई बार ऐसा करता है......वे हँसते हुए कह रहे थे, डॉ. नगेन्द्र अपनी राय कभी नहीं बदलता। वह रोमांटिक और मनोवैज्ञानिक आलोचक है। अब लोग रामचन्द्र शुक्ल से अलग हो रहे हैं, उसकी शैली से अलग हो रहे हैं......कहने के ढंग से अलग हो।

रहे हैं"""वे काव्य के पारखी थे, हालांकि उनकी भी सीमायें थीं। उनका आधार तुलसीदास था"""'समाज-मंगल' या"""वे तुलसीदास के सामने सूरदास को छोटा कवि मानते थे, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सांस्कृतिक व रोमांटिक आलोचक थे, रामविलास शर्मा तो खुले आम मार्क्सवादी हैं। रमेशकुंतल मेघ की आलोचना समाजशास्त्रीय और मिथकीय है।

—और डॉ. इन्द्रनाथ मदान अपनी ही नजरों में कैसे आलोचक हैं ?

वे हँसते-हँसते बोले, "हिन्दी आलोचना में सबके 'बाड़े' हैं, मेरा कोई 'बाड़ा' नहीं है, मैं एक भटक रहा आलोचक हूँ, जो कहीं पहुँचा ही नहीं।"

—जो लेखक आलोचक का कर्त्तव्य भी निभाते है, वे आपको कैसे लगते हैं ?

डा. मदान ने कहा—आलोचकों की सीमाओं के कारण छायावादी कवियों को लिखना पड़ा, 'नयी कहानी' वालों को लिखना पड़ा। बाद में महसूस हुआ कि आंदोलन गलत है। कमलेश्वर ने कह दिया कि नित नयी, वह नयी कहानी ! मोहन राकेश ने कह दिया कि बात गलत थी। राजेन्द्र यादव अकेला चिपका हुआ है। मैं कहता हूं कि कहानी को आधुनिकता की चुनौती ने बदला ! थोड़ा-सा चेहरा बदला और नया नाम मिला ! नामवरसिंह ने ठीक लिखा था कि ईद के चाँद की तरह कहानी कभी-कभी पढ़ने को मिलती है, बस रिपोर्ताज मिल रहे हैं"" कैमरा लेकर चले जाओ""जंगल में वर्तन हैं""भूखे-नंगे हैं""'समांतर' है यह ! कहानी का अर्थ होना चाहिए ! क्यों लिख रहे हो? क्या कहना चाहते हो ? इससे फोटोग्राफी अच्छी होती है !

—आपको नये आलोचकों में किनसे उम्मीदें हैं ?

—परमानन्द श्रीवास्तव, रमेशचन्द्र शाह से ! दोनो सृजनात्मक दृष्टि वाले आलोलक हैं।

विश्वविद्यालयों में शोध-रत छात्रों की कमी नहीं है। इसलिए 'हिन्दी में शोध की स्थिति' पर डा. मदान के विचार जानने के लिए प्रश्न पूछा तो उनका वही अन्दाजे-बयां मुखर हो उठा —

हिन्दी में सब डाक्टर होगए....कुछ कम्पाउण्डर रह गए हैं ! कम्पाउण्डरों के नाम तो गिने जा सकते हैं""डाक्टरों की गिनती नहीं हो सकती ! अब न शोध करने वाले हैं, न शोध करवाने वाले! फायदा सिर्फ टाइपिस्ट को हो रहा है! नौकरी वौकरी क्या मिलेगी ! शोध के लिए""आलोचना के लिए नये-नये हथियार, नयी

ष्ट बहुत जरूरी है ! डा. मदान ने बताया कि भीष्म साहनी ने उनके निर्देशन
ही शोध किया था ।

यहीं से बात हिन्दी कहानीकारों पर आगई ।

भीष्म साहनी के बारे में डॉ. मदान ने कहा कि न बहुत लिखता है, न बहुत
रा लिखता है, न बहुत बनता है—एक स्तर है जिससे बहुत कम नीचे गिरता हूँ !

अज्ञेय, जैनेन्द्र भीतरी जीवन की कहानी नयी, फिर नयी, कहानी, वाले—
भी कोई चीज ठहरती थोड़ी है ! प्रेमचन्द की परम्परा है, विरासत है—पर
हानी जड़ हो जायगी तो मर जायगी ।

डा. इन्द्रनाथ मदान से हुई अनेक मुलाकातों-बातों के दौरान हुई चर्चाओं
ा यह एक टुकड़ा है । डा. मदान अपने अन्तिम समय तक थके नहीं । टूटे नहीं ।
चमुच वे भटके हुए राही की तरह पुस्तकों में—नित नयी पुस्तकों में भटकते रहे।
न्दी ने एक ऐसा आलोचक खो दिया जो आलोचक से अधिक एक व्यंग्यकार था।
नकी आलोचना की छुअन पाने के लिए लेखक तरसते तड़पते रहते थे । पंजाब की
ट्टी और पंजाब के पानी से इतना मोह था कि अपनी वसीयत में लिख दिया कि
झे गंगा में नहीं, मेरी अस्थियों को सतलुज में प्रवाहित किया जाये । गंगा से मेरा
श्ता नहीं जबकि सतलुज से है—

ऐसी अनेक स्मृतियों के साथ—पाठकों से क्षमा-सहित ।

आलोचना की ज़रूरत

—बच्चनसिंह

मेरे व्यक्तित्व के निर्माण में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भूमिकाएँ अविस्मरणीय है। विशेष रूप से आचार्य द्विवेदी की। यदि वे न होते तो जहाँ हूँ वहाँ न होता। हिन्दी के इन दो महान व्यक्तित्वों और आलोचकों का लम्बा जीवंत सम्पर्क अपने आप में बड़ी उपलब्धि है। 'कोई आलोचक बन जाय सहज सम्भाव्य है।'

आप लोग तो अब भी कविताएँ लिखते हैं। विश्वविद्यालय में पहुँचने पर कविता से अपना नाता तोड़ लिया। पर कहानियां लिखता रहा। 42-43 में वाजपेयी जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक होकर आचुके थे। नए लेखकों का एक दल उनके सम्पर्क में आया। वे विश्वविद्यालय में हम लोगों को 'त्रिवेणी' पढ़ाते थे। वे शुक्ल जी की मान्यताओं-मुख्यतः नैतिकता और लोकधर्म के सख्त खिलाफ थे। कम से कम मेरे ऊपर उसका गहरा असर पड़ा।

एम. ए. कक्षा में मैंने निराला पर लघु-प्रबंध लिखने का निश्चय किया। वाजपेयी जी से सलाह ली। उन्होंने कहा कि निराला एक मुश्किल कवि हैं। मैंने कहा कि पंडित जी मैं मुश्किल कवि से जूझना चाहता हूँ। उस समय तक खुद वाजपेयी जी के तीन निबन्ध प्रकाशित थे। डॉ. रामविलास शर्मा का मुक्तछंद पर एक निबन्ध हंस में प्रकाशित हुआ था। निराला जी काशी में ही रहते थे। लेकिन उनकी मानसिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि उनसे सार्थक सम्वाद हो सके। 46-47 में वसंत पंचमी के अवसर पर मेरी पुस्तक निराला समारोह में उन्हें समर्पित की गई। वही पुस्तक पुस्तकाकार 'क्रांतिकारी कवि निराला' के नाम से प्रकाशित हुई।

मेरा आलोचक यहीं से अपने आलोचना-कर्म की शुरूआत करता है। उसी वक्त वाजपेयी की देखरेख में 'काशी प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना भी हुई। यह संघ 'प्रगतिशील लेखक संघ' से भिन्न था। प्रगतिशील लेखक संघ सी. पी. आई के सांस्कृतिक मोर्चे के रूप में काम कर रहा था। शिवदान सिंह चौहान हंस के माध्यम

से मार्क्सवादी सिद्धान्तों को साहित्य पर चस्पा कर रहे थे। 'काशी प्रगतिशील लेखक संघ' में 'काशी' लगा हुआ था। इसकी अपनी अस्मिता थी। यह तत्कालीन समाजवादी दल से प्रभावित था। भारतीय समाजवादी दल एक बिन्दु पर कम्युनिस्ट पार्टी से मिलता था तो दूसरे बिन्दु पर अलग हो जाता था। काशी के नवयुवक साहित्यकार इसी विचारधारा के साथ थे।

निराला के अनगढ़, विराट तथा जटिल व्यक्तित्व के प्रति जितना आकर्षण बढ़ता गया, उतना ही उनका काव्य-वैविध्य भी रुचिकर लगता गया। उस समय निराला की वास्तविक संघर्ष-कथा कम ही लोगों को मालूम थी। प्रसाद दर्शन और बिम्बों के धनी थे, निराला दर्शन, दलित जीवन की गहन अनुभूति और भाषा प्रयोग के। शेष कवियों की रुआंसी छवियां आकर्षित नहीं कर सकीं। ऐसा करने के लिए एक की विशेषता को दूसरे से अलगाना जरूरी था। यह शिक्षा शुक्लजी ने बहुत पहले दी थी। निराला की कविता के इतने रूप हैं जो फिर कभी नहीं दिखाई पड़े। रूप-वैविध्य के प्रति इतनी रुझान उनमें क्यों आई ? उस काव्य-परम्परा में उन्हें सिचुएट करने के साथ उसके गन्तव्य तथा उसकी सार्थकता का अन्वेषण भी आवश्यक था। सन '50 में द्विवेदीजी के काशी आने पर मुझे उनके निर्देशन में शोध-प्रबन्ध 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना' लिखना पड़ा। इससे हमारे चिन्तन में इतिहासबोध और उसके नैरन्तर्य का आयाम भी जुड़ा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में उस समय आलोचना की दो धाराएं चल रही थीं। एक वह जो शुक्लजी के लोकपक्ष को छोड़कर शास्त्रीयपक्ष को पूरे कठमुल्लेपन के साथ पीछे ढकेल रही थी। दूसरी वह जो शुक्लजी की कमियों पर दृष्टिपात करती हुई उसे अपने ढंग से आगे ले जा रही थी। नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन किया जा रहा था और प्रसाद के नाटकों में बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी आदि की तलाश की गई थी। स्वच्छन्दतावादी नाटककार की इतनी जकड़बन्दी! इस जकड़बन्दी को तोड़ने की गरज से 'रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना' के पहले ही 'हिन्दी नाटक' किताब आगई थी। बाद में अन्य पुस्तकें–'बिहारी का नया मूल्यांकन, 'समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती', आलोचक और आलोचना, 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'आधुनिक हिन्दी आलोचना के बीज शब्द' तथा 'साहित्य का समाजशास्त्र और रूपवाद' छपीं। इनके ब्योरों में जाना मेरा अभीष्ट नहीं है। इनका उल्लेख तो इसलिए किया गया कि मैं अपनी ही आलोचना प्रणाली के सम्बन्ध में एक वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपना सकूं। लेखक के साथ

अध्ययय का कार्य भी चलता रहा। भारतीय आलोचना में मैं वामन, और कुन्तक से अधिक प्रभावित हुआ हूं। पाश्चात्य आलोचना में लूकाच, लुसिए गोल्डमान, सार्त्र, ग्राम्शी, क्लीन्थ ब्रुक्स और फ्रैंकफर्ट स्कूल से। आप कहेंगे कि कितना विचित्र सम्मिश्रण है। यह भी कह सकते हैं कि इनके पढ़ने के बाद सबसे सीखा है। और जो सीखा है वह अपना है।

मूलतः आलोचना भी एक प्रकार की रचना-प्रक्रिया है और प्रक्रिया को पकड़ पाना काफी मुश्किल है। हर लेखक दूसरे से अलग होता है। अतः एक के लिए किसी एक बात पर जोर दिया जाता है तो दूसरे के लिए किसी अन्य बात पर। किन्तु आलोचना में भी सर्वत्र कुछ सामान्य बातें पाई जाती हैं। उन्हीं सामान्य बातों पर, जो मेरी अपनी पद्धति में भी समविष्ट है, विचार करना जरूरी है।

आलोचना को मैं निम्नलिखित सूत्रों में आबद्ध करना चाहूँगा। 1. भाषिक सतर्कता, 2. इतिहास और व्यक्तित्व, 3. वस्तुःरूप की द्वन्द्वात्मकता और 4. मानवीय नियति की पहचान।

आलोचना एक बौद्धिक प्रक्रिया है। अतः रचनागत आभासों की तह में पैठ कर रचना के आंतरिक यथार्थ को पकड़ने के लिए ऐसी भाषा की तलाश जरूरी है जो यथातथतोन्मुख, पारदर्शी तथा मितकथनात्मक हो। मुग्धभावी शब्द-प्रणाली, रेहटारिक, वाग्जाल के लिए आलोचना में कोई स्थान नहीं है। 'अत्यन्त सुन्दर' को ही लें - इसका प्रयोग प्रायः वहां होता है जहां रचना की विशेषता बताने के लिए आलोचक की शब्द-संपदा छोटी पड़ जाती है। शुक्लजी ने अपने इतिहास के प्रवर्धित संस्करण में उसके स्थान पर स्वाभाविक या अन्य शब्द बैठाया जो ठोस अर्थ देते हैं। दो रचनाकारों की विशेषताओं को अलगाने के लिए भी उपयुक्त भाषा की तलाश अपेक्षित है। अंग्रेजी में इसके लिए कुछ निश्चित शब्दावली बन गई है। पर हिन्दी में अभी तक ऐसा नहीं हो सका है।

इधर हिन्दी में रचनात्मक समीक्षा के नाम पर एक नया ऊँट आया है। आलोचना के रेगिस्तान में ही इसकी उपयोगिता हो सकती है। पर जिस तरह कविता-कहानी में विविध आंदोलन चलते रहे हैं, उसी प्रकार रचनात्मक समीक्षा भी समीक्षा के क्षेत्र मे चलने वाला आन्दोलन है। समीक्षा के नाम पर उपमा-उत्प्रेक्षा लुटाने में इनका मन अधिक रमता है। पूरी समीक्षा पढ़ने के बाद हाथ शून्य लगता है।

दूसरा सूत्र इतिहास बोध और व्यक्तित्व का है। इतिहास-बोध की समझ-

दारी के लिए मार्क्सवाद से बढ़कर दूसरा बेहतर सिद्धांत नहीं है। पर उसकी तरह-तरह की व्याख्याएँ हैं। इतिहास की विकसित : विविध मंजिलों और साहित्य का द्वन्द्वात्मक संबंध भी सब मिलाकर साहित्य तथा कला को आर्थिक आधार में न्यूनीकृत (रिड्यूस) करता है। इतिहास के निर्माण में मुख्य भूमिका अधिरचना की ही होती है। मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में आर्थिक आधार एक महत्वपूर्ण तत्व है पर उसे उसकी निर्मिति में विचारधारा का कम योग नहीं है। इनके अतिरिक्त भी मनुष्य व्यक्तित्व कुछ और भी होता है जो इतिहास को, आर्थिक आधार को बदल देता है। अतः मैं अधिरचना या साहित्य को प्राथमिक महत्व देता हूँ। इतिहास अपने आप नहीं बदलता, उसे बदलने के लिए आदमी की सूझबूझ काम करती है, यद्यपि इस सूझबूझ के लिए आंशिक रूप से इतिहास भी जिम्मेदार है।

राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अधिरचनाओं और साहित्य में कारण-कार्य संबंध स्थापित करने का तरीका गलत है। एक कालावधि में वे सभी विचारधाराएँ एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत क्रियाशील रहती हैं। उनके पारस्परिक संबंधों और पार्थक्य का विवेचन आलोचना को संश्लिष्ट रूप देगा। यहीं पर उन तथ्यों को भी देखना होगा कि साहित्य के अतिरिक्त अन्य विचारधाराएँ बदल कर अपनी पूर्ववर्ती पहचान खो देती हैं जब कि साहित्य एक बार बन कर कभी भी अपनी पहचान नहीं खोता।

तीसरा सूत्र है वस्तु और रूप। आलोचना में वस्तुपक्ष और कला पक्ष को अलग-अलग विवेचना हो रही थी। एक हद तक यह अब भी चालू है। किन्तु उनकी अभेदता पर इतना कुछ लिखा जाने के बाद भी आलोचना प्रणाली में उसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका है। यह मुश्किल काम है। किन्तु सच्चे आलोचक की परीक्षा का यही क्षेत्र है। कच्चे लोग या तो इसमें प्रविष्ट नहीं होते है, या प्रवेश का आभास देकर वस्तु का पैराफ्रेज करने लगते हैं। समय-समय पर साहित्य के रूप में परिवर्तन होता रहता है। ऐतिहासिक मांग के फलस्वरूप नए रूपों का आविष्कार भी होता चलता है। नई परिस्थितियों के फलस्वरूप गद्य के अनेक रूप उग आए। क्यों उग आए? इनका उगना बे-मौसम का उगना नहीं है। आलोचक का काम मौसम और रूप के संबंध स्थापन में है।

रूप का अभिप्राय भाषा, छन्द, पद-बंध, वाक्य-विन्यास आदि के कलात्मक प्रयोग से है। रूप होकर ही कला और कुछ हो सकती है। कविता की भाषा बिंबधार्य, रूपकात्मक और वक्रोक्तिपूर्ण होती है जबकि कहानी-उपन्यास आदि की कथनात्मक होती है। क्यों एक ही समय में एक कवि छन्दों को तोड़ देता है दूसरा बंधा रहता है? कविता की भाषा कथा-साहित्य की भाषा से कहीं अधिक विरूपीकृत होती है। आलोचक इस अन्तर को समझ कर ही कृतित्व की सही पकड़ कर सकता है।

रूप को छोड़कर वस्तु के बारे में जो कुछ कहा जायगा वह अप्रामाणिक होगा। कविता की जानकारी के लिए हजारों वर्षों से औजारों का आविष्कार होता रहा है। पर कथा-साहित्य के संबंध में बहुत कम औजार आविष्कृत हो पाए हैं। इसलिए उसकी आलोचना अधिक अप्रामाणिक होती है। इसके लिए थोड़ी कोशिश मैंने जरूर की है। गोदान, कफन, बाणभट्ट की आत्मकथा, सारा आकाश, जाग मछंदर गोरख आया आदि पर इसी पद्धति से विचार किया गया है। अपनी एक अप्रकाशित पुस्तक 'उपन्यास का काव्यशास्त्र' में इस पद्धति पर मैंने विस्तृत मत व्यक्त किया है।

रूप के माध्यम में ही हम वस्तु का सही आकलन कर सकते हैं। दोनों में समवाय संबंध है। रूप को विश्लेषित करने की कोई सुनिश्चित पद्धति नहीं हो सकती। छन्द, लय, शब्दों का सुभगावस्थान, उनका परम्यूटेशन-कांबिनेशन, शैली-शिल्प आदि रूप के निर्माणात्मक तत्त्व हैं। एक खास तरह का रूप एक खास तरह के ऐतिहासिक काल में बनता है चाहे वह इमारतों का रूप हो, चाहे साहित्य का। कच्चा माल प्रायः वही रहता है पर उसकी डिजाइन बदल जाती है। इसका अपना सौन्दर्य होता है। इतिहास की वह मंजिल आने के बाद दूसरी डिजाइन आ जाती है पर सच्चे साहित्य का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है। सुन्दर हुए बगैर कला या साहित्य अनास्तित्ववान रहेगा। सुन्दर होना हर साहित्य की बुनियादी शर्त है। चूँकि शब्द का अर्थ पहले से ही दिया रहता है, नई डिजाइन में उसका अर्थ बदल जाता है। यह बदलाव सौन्दर्य को पाकर जिन्दगी की जटिल समस्याओं से संवेदनात्मक स्तर पर जुड़ जाता है। आलोचक सौन्दर्य और उनकी संवेदनात्मक उपादेयता पर युगपत् विचार करता है। इन दोनों के सहारे वह एक साहित्यकार को दूसरे से अलग करता है। इस अलगाव के लिए विवेक की जरूरत होती है और उस शब्द-संपदा की आवश्यकता है जो दो लेखकों के बीच अलगाव की स्पष्ट रेखा खींच सके। सौन्दर्य-सृष्टि किसी को लेखक बनाती है तो जीवन-दृष्टि बड़ा लेखक। सौन्दर्य-सृष्टि (रूप) और जीवन दृष्टि (वस्तु) में द्वन्द्वात्मक संबंध होता है, इसे ध्यान में रखना जरूरी है। केवल वस्तु के संबंध में विचार करने का नाम आलोचना नहीं है।

अंत में देखना होगा कि लेखक मानवीय नियति को कहाँ ले जा रहा है ? आज सबसे बड़ी जरूरत है मनुष्य को निस्सहाय नकारता से बचाने और एक बड़े समूह की मानवीय संवेदना से जुड़ने और उसे बदलने की दिशा में ले जाने की। मैं इसे आलोचना की बुनियादी जरूरत मानता हूँ। ☐

८७

आत्ममूल्यांकन

—आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

आपने आत्ममूल्यांकन का आग्रह किया है ! कहने की आवश्यकता नहीं कि यह काम कितना कठिन है । मनुष्य में आत्मरति की मात्रा इतनी अधिक होती है कि पूर्णतः तटस्थ होना उसके लिये असंभव है और तटस्थता के बिना आत्म-मूल्यांकन अधिमूल्यन बन जाएगा । यदि दूसरों के विचार में अवमूल्यन की संभावना है तो अपने विचार में अधिमूल्यन की । अपने चेहरे की तरह अपना लेखन भी हमेशा सुन्दर लगता है । "निज कवित्त केहि लाग न नीका ?" तटस्थ रहने की कोशिश जरूर करूंगा किन्तु रह भी पाऊंगा, इसका विश्वास नहीं दिला सकता ।

मैं अध्यापक रहा हूँ । अतः आलोचना जीवन का अंग रही है किन्तु अध्यापक की आलोचना का जितना अनुपात श्रोताओं के निमित्त होता है, उसका अंश-मात्र ही पाठकों के निमित्त । अध्यापक की लिखित आलोचना में भी दृष्टि अध्यापक की ही उदग्र रहती है । जो आलोचक अध्यापक नहीं हैं, वे 'अध्यापकी आलोचना' को कुछ गर्हा के भाव से देखते हैं । शायद इसलिये कि उन्हें रुचने वाली आलोचना अध्यापक नहीं लिखते; शायद इसलिये कि 'अध्यापकी आलोचना' में चाहे अनचाहे शास्त्रीयता आजाती है और शास्त्रीयता सबों के लिए सुपच नहीं होती; शायद इसलिये कि अध्यापक संभाव्य पाठकों के विचार-निर्माता या दिशा-निर्देशक होते हैं; शायद इसलिये कि अधिसंख्य प्रबुद्ध पाठकों को प्रभावित करने में अध्यापक समर्थ हैं । कारण और भी हो सकते हैं किन्तु वस्तुस्थिति यही है कि सर्जक लेखक 'अध्यापकी आलोचना' से सदा सामरस्य का अनुभव नहीं करते । किन्तु याद रखना चाहिये कि पिष्ट-पेषण 'अध्यापकी आलोचना' नहीं है । वह अध्ययन की व्यापकता, आधार की शास्त्रीयता, दृष्टि की विशदता तथा विवेचन की गंभीरता से प्रसूत होने वाली वस्तु है । यदि आलोचक और रचनाकार दोनों इस तथ्य को ध्यान में रखें कि आलोचना आलोचना है, प्रशंसा या निन्दा नहीं, तो द्वेष या द्वन्द्व की गुंजाइश ही नहीं होगी । द्वेष तभी संभव है जब रचनाकार अनर्हित प्रशंसा चाहे अथवा आलोचक अनर्हित निन्दा करे । यह भी भूलना नहीं चाहिये कि किसी भी

साहित्य में आलोचना का अधिकतर निर्माण अध्यापकों ने ही किया है क्योंकि उसके उपकरण उन्हें सुलभ होते हैं।

तो मैं कह रहा था कि मेरा लेखन मूलतः अध्यापक की दृष्टि से हुआ है और मुझे इससे संतोष है। अध्यापक का एक दायित्व भावी आलोचकों को तैयार करना भी है। समाज-सेवा का अर्थ बाढ़ या सूखे में राहत पहुंचाना या ऐसे दूसरे काम ही नहीं हैं; समाज-सेवा में बौद्धिकता का उन्नयन, भाषिक क्षमता का विकास, साहित्यिक रुचि का परिष्कार भी शामिल हैं। इलियट ने ठीक ही कहा है कि कवि का सबसे बड़ा सामाजिक कर्तव्य है भाषा का संवर्धन और परिमार्जन। चूंकि भाषा के प्रति हम में अभी वांछित सजगता नहीं है, इसलिये इलियट के कथन के अंतर्निहित तत्त्व का पूर्ण आकलन बहुतों के लिए कठिन हो सकता है। यह बात मैंने प्रश्नावली के दो शब्दों–भूमिका और महत्त्व–की दृष्टि से रखकर कही है।

मेरा सही या संगत मूल्यांकन हुआ है या नहीं, इसका प्रतिमान क्या मानें? किसी को भी अपना मूल्यांकन सही और संगत कम ही लगता है क्योंकि लेखक जितनी प्रशंसा चाहता है उतनी कभी ही कभी मिलती है। किसी गुट या संगठन के लेखक को बहुत बार भरपूर, यहां तक कि अनर्हित, प्रशंसा भी मिल जाती है किंतु गुट या संगठन के बाहर के आलोचक अतिरंजित प्रशंसा देखकर भड़क उठते हैं और धुनकी उठाकर धुनने बैठ जाते हैं। ले-दे कर बात बराबर हो जाती है।

मैं कभी किसी गुट या संगठन में नहीं रहा क्योंकि साहित्य के विकास के लिये मैं इसे घातक मानता हूं। आज के राजनीतिकों का हाल देख ही रहे हैं। उनकी शक्ति और समय तू-तू-मैं-मैं में, एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने में, एक-दूसरे को बदनीयत साबित करने में जा रहे हैं। जनता का दुखदर्द अपनी जगह पर है। मेरी यह भी धारणा है कि गुटबंदी की न तो प्रशंसा स्थायी होती है और न निंदा। स्थायित्व अपने कार्य की गुणवत्ता से प्राप्त होता है। अतः निष्ठापूर्वक कार्य करना चाहिये। संभव है, गीता अधिक पढ़ने का यह कुफल हो!

मेरी उपेक्षा हुई, ऐसा मैं नहीं सोचता। हां, यदि प्रचार-पटु होता तो यश और अधिक मिला होता; या पूरब का न होकर 'मध्यदेश' का होता तो मुझ पर लोगों की दृष्टि अधिक गयी होती। वृत्त के भीतर और बाहर रहने में अंतर तो होता ही है। वृत्त के बाहर के लोगों को या तो मान्यता पूरी नहीं मिलती या देर से मिलती है।

'अपनी उत्कृष्टतम पुस्तक का उल्लेख' उतना ही कठिन है जितना इस प्रश्न का उत्तर कि अपनी संततियों में किसे आप सबसे अधिक प्यार करते हैं। मैंने कभी कोई चीज आधे मन से या बिना समुचित श्रम के नहीं लिखी। मेरी पहली कृति है 'अलंकार-मुक्तावली'। इससे मुझे प्रभूत यश मिला और लोगों का कहना है कि अलंकार पर इससे अच्छी पुस्तक हिंदी में नहीं है। एक दूसरी पुस्तक की चर्चा भी प्रासंगिक है। डॉ० पांडुरंग वामन काणे ने अपने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में भामह के काव्यालंकार की चर्चा करते हुए लिखा है कि दुर्भाग्य से ये सभी मुद्रित संस्करण असंतोषजनक हैं। पांडुलिपि की सामग्री अल्पल्प है और संपादक न तो अनेक ग्रंथियों की व्याख्या करते हैं, न मूल ग्रंथ के विभिन्न पाठों को समन्वित करते हैं। भामह की कृति का एक विद्वत्तापूर्ण संस्करण बहुत अपेक्षित है।" काणे महोदय के इस कथन से प्रेरित होकर मैं काव्यालंकार की ग्रन्थियों की व्याख्या और पाठों के समन्वय में जुट पड़ा और तीन वर्षों के श्रम के बाद काव्यालंकार का जो रूप प्रस्तुत हुआ, वह मुझे ही नहीं, काव्यशास्त्र के मर्मज्ञों को भी प्रिय लगा। अब इसकी उत्कृष्टता की कोटि कैसे निर्धारित करूँ? 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' नामक मेरी एक पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है। कुछ सुधी पाठकों ने लिखा है कि हिन्दी में अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है। सैद्धांतिक व्यावहारिक आलोचना की और भी पुस्तकें हैं। उनमें किसे उत्कृष्टतम कहूँ? लोकाचार कहता है कि कनिष्ठ संतान अधिक प्रिय होती है। इसके अनुसार 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र' का स्थान प्रथम होता है।

मैंने काटा किसी को नहीं। 1947–48 में दिनकर पर काटने के अंदाज में कुछ लिखा। उम्र नयी थी, कलम में तेजी थी। उससे दिनकर खिन्न हुए। बुद्धि कुछ प्रौढ़ होने पर काटकूट की व्यर्थता का भी बोध हुआ। सो, मैंने विध्वंसक आलोचना से मुँह मोड़ लिया। जिन रचनाओं/व्यक्तियों को स्थापित किया है, उनकी सूची लम्बी है किन्तु युग ऐसा है कि कोई किसी का उपकार या ऋण मानने को तैयार नहीं है; कोई यह भी नहीं सुनना चाहता कि किसी ने उसके स्थापित होने में सहायता की है। 'नेकी कर कुएँ में डाल', किसी बुद्धिमान की उक्ति है। अतः नाम लेकर अलाभकर विरसता क्यों उत्पन्न करूं?

मैं आलोचना को रचना और विश्लेषण-मूल्यांकन, दोनों मानता हूँ। कोई भी उत्कृष्ट या महत्त्वपूर्ण लेखन रचना के गुणों से रहित नहीं हो सकता। इसी अर्थ में आलोचना पुनः सर्जन है।

नाम लेना खतरा मोल लेना है। फिर भी निम्नलिखित नाम बहुत दूर तक निरापद हैं। डा. नगेन्द्र, डा. रामविलास शर्मा, डा. नामवरसिंह, डा. राममूर्ति त्रिपाठी, डा. निर्मला जैन, डा. रमेश कुंतल मेघ, डा. शिवकुमार मिश्र, डा. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, डा. प्रेमशंकर, डा. महेन्द्र मधुकर, डा. नन्दकिशोर नवल।

आत्मनिवेदन

—चंद्रकांत बांदिवडेकर

दूसरों के रचना कार्य पर आलोचना करना जितना कठिन और श्रमसाध्य है उससे कहीं मुश्किल काम अपना मूल्यांकन करना और उससे अतिरिक्त दंभ की बू न आने देना है।

मैंने मराठी से बी. ए. किया और हिन्दी से एम. ए.। बाद में हिन्दी की अध्यापकी संभाली। जिस स्तर की हिन्दी पढ़ानी थी उसके लिए किसी प्रकार की विशेष तैयारी की जरूरत नहीं थी। बस, धड़ल्ले से बोल सकने और अपनी वाक्पटुता से लड़कों को चमत्कृत करने की महारत काफी थी। इसी कारण बम्बई के या महाराष्ट्र के हिन्दी प्राध्यापकों का बड़ा नुकसान भी हुआ है। चुनौती के अभाव में बौद्धिक परिश्रम के प्रति लापरवाही हो रही है। बम्बई महानगर के लाभ हैं और उसके टोटे भी। मसलन् यहाँ गुट बनाकर, खास कर बिखरे हुए हिन्दी साहित्य प्रेमियों का गुट बनाकर रहना मुश्किल है। यहाँ और बातों के लिए इकट्ठा होना संभव है, अध्ययन या अध्यापन के लिए नहीं। परिणामतः साहित्य के अध्ययन के लिए समर्पित व्यक्तियों के आस-पास होने से जो उत्तेजक वातावरण मिलता रहता है, वह मुझे नहीं मिला। मेरा यह दुर्भाग्य भी रहा है कि प्रभावित करने वाले शिक्षकों का साहचर्य भी मुझे नहीं मिला। जब रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी, रसाल इत्यादि के शिष्य अपनी गुरु परम्परा का गौरव से उल्लेख करते हैं तब मेरे मनमें ईर्ष्या पैदा होती है। आज भी ललक पैदा होती है कि किसी के चरणों में बैठकर साल दो साल गुरु कृपा का वरदान प्राप्त कर लूँ। स्वभाव से और बचपन की विशिष्ट स्थितियों से भी सामूहिक रूप में एक दूसरे की उँगली पकड़ कर ऊपर उठने की कला में अनभिज्ञ ही रहा। आंतरिक लगन और ग्रंथ-गुरु, यही दो बातें थीं जिनके सहारे मैं कुछ लिखने के नाम पर कर सकता था। मराठी भाषी (मुक्ति बोध और माचवे जी की शिक्षा दीक्षा हिन्दी प्रदेश में हुई, माहौल उनको हिन्दी का मिला, मुझे पहली बार बनारस जाने का अवसर 5/6 दिनों के लिए 1971 के आसपास मिला) व्यक्ति के लिए एक अन्य भाषा पर

अधिकार करने के लिए और वह भी साहित्यक माहौल के अभाव मे जो दीवारें लांघनी पड़ती हैं। उससे असली लेखन का प्रारम्भ भी बहुत देर से हुआ और सब बातों के लिए भी देर हुई। अपना-अपना भाग्य।

एक निश्चय मैंने आरम्भ से किया था। वह यह कि मुझे हिन्दी में इसलिए स्वीकृत न किया जाय कि मैं मराठी का जानकार हूँ और मराठी में भी इसलिए कि मैं हिन्दी का जानकार हूं। इसलिए मैंने मराठी में मराठी साहित्य के बारे में ही अधिक लिखा है और उसी के बल पर थोड़ी बहुत मान्यता है। शायद हिन्दी के बारे में भी मैं ऐसा कह सकता हूँ। मराठी हिन्दी के बीच सेतु के कार्य को मैं भी महत्त्वपूर्ण मानता हूँ लेकिन उसके लिए जो लेखन या अन्य प्रकार का संपादन, अनुवाद इत्यादि काम करता हूँ, वह केन्द्रीय नही हाशिए पर का है।

मैंने 'हिन्दी और मराठी के सामाजिक उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन विषय पर पी-एच. डी. की उपाधि के लिए 1964 में प्रबंध प्रस्तुत किया। 1969 में कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर की ओर से वह प्रकाशित भी हुआ। यह विषय केवल उपाधि हेतु मैंने नहीं लिया था। मराठी के बारे में हिन्दी वालों में यह भ्रम था कि हिन्दी से मराठी उपन्यास अधिक आगे हैं। स्वातंत्र्योतर काल में मराठी लेखक : सुधी पाठक अंग्रेजी के अलावा अन्य किसी भारतीय भाषा के साहित्व से परिचित होना आवश्यक नहीं समझते थे। हिन्दी का जो रूप राष्ट्रभाषा प्रचार के माध्यम से, प्रचारकों के माध्यम से, हिन्दी के प्राध्यापकों के माध्यम से उनके सामने उभर रहा था, वह बहुत सराहनीय नहीं था। परिणामतः मराठी भाषियों में हिन्दी साहित्य के पिछड़ेपन की, मराठी में बंगला साहित्य के समकक्ष होने की बात गहरे जम गयी थी। मेरा अपना विवेक और हिन्दी साहित्य से हुआ साक्षात्कार इससे बिल्कुल विपरीत बात कह रहा था। मुझे लगा-तीव्रता से लगा कि यह भ्रम दोनों ओर से टूटना चाहिए। 1960 में मैंने तुलनात्मक अध्ययन शुरु किया। तुलनात्मक अध्ययन की टेकनीक के बारे में उस समय विरोध जानकारी उपलब्ध भी नही थी। केवल 'कॉमनसेन्स' के आधार पर प्रबंध की जो रूप-रेखा मैंने बनायी उसको आज भी मैं महत्त्वपूर्ण मानता हूं। साहित्य के विकास के स्रोत, प्रभाव, पारस्परिक सम्बन्ध साम्य एवं वैषम्य, शक्ति एवं सीमा—सभी दृष्टियों से मुझे लगाव है। मैंने उक्त प्रबन्ध में विचार किया है। प्रबन्ध का प्रमुख सूत्र है—मराठी उपन्यास (1920-47 के बीच) कुछ रोमांटिक परम्पराओं से प्रभावित रहा है तो उसी समय हिन्दी उपन्यास साहित्य यथार्थोन्मुख होता गया है। इधर 10/15 वर्षों में आये दलित

साहित्य का अपवाद छोड़ दें तो उक्त स्थापना समूचे मराठी साहित्य पर लागू होती है। मेरे निर्देशन में जो तुलनात्मक अध्ययन चल रहा है, उससे मूल-मान्यता की पुष्टि ही होती जा रही है। तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन जब हमारे देश में विशेष अध्ययन का विषय बनेगा तब इस प्रबन्ध का महत्त्व स्वीकृत होगा। इस प्रबन्ध की कुछ सामग्री जब मराठी में प्रकाशित हुई तब मराठी समीक्षकों ने उसकी मौलिकता एवं पकड़ के लिए सराहा। मेरा विनम्र दावा है कि इसमें केवल हिन्दी और मराठी को आमने-सामने ही नहीं रखा गया है बल्कि तत्वस्पर्शी दृष्टियों से दोनों साहित्य की विशिष्टता को रेखांकित किया गया है और कुछ स्थापनाएँ हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी नयी है।

मेरी दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, 'अज्ञेय की कविता' : एक मूल्यांकन'— सरस्वती प्रेस से छपी है। हिन्दी में काव्य की आस्वादक समीक्षा विरल है। या तो वह शास्त्रीय चर्चा के नीचे दब जाती है या पक्षधर भूमिका से कलुषित एवं एकांगी हो जाती है। मैं मानता हूं कि रचना के अभिप्राय को हृदयंगम करना समीक्षक का प्रथम कर्त्तव्य है और बाद में विश्लेषण और मूल्यांकन। हिन्दी में रचना के प्रति समर्पित भाव एक तरह के आलोचक के 'अहं' के कारण पैदा ही नहीं होता दिखता। अज्ञेय की कविता के सम्बन्ध में इस समय (1965–67 के बीच) जो भी लिखा जा रहा था उसमें वस्तुनिष्ठ समीक्षा के स्थान पर समर्थन या विरोध में मत प्रदर्शन किया जाता था। मेरा किसी गुट से सम्बन्ध नहीं था, न अज्ञेय को मैंने देखा भी था। उनसे पहली मुलाकात अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक मेले में हुई, दिल्ली में। उस समय तक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। अज्ञेय ने उसको पढ़ा भी था। उनके संकोचपूर्ण व्यवहार का बहुत अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। तुलना में बच्चनजी ने वहाँ आदरपूर्वक मुझे बिठाया—अच्छा लगा था। लेकिन अज्ञेयजी की मुस्कुराहट से मैं बहुत प्रभावित हुआ था। उनसे मैंने एक ही सवाल पूछा—'आप पर अन्याय तो नहीं किया ?' उनका एक ही वाक्य में नपा-तुला उत्तर था, 'नहीं', नहीं, दिलचस्पी तो ली'। बाद में 1977–78 के बाद अज्ञेय के मैं कुछ निकट आया। लेकिन अब तक उन्होंने कभी एक वाक्य से यह नहीं कहा कि अमुक पर लिखना चाहिए या अमुक पर लिखा ठीक नहीं। मेरा जो झुकाव, उनके लेखन के प्रति था और अब भी है वह केवल लेखन के गुणों के कारण। यद्यपि पुस्तक 1971 में छपी थी। दो वर्ष प्रकाशक के पास थी। मेरे नौ लेख धारावाहिक रूप में राष्ट्रवाणी में छपे थे (1967–70 के बीच) मेरा विनम्र दावा है कि अज्ञेय की कविता को पहली बार समग्र रूप में देखा गया था। उसके बाद जो पुस्तकें आयीं उनके लेखकों

ने मेरी पुस्तक को देखा अवश्य है परन्तु स्पष्ट उल्लेख करने से संकोच किया है। एक दूरस्थ व्यक्ति के लेखन को इस प्रकार टालना असुविधाजनक तो निश्चय ही नहीं है। मुझे कोई शिकवा नहीं है। अज्ञेय की कविता पर जो आरोप प्रत्यारोप हुए हैं, उनको उनकी कविता के बल पर तौलते हुए मैंने अपनी आस्वादक सामर्थ्य पर निर्भर रह कर निरस्त करने का प्रयत्न किया है और उनकी रचना के मार्ग एवं सौंदर्य को, शक्ति और सीमा को भी समझने में शायद काफी सफलता पायी है। मेरी मान्यताओं और अज्ञेय की कविताओं से असंतुष्ट व्यक्ति भी जब मेरी पुस्तक की सराहना करते है (वाचिक रूप में लेखन में प्रतिवद्ध होकर न सही) तब लगता है मेरा श्रम सार्थक हुआ है।

मैं संस्कृत साहित्य शास्त्र, अंग्रेजी के माध्यम से उपलब्ध पश्चिम साहित्य-शास्त्र, सौंदर्यशास्त्र सामान्यतः पढ़ता रहता हूँ। हिन्दी में डा. रमेश कुन्तल मेघ के कार्य से मैं प्रभावित हूं। मराठी में मर्ढेकर से लेकर पारणकर, पाध्ये तक के सौंदर्य शास्त्रीय विवेचन से मेरा परिचय है। परन्तु रचना का आकलन करते समय मेरे सामने न रचनाकार होता है, न कोई साहित्य सिद्धांत। होती है भाषा में संगठित रचना की मूर्त देह और उसका सामना करता है साहित्यिक विद्वानों को पचाकर भी संवेदनशीलता को सुरक्षित रखने में समर्थ हुआ मेरा मन और मस्तिष्क। सामान्यतः रचना का सामना करते हुए एक अंग्रेजी लेखक के शब्दों को उधार लेकर कहूं तो 'नंगा होकर रचना को भोगता हूं।' इस समय मेरे मन पर किसी भी समीक्षक के मन का बोझ नहीं होता। वैयक्तिक रूप में मैं जिनके प्रति श्रद्धा रखता हूं उनका व्यक्तिगत स्नेह भी मैं रचना के आस्वादन में बीच में आने नहीं देता। 'उपन्यास: स्थिति और गति' में मेरे उपन्यासों पर लिखे लेख (उदाहरण के लिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा, चित्रलेखा इत्यादि) देखे जा सकते है। अमृतलाल नागर की रचना 'नाच्यौ बहुत गोपाल' पर मैंने' छद्म समाजशास्त्रीय लेखन' कह कर कठोर समीक्षा लिखी थी तो 'खंजन नयन' की विलक्षण कलात्मक सफलता की सराहना भी की थी। (मानस का हंस उनकी एक अद्वितीय रचना लगती है– उस पर मैं कभी जम कर लिखना चाहता हूँ।)

तीसरी पुस्तक 'उपन्यास: स्थिति और गति' मेरे 1960–75 तक लिखी उपन्यास-समीक्षाओं का संग्रह है, उनमें कुछ अप्रकाशित सामग्री भी है। विशेषतः उसका पहला खंड, जिसमें मैंने उपन्यास लिखा था विशेष विस्तार से चर्चा की है मेरी राय मे एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक समीक्षा का आलेख है। इसकी सराहना हुई। कुछ निराशाजनक समीक्षाएं भी हुई। समीक्षक यह कम करते हैं कि पहले पुस्तक

क्या बोल रही है, उसको सुनें और फिर अपनी अपेक्षाओं के संदर्भ में चर्चा करें।
मुझे दुख इस बात का हुआ कि मेरे एक मित्र ने, जो उपन्यास का अध्येता है, परिश्रमी भी है, इसकी समीक्षा करते हुए वैयक्तिक खीझ का बदला लिया। मैं अपेक्षा यह करता था कि पहले खंड के आशय की वे विशेष चर्चा करते और बाद में अपना मन प्रदर्शित करते। जिस ढंग से उन्होंने पुस्तक को उड़ा दिया उससे दुख इस बात का हुआ कि अच्छे व्यक्ति भी (वे बहुत ही अच्छे व्यक्ति हैं) अपने वैयक्तिक घेरे से बाहर नहीं आ पाते। इस उपन्यास में पहली बार उपन्यास के तथाकथित घटकों की नयी दृष्टि से छानबीन की है और उसके घटकों की संरचना का नूतन दृष्टि से प्रस्तुतीकरण किया है। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती अगर पुस्तक के आशय को लेकर जम कर चर्चा होती।

यहां मैं अपनी समीक्षा प्रणाली के संबंध में कुछ बात कहना चाहूंगा। उपन्यास हो या कविता, मैं प्रथम उस रचना के प्रति समर्पित होकर उस रचना के मुख्य सूत्र को—बीज-भाव को पकड़ने का प्रयत्न करता हूं। रचना मेरे लिए कला बाद में होती है—एक अनुभव प्रथम होता है। अगर वह अनुभव नहीं देती हो तो उसे गभीर ध्यान देने की वस्तु मैं नहीं मानता। उस अनुभव के बीज भाव को पकड़ने के बाद उसको पुष्टः पल्लवित करने के लिए कलाकार जिन विभिन्न घटकों का (स्थितियों, चरित्रों, बिम्बों, प्रतीकों, भाषा के बहुरूपी सौंदर्य मूल्यों का) उपयोग करता है, उन घटकों की बुनावट को तटस्थतापूर्वक देखने का प्रयास करता हूं। उसके साथ रचनागत अनुभव की शक्ति, व्याप्ति, प्रखरता, नूतनता देखने का भी प्रयास करता हूं। इस प्रक्रिया में रचना के आशय एवं अभिव्यक्ति के सारे संबंध प्रकट होते हैं।

इसके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है—एक-एक रचना को कई बार पढ़ना ही नहीं पड़ता, 'टेबुल वर्क' भी करना पड़ता है। छोटी जटिल कविता भी तब तक मेरे सामने पूर्ण नहीं होती जब तक मैं उसे लगातार कई बार न पढ़ूं। रचना को दो/तीन बार पढ़ने के बाद रचना हाथ में लेने वाले समीक्षकों के प्रति मेरे मन में साश्चर्य आदर उत्पन्न होता है। इसीलिए मेरे लिए रचना को सुनने के बाद तुरंत प्रतिक्रिया करना मुश्किल हो जाता है। कवि-सम्मेलनों का अच्छा श्रोता मैं नहीं बन पाता। जटिल बुनावट की कविता, खास कर जिसमें प्रत्येक शब्द अपना विशिष्ट व्यक्तित्व लेकर आता है, और शब्द संहृति में अपनी सामूहिक भूमिका भी अदा करता है, को एक बार सुनकर या पढ़ कर कैसे आत्मगत किया जा सकता है—यह मेरे सामने एक रहस्य है। इसलिए जो कि आय. ए. रिचर्डस ने एक

स्थान पर कहा है कि एक दिन में दो तीन से अधिक कविताएँ नहीं पढ़ी जा सकतीं, ठीक लगता है।

मैं सामान्यतः विशिष्ट रचना को सर्वाधिक महत्त्व देता हूँ। विज्ञान के क्षेत्र में जो महत्त्व विशिष्ट आविष्कार का होता है, वही महत्त्व मेरी राय में साहित्य के क्षेत्र में श्रेष्ठ विशिष्ट रचना का होना है। मेरी राय में किसी भी लेखक की सही शक्ति और सीमा रचना विशेष में प्रतिबिम्बित होती है। वैसे ऐसे लेखक/कवि विरले होते हैं जिनकी हर रचना श्रेष्ठ हो। मेरी राय में रचना-विशेष के बारे में ही अधिक जम कर विश्वासपूर्वक बात की जा सकती है। रचना से रचनाकार पर जब दृष्टि जाती है तब वह विश्वास कुछ कम होता है, सामान्यीकरण होने लगता है। यह सामान्यीकरण जब रचनाकार से 'प्रवृति' पर और प्रवृति से इतिहास पर आते हैं तो अधिक प्रबन्ध रूप में होने लगता है। मेरी अपनी सम्मति में समीक्षक की सही पहचानें विशिष्ट रचना के मर्म तक पहुँचने और सौंदर्य का आस्वादन करने में सफल होती है। मेरे लिए रामचन्द्र शुक्ल का वह रूप अधिक प्रशंसनीय है जो सूर, तुलसी, जायसी की रचनाओं के मूल्यांकन में प्रकट हुआ है। नगेंद्र की जो सहृदयता 'साकेत' के विवेचन में या 'त्यागपत्र' 'शेखर : एक जीवनी' के मूल्यांकन में हुई है वह उनके आचार्य रूप से मेरे लिए अधिक प्रभावपूर्ण रही है। दुर्भाग्य से विद्वानों की–प्राध्यापकों की विशेषतः— मान्यता इसके विपरीत है। जो समीक्षा की सैद्धान्तिक-शास्त्रीय चर्चा करता है वह अधिक समादृत होता है। कभी-कभी यह लगता है कि ऐसा तो नहीं है कि सहृदयता और संवेदनशीलता की ताज़गी के समाप्त होने पर आदमी शास्त्र की ओर मुड़ता हो ? 'अभिव्यंजनावाद' को लेकर शब्द की खाल निकालने वाले पंडित को जब मैं किसी रचना विशेष से प्रभावित होते नहीं देखता तो प्रश्न पैदा होता है कि आखिर यह सारा शास्त्र है किसके लिए ? समूची साहित्यिक सिद्धान्त–चर्चा व्यर्थ है अगर वह रचना–विशेष की बारीकियों, सौंदर्य पक्षों का उद्‌घाटित करने में हमारा साथ नहीं देती। जब तक समीक्षा–व्यापार में इस तरह उलटी ही गंगा बह रही है तब तक आलोचक के कार्य के सही मूल्यांकन का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। व्यक्तिगत रूप में मुझे कोई खेद नहीं है क्योंकि रचना से प्राप्त सुख कोई छीन नहीं सकता। यहाँ साहित्य के शास्त्रीय सिद्धान्तों की छानबीन करने वाला विद्वान और सिद्धान्तों को पृष्ठभूमि के रूप में रखकर रचना की सम्यक् विवेचना करने वाला समीक्षक इनमें अन्तर करना आवश्यक है। दुर्भाग्य से हमारे यहाँ पर अन्तर किया नहीं जाता। संस्कृत के मम्मट, विश्वनाथ, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त जैसे आचार्यों में

साहित्य के सैद्धान्तिक ज्ञान को हस्तामलकवत् सामने रखने की क्षमता और साहित्य के सौंदर्य की पकड़ दोनों बातें समान रूप में वर्तमान थी। हमारे यहाँ साहित्य-विषयक ज्ञान का महत्त्व अधिक है, साहित्य के सजग आस्वादन का महत्त्व कम। इस पर गहराई से सोचना चाहिए।

एक बात इस संदर्भ में और। इधर पत्रिकाओं में प्रकाशित समकालीन साहित्य के सम्बन्ध में लिखे गये लेखों और उनमें उद्धृत काव्यांशों को देखा जाय तो गजब का सामान्यीकरण और काव्यत्व की स्थूल समझ के दर्शन होते हैं। क्या यह सारा माहौल संवेदनहीन साहित्य चर्चा का परिणाम नहीं है? फिर एक बार पुरानी टीका-पद्धति का नये संदर्भ में पुनरुत्थान करने की आवश्यकता है।

सामान्यतः अधिकार-प्राप्त प्राध्यापकों को यह लगता है कि विभिन्न पत्रिकाओं में छपे लेखों के संग्रह से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वह है जो किसी एक विषय पर परिश्रमपूर्वक लिखा गया हो। ऐसे ग्रन्थों की महत्ता अस्वीकार्य नहीं है। परन्तु इन प्राध्यापकों ने अभी तक आधुनिक साहित्य की स्थिति-गति को समझा ही नहीं है। असल में समय-समय पर प्रकाशित ढेर सारी रचनाओं में से विशिष्ट सशक्त रचनाओं को चुन कर उनकी यथा संभव शीघ्रतापूर्वक समीक्षा करना समीक्षक का दायित्व है और वह किसी प्रकार पुरानी पाण्डुलिपि की खोज करने से कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है। किसी रचनाकार की मृत्यु तक प्रतीक्षा करने के ये दिन नहीं हैं। अर्थात् रचना की सर्वांगपूर्ण समीक्षा और चलते हाथों की गयी समीक्षा या मत-प्रदर्शन, ये दो भिन्न बातें हैं। समय-समय पर गम्भीर और दायित्वपूर्ण ढंग से लिखी गयी समीक्षाओं का संकलन आज विशेष महत्त्वपूर्ण बन जाता है। उसका साहित्यिक माहौल पर कुछ प्रभाव भी पड़ता है। मेरी चौथी पुस्तक 'कविता की तलाश' १९७३ में प्रकाशित हुई है। मेरा एक विनम्र दावा इस सम्बन्ध में भी है। पिछले २७ वर्षों में मुक्तिबोध और जनवाद का जोर हावी रहा और कुछ विचार, कुछ लेखकीय व्यक्तित्व, कुछ काव्य संग्रह या तो उपेक्षित हुए या चर्चा का केन्द्र नहीं बने। मेरी यह पुस्तक ऐसे कुछ बिन्दुओं की ओर ध्यान आकर्षित करती है। मैं किसी विचारधारा का समर्थक नहीं हूँ न किसी का विरोधी भी। परन्तु मेरे ये विचार साहित्य के आस्वादन में पूर्वग्रह का काम नहीं करते। मैं नारायण सुर्वे जैसे कट्टर मार्क्सवादी कवि की कविता को भी स्वीकार करता हूँ और उनसे विपरीत दिशा में विरोधी बिन्दुओं पर स्थित सौंदर्यवादी, आध्यात्मिक कवि वीरेन्द्र-कुमार जैन की कविता को भी। मेरे मित्र डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय भी जहाँ तक साहित्य के आस्वादन का सम्बन्ध है, बहुत अधिक मुक्त है, मैं उनकी कविता

की पकड़ को विशेष महत्त्व देता हूँ। सामान्यतः मैं विचारधारा को अतिक्रमित कर मर्म तक पहुँचने वाले साहित्य का पहले आस्वादक हूँ और बाद में विश्लेषक।

यहाँ मेरे मराठी में किए कार्य का भी थोड़ा सा ब्यौरा अनुचित नहीं होगा।

मराठी में मैंने खास कर उपन्यास को अपनी आलोचना का क्षेत्र बनाया है। मेरी पहली पुस्तक 'मराठी कादम्बरी : चिन्तन आन्ति समीक्षा'' १९७३ में प्रकाशित हुई। वैसे मराठी की प्रायः सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ मेरे लेख प्रकाशित कराती हैं। इस पुस्तक के अनेक लेख पूर्व प्रकाशित थे। १९७३ के प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ समीक्षा ग्रन्थ के रूप में उक्त पुस्तक को महाराष्ट्र साहित्य परिषद की ओर से डॉ. शेणालीकर पुरस्कार प्राप्त हुआ और रा. श्री. जोग पुरस्कार के लिए १९७२ और १९७३ मे प्रकाशित समीक्षात्मक पुस्तकों में जिन तीन को अन्तिम रूप में विचारार्थ चुना गया उसमें द्वितीय क्रमांक पर मेरी पुस्तक को रखा गया था। समीक्षा समिति ने सामूहिक रूप में जो अपना मन्तव्य प्रकाशित किया था, उसमें उक्त पुस्तक की काफी सराहना की गयी थी। मराठी के प्रख्यात उपन्यासकार गो. नी. दांडेकर के उपन्यासों पर मराठी के दस विद्वान समीक्षकों द्वारा जो समीक्षाएँ लिखी गयीं, उनको पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया और उसका समापन लिखने के लिए मुझसे कहा गया। प्रस्तुत ग्रंथ के समापन पर मराठी के विद्वान लेखक डॉ॰ रा. चि. ढेरे ने बहुत संतोष व्यक्त किया और मराठी के सर्जनशील कथाकार और समीक्षक आनन्द यादव ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

मराठी में 'प्रेमचन्द : व्यक्तिह आणि वाङ्मय'' नामक ग्रन्थ में मैंने प्रेमचन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व का सर्वेक्षण किया है। यह ग्रन्थ केवल परिचायक नहीं है। हिन्दी में भी यह अपना स्थान बना सकता है। महाराष्ट्र साहित्य आणि संस्कृति मण्डल ने इसे प्रकाशित किया है। अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति के विद्वान दार्शनिक डॉ. सुरेन्द्रबारलिंगे ने इस पुस्तक को पढ़कर जो संतोष व्यक्त किया वह मेरे लिए एक अमूल्य निधि है।

जब साहित्य के माहौल में मैं देखता हूँ कि न केवल वैचारिक पूर्वग्रह का साम्राज्य है, वैयक्तिक ईर्ष्या द्वेष का भी काफी जोर है, तब विषाद भी होता है और हँसी भी आती है। मेरा गहरे में कहीं विश्वास है कि अगर कार्य में ईमानदारी है, परिश्रमशीलता है, रचना को अपनी ओर से न्याय देने की इच्छा है और इन सबके साथ रचना में गहरे पैठने की क्षमता है तो कभी न कभी उसकी ओर ध्यान जाना अनिवार्य है। मुझे उन लेखक मित्रों पर भी हँसी आती है जो

लेखन का महत्त्व तो समझते हैं परन्तु उसके संबंध में मुक्त भाव से कुछ कहना अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ समझते हैं। अच्छे को अच्छा कहने में अगर जुबान जकड़ जाती है तो यह उस व्यक्तित्व का ही कल्मष है। मुझे अच्छी रचनाओं से वास्ता है और वे जो देती हैं, उसे मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ। इसीलिए मेरे मन में अच्छे रचनाकारों के प्रति सहज कृतज्ञभाव होता है। मेरे इस आनन्द की निधि को जब तक आँच नहीं लगती, तब तक दूसरों से प्रभावित मैं क्यों होऊँ ? इसीलिए मैं उपेक्षा का या उदासीनता का विचार नहीं करता—काम करता जाता हूँ, वही युक्त है। (जाते-जाते एक बात कहूं। मैंने अपने प्रति हिन्दी भाषी मित्रों में अपेक्षाकृत अधिक मुक्त हृदय से स्वीकार भाव देखा है, मराठी भाषी मित्र इस संबंध में दिल खोलकर सराहना करने के आदी ही नहीं है।)

मैं इस भ्रम में नहीं हूँ कि कोई लेखक स्थापित करने के प्रयास से स्थापित होता है। अच्छा लेखक सदैव अच्छा रहता है, सामान्य, सामान्य। मैं यही चाहता हूँ कि अच्छी रचनाओं के संबंध में लिखने का अवसर मुझे मिलता रहे।

हिन्दी और मराठी के शीर्षस्थ लेखकों ने मेरे कार्य का अभिनन्दन किया है, वह मेरे लिए अतिरिक्त सुख का विषय है। अज्ञेय, जैनेंद्र, धर्मवीर भारती, नरेन्द्रकुमार जैन, जगदीश गुप्त, प्रभाकर माचवे, रामेश्वर शुक्ल अञ्चल ये कुछ नाम हैं। श्री. नी. दांडेकर ने कहा कि 'अब मेरी शिकायत नहीं रहेगी कि मुझे समीक्षक नहीं मिला', तब मुझे अजीब सुख अवश्य हुआ। ''सर्वनाम' उपन्यास की समीक्षा' धर्म युग में छपने पर श्री कन्हैया लाल ओझा ने जो व्यंग पत्र लिखकर संतोष प्रकट किया वह मेरे लिए बल देता रहा है। मराठी और हिन्दी के कितने ही सशक्त रचनाकारों ने मेरे आलोचना कार्य को सराहा है। हाँ, मेरे सामयिक आलोचक बन्धुओं से इतनी उदार स्वीकृति नहीं मिली है। मुझे खेद नहीं है। मेरे लिए सौभाग्य यह रहा है कि मेरे समीक्षक बन्धुओं से, रचनाकारों ने मेरे कार्य के प्रति अधिक संतोष प्रकट किया है—लिखकर भी बोल कर भी, भले ही वे समीक्षक बिरादरी से बार-बार कहलाते रहे हो। क्या इसे मैं महत्त्व न दूँ ?

प्रश्नालोचन

—डॉ० धनंजय वर्मा

प्रश्न 1. अपने आलोचनात्मक लेखन की भूमिका और महत्व के बारे में आप स्वयं क्या सोचते है ?

उत्तर–अपने आलोचनात्मक लेखन का मैंने असर महसूस किया है। उसके असर का पता स्वयं उन लेखकों की ओर से चला जिन पर मैंने लिखा। कुछ ने उसे सराहा, अपनी सहमति दी और कुछ ने विरोध किया, गालियां दीं। दोनों प्रतिक्रियाओं को मैं महत्व की सूचक ही मानता हूं। सराहने के पीछे लेखकों–कवियों का यह मंशा था/रहा/है कि उन्हें/उनकी रचना, प्रवृत्ति और रचना-दृष्टि को सही समझा-समझाया गया और आलोचना ने एक सेतु का काम किया/एक रचनात्मक भूमिका निभाई। यशपाल से लेकर कमलेश्वर तक–अनेक वरिष्ठ और समवयस्क और युवा लेखकों-कवियों-ने लगभग अभिभूत होकर प्रतिक्रिया व्यक्त कीं, खत लिखे। दूसरी ओर तिलमिलाकर चोट करने वाली प्रतिक्रियाएं भी हुईं। यहां तक कि जो दोस्त थे, वो भी दुश्मन हो गये। और जो आलोचना आपमें एक उत्तेजना, एक गुस्सा उत्पन्न कर दे उसे मैं लगभग निश्चय ही सही मानता हूं।"" इस प्रसंग में मैं किसी झूठी विनयशीलता से काम नहीं लूंगा और न घमण्ड या दर्प की ही बात करूंगा। एक आत्मविश्वास तो मुझे मिला ही है—इस बीच कि मेरे आलोचनात्मक लेखक की एक भूमिका रही है, विवादों में शिरकत की है, उसने पक्ष ग्रहण किया है, उसने विरोध किया है और महत्व के बारे में मैं जो सोचता हूं, उसे आपने यह प्रश्नावली भेजकर साबित कर दिया है। कम-से-कम आप तो मेरे आलोचनात्मक लेखन को महत्वपूर्ण मानते ही हैं, तभी न आपने इस काबिल समझा कि मुझे भी इस चर्चा में शामिल किया जाय। आप सरीखे दो-चार कद्रदां मेरे और भी हैं।

प्रश्न 2. क्या आपका सही और संगत मूल्यांकन हुआ है ? उपेक्षा क्यों हुई ? किस व्यक्ति या गुट या संगठन ने की ?

उत्तर–मेरा याने मेरे लेखन का सही और संगत मूल्यांकन नहीं हुआ। सही और

संगत मूल्यांकन के लिए साहित्यकारों में जो सहिष्णुता, अपने विरोधी और प्रतिकूल विचारों और असहमति के प्रति जो समझदारी का माहौल होना चाहिए वह नहीं है। साहित्यकारों में सही राजनीतिक चेतना भी नहीं है। गुटबन्दी है, फ़िरकापरस्ती है, यहाँ तक कि साम्प्रदायिकता भी है।

मेरी उपेक्षा हुई है, जानबूझकर, सुनियोजित ढंग से। इसलिए कि मैंने अपनी समझ से सच कहने और सच को रेखांकित करने की भरसक कोशिश की है। जिन लोगों को लगा कि मेरा लिखा हुआ उनके पक्ष में जाता है, उनके अनुकूल है, उन्होंने कुछ समय तक तो मुझे अपना समझा लेकिन जब उनकी भी मैंने आलोचना की तब वे भी मेरे विरोधी हो गये। सिर्फ उदाहरण के लिए नाम लेकर कहूँ तो वही कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव, जो कभी मेरे प्रशंसकों में से थे, जब मैंने अपनी समझ से उनकी कुछ बातों की, कुछ मुद्दों पर आलोचना की तो न केवल उनके व्यवहार में अन्तर आया बल्कि वे मेरे विरोधी भी हो गये। इसी तरह शुरू में 'पूर्वग्रह' में मैं लगातार छपा लेकिन चूंकि बहुत दूर तक मुझे अनुकूल नहीं समझा गया अतः वहां से भी काट दिया गया।''' ''''

बात यह है कि साहित्य में भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक बहुत बड़ा मिथ है। यहाँ कोई जनतंत्र नहीं है। स्वतंत्र मंच, खुला मंच सब ढोंग है। कई बार बल्कि अक्सर ही लेखक ही लेखक की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का गला घोंटते हैं। लेखकों का एक दल, एक विचारधारा के हिमायती भी, एक ही शिविर के अपने लेखक के स्वतंत्र सोच या असहमति को 'व्यक्तिवादी' और 'अराजकतावादी' आदि कहकर उसकी उपेक्षा करते हैं। आधुनिकवादियों के बीच मेरी उपेक्षा इसलिए हुई कि मैं प्रगतिशील और वामपंथी गुट का हूँ और प्रगतिशीलों और वामपंथियों में मेरी उपेक्षा इसलिए हुई कि उनकी हर सनक का मैं साथ नहीं दे पाया। (अब तो प्रगतिशीलों और जनवादियों में भी वही मानसिकता काम करने लगी है जो कभी प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों के बीच थी।)''''याने मेरी दोनों ओर से उपेक्षा हुई।''''यही देखिए कि मेरी आठ-आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं लेकिन उनकी कुल मिलाकर आठ पुस्तक समीक्षायें भी नहीं निकली। जबकि किसी भी गुट को ले लीजिए। यदि सम्पादक, आन्दोलक या रिंग-लीडर के प्रति आप अपनी एक निष्ठता (लगभग पतिव्रत धर्म की तरह) निबाहते हैं, तो आपकी हर किताब उछाली जाती है, आप पर विशेषांक निकाले जाते हैं, आप अपने ज़माने के सबसे बड़े जीनियस, सुकरात-अफ़लातूं और सबसे जागरूक मष्तिष्क घोषित किए जाते हैं।''''या फिर आपमें उस करनट की कलाबाज़ी होनी चाहिए कि आप

दो ध्रुवों और शिविरों के बीच की तनी हुई रस्सी पर कला के संतुलन से अपने करतब दिखा सकें। यानी आप प्रगतिशीलों के भी सरगना बने रहें और कलावादी-रूपवादी खेमे में भी आपकी आरती उतारी जाती रहे। एक आलोचक-प्रवर (नामवरसिंह) के मुहावरे में कहूं कि 'यह आकस्मिक नहीं' है और 'इस बात की जांच होनी चाहिए कि वह कौन सी खासियत है कि आप दो विरोधी शिविरों में समान रूप से प्रशंसित होते हैं ? मेरा विरोधी खेमा यदि मुझे अपना समझता है तो जरूर मुझमें कहीं खोट है।'·····तीसरी स्थिति और है कि आपके पास कोई पत्रिका, कोई पद या फिर कोई संगठन हो जिसके जरिए आप किसी को कुछ लाभ-लोभ दे सकें·····तब भी आप पूछे और पूजे जाते हैं। सौभाग्य से मेरी स्थिति इन सबसे अलग है। साहित्य के समकालीन महाभारत में मेरा कोई व्यूह नहीं है और अपने लेखन पर ही भरोसा करके मैं लगभग निहत्था खड़ा हूँ और सोचता हूँ कि यदि मेरे लेखन में कुछ सार होगा तो वह बिना इन सबके टिकेगा, न होगा तो इन सबके बावजूद भरभराकर गिर जाएगा, माटी में विला जाएगा। इसलिए उपेक्षा बुरी तो लगती है लेकिन वह निराश नहीं करती।·····

प्रश्न 3. आप अपनी उत्कृष्टतम पुस्तक का उल्लेख करें।

उत्तर–उत्कृष्टतम पुस्तक अभी लिखी जानी है। बात यह है कि अपनी कोई भी पुस्तक प्रकाशित होने के बाद मुझे खुद उसमें खामियां नजर आने लगती हैं। मैं आत्ममुग्ध व्यक्ति नहीं हूँ और न अपने लेखन से स्वयं ही अभिभूत होता रहता हूँ। इसलिए उत्कृष्टतम पुस्तक का फैसला मैं खुद भी तब तक कैसे कर सकता हूँ जब तक कि लिखना बन्द न कर दूं ? हां, अब तक प्रकाशित पुस्तकों में 'हस्तक्षेप' काफी पसन्द की गयी है। उसका चरचा भी दूसरी पुस्तकों की तुलना में अधिक हुआ। विद्यार्थियों और अध्यापकों के बीच मेरी पहली पुस्तक 'निराला: काव्य और व्यक्तित्व' काफी लोकप्रिय रही है।

प्रश्न 4. किन रचनाओं, प्रवृत्तियों : व्यक्तियों को आपने स्थापित किया है, किन्हें काटा है, क्यों ?

उत्तर–रचनाओं, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों को स्थापित करने का दम्भ मेरा नहीं है क्योंकि मैं समझता हूँ कि रचनायें, प्रवृत्तियाँ और व्यक्ति अपने बलबूते पर, अपनी रचनात्मकता की दम पर स्थापित होते हैं और इनके अभाव में ही कट जाते है। जो रचनाएँ, जो प्रवृत्तियां और जो व्यक्ति आलोचना और आलोचकों के सहारे चलते और स्थापित होते हैं, उनका हश्र इतिहास में ही नहीं, ऐन हमारे सामने भी देखा जा सकता है।

हाँ, मैंने जिन रचनाओं, जिन प्रवृत्तियों और जिन व्यक्तियों की रचनात्मकता का विश्लेषण और मूल्यांकन किया, उनका पक्ष ग्रहण किया उनमें मैंने प्रगतिशील जीवन मूल्यों की सक्रियता देखी, उनकी उत्कृष्ट कला देखी, उनका एक सामाजिक प्रसर देखा, उनकी एक विधेयात्मक भूमिका देखी और जहाँ इन सबका अभाव दिखाई दिया, उन रचनाओं, प्रवृत्तियों और व्यक्तियों को मैंने अपनी आलोचना में काटा और जमकर काटा।

प्रश्न 5. आलोचना आपके लिए रचना है या विश्लेषण-मूल्यांकन या दोनों ?

उत्तर–आलोचना को मैं विश्लेषणात्मक-मूल्यांकन-परक रचना समझता हूँ। उसकी शुरुआत होती है एक संवेदनशील विश्लेषण से, उसकी जिम्मेदारी है–मूल्यांकन और अपने आत्यन्तिक प्रयोजन में होती है वह रचना। रचना के एवज में रचना नहीं, उससे स्वतंत्र रचना। जैसे रचना की उत्तेजना होती है–एक बेहतर संसार की रचना, वैसे ही आलोचना का बुनियादी कर्म होता है–एक बेहतर रचना, साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, जीवन के क्षेत्र में भी एक बेहतर संसार। एक बेहतर दुनिया। इसीलिए आलोचना अपने आत्यन्तिक प्रयोजन में रचना होती है।····

प्रश्न 6. समकालीन आलोचना क्षेत्र में आप किन आलोचकों का उल्लेख करना चाहेंगे ?

उत्तर–हिन्दी आलोचना में मेरे आदर्श हैं–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० रामविलास शर्मा।

समकालीन उल्लेखनीय आलोचकों में अपने जुझारू तेवर, सिद्धान्तवादिता, दो टूक बातों और साफ-साफ स्टैण्ड लेने के लिए डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय और अपने बहुआयामी, अन्तर्अनुशासनात्मक अध्ययन-मनन और अगाध विद्वत्ता के लिए डॉ० रमेश कुन्तल मेघ को मैं उल्लेखनीय समझता हूँ।

आलोचन/आलुंचन

—श्री कुन्तल कुमार जैन

'भावी इतिहास हमारा है' कहने वाले अल्प बुद्धि अध्यापकों, प्रशासकों और डाक्टरों के पीरियडों में प्रायः कविता पढ़ने या लिखनेवाला व्यक्ति रहा हूँ और आज भी अपने व्यापार को आधे अधूरे मन से करके कविता लिखता रहा हूँ और कविता लिखने की नियति मुझे मालूम है और उसे मैंने हमेशा स्वेच्छा से स्वीकार किया है क्योंकि इस मूर्खों के स्वर्ग में रहने से कहीं ज्यादा अच्छा है कि अपनी समझदारी के नरक में रहा जाये शायद इसीलिए मैंने कभी किसी कॉलेज या स्कूल की पत्रिका में नहीं लिखा और न कभी उनका सम्पादन ही किया। मुझे तो हमेशा लगता रहा है कि इन मास्टर साहित्यकारों का पृथ्वी पर जन्म लेना ही व्यर्थ है। इन लोगों ने राज्य द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में जो झूठ पढ़ाया गया और जो झूठ पढाया जा रहा है, उसका कभी विरोध नहीं किया, आज यह स्थिति आ पहुंची है कि एक छोटे से बच्चे की पीठ पर, किताबों का इतना अधिक बोझ है कि उसे वह खुद उठाकर स्कूल भी नहीं जा सकता। कहाँ तो ऋषि के क्षेत्र में राजा के आखेट खेलने की मनाई थी और कहाँ आज इनकी माँ को राज्य का कुत्ता ले जाये तो भी ये चूं से चां तक नहीं करेंगे, ट्यूशनों और एक आटा चक्की के सहारे जिन्दा रहने वाले इन लोगों को अपने छात्रों से कभी प्रेम नहीं रहा और कभी उनके हितों की इन्होंने रक्षा नही की। और न ही पाठ्य पुस्तकों में छिपे हुए झूठ को पढ़ाने से इन्कार किया, फिर शिव कुमार मिश्र हो, डॉ० नामवर सिंह हो, रमेश-कुन्तल मेघ हो, डॉ० जगदीश गुप्त हो, इन्द्रनाथ मदान हो, डॉ० सी. एल. प्रभात हो या मनोज सोनकर हो या अन्य कोई हो, क्या फर्क पड़ता है? मुझे तो लगता है कि शिक्षक होना अपने आप में पतन है, फिर उसका साहित्यकार होने का दम्भ तो उसका और अधिक तेज़ी से पतन है। इनकी प्रगतिशीलता हो या गतिशीलता हो, दोनों ही एक ठहरी हुई अवस्था है या दुर्दशा है, इनका जनवाद हो या फनवाद हो, नपुंसकों की ताली से भी गया बीता है। आपको तो मालूम ही है कि आलोचकों और समीक्षकों का वर्ग भी अधिकांशतः इन्हीं लोगों में से आता है।

इन दूसरे या तीसरे दर्जे के घटिया लोगों से राम बचाये, ऐसी आपसे प्रार्थना है। ऐसे ही लोगों का मूल चरित्र लेकर एक वर्ग विशेष सम्पादक या पत्रकार भी बन बैठा है या सरकारी पदों पर हैं। इन लोगों का मेरे साथ क्या बर्ताव हो सकता हैं यह तो आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। ये लोग कभी-कभी मेरे नाम के चक्कर में पड़कर अपनी संस्थाओं में मुझे बुला लेते हैं तो मेरी रचनाओं से या मेरे संवादों से ऐसा घबरा जाते हैं कि फिर बुलाने का साहस कभी नहीं जुटा पाते हैं–वैसे तो इस पृथ्वी पर सभी जीवों की आवश्यकता है और उन सब प्राणियों की वजह से यह पृथ्वी सुन्दर लगती है लेकिन आलोचक की कोई आवश्यकता है, ऐसा पूछकर आपने मुझे यह कहने पर उत्तेजित कर दिया है कि पहले तो उनमें जीव ही नहीं होता क्योंकि जीव उत्पन्न होते ही एक चेतना जन्म लेती है और चेतना अपने आप में रचना है।

मेरी रचनाओं के साथ आलोचकों को सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि वह उनके प्रतिमानों की हवा तंग कर देती है, यहाँ तक कि मैं भी उन्हें ठीक ढंग से न लिखूं तो मुझे भी माफ नहीं करती हैं। इसीलिए मैं अपनी रचनाओं से डर कर कभी किसी साहित्यिक आन्दोलन में शामिल नहीं हो सका। गुटबंदियों में बन्द नहीं हो सका, यहाँ तक कि किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध नहीं हो सका और सम्पादकों द्वारा अधिक सम्पादित न हो सका उनके कविता संग्रहों में। सोचता हूँ कि आपने मुझे क्यों याद किया ?

आपने पूछा है कि किन-किन आलोचकों ने आपकी रचनाओं का सही मूल्य आंका और उन्हें प्रतिष्ठित कराया ? मैं पूछता हूँ जीते जी मुक्तिबोध से कतराने वाले और बाद में उन्हें प्रतिष्ठित करने वाले आलोचकों के मुक्तिबोध क्या आज प्रतिष्ठित हैं ? शायद यह प्रतिष्ठा भोपाल के राजकीय सत्ता कक्ष में हो और कहीं नहीं, अजीब बात है जीते जी मुक्तिबोध की किताबों पर प्रतिबन्ध लगाने वाली सरकार ने मरे हुए मुक्तिबोध को साइन-बोर्ड की तरह इस्तेमाल किया। मुझे तो लगता है कि आज मुक्तिबोध की रट लगाने वाले साहित्यकार मध्यप्रदेश की आज की सामंतवादी सरकार के भाड़े के टट्टू हैं जो मुक्तिबोध के कफ़न को बेनर की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं। भाई, इस व्यवस्था में प्रतिष्ठा ही जब सबसे बड़ा झूठ हो गया हो तो मुझे इस शब्द को लिखते हुए शर्म आती है और प्रतिष्ठा तो मन्दिरों में मूर्तिपूजा करने के लिए की जाती है, और मूर्तिपूजा मरे हुए को पूजना है उसे अपने अनुभव में झेलना नहीं है, क्योंकि झेलना हमेशा जोखम रहा है और रहेगा। मेरी रचनाओं की कोई क्या उपेक्षा करेगा, जब मैं खुद ही अपनी रचनाओं

की उपेक्षा करना जानता हूँ ? मेरी बहुत-सी रचनाएँ हैं जिनपर मेरे देखते-देखते 15-20 साल तो गुजर गये लेकिन समय भी उन्हें उठाकर नहीं फेंक पाया। आज भी पढ़ता हूँ तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। बम्बई में "तथापि" नाम की एक साहित्यिक संस्था है। उसकी एक गोष्ठी में जब पन्द्रह वर्ष पुरानी कविता पढ़ी तो एक आलोचक ने सभा समाप्ति के बाद पूछा कि क्या यह कविता इन दिनों लिखी है ? और मैं हँस दिया।

सवाल रचना की प्रतिष्ठा का नहीं है, रचना के जीवित रहने का है जो आलोचक के हाथ में है, ऐसा मैं नहीं मानता। अक्सर आलोचक अपनी जड़ मान्यताओं और पूर्वाग्रहों को ही रचनाओं में ढूंढता है, जिन रचनाओं में ये झूठ मिल जाते है उनकी चर्चा वह अपने लेखों में कर देता है। जिसे आप जैसे लोग भी सही मूल्यांकन या रचना को प्रतिष्ठित करना कहने लगते हैं। किसी रचना के भीतर खोज करके वह बात ढूंढ लाना जो रचनाकार या उसके पाठक को भी पता न हो, आज किसी आलोचक-समीक्षक के बस की बात नहीं है और जब कभी ऐसी घटना घटती है, तब आलोचना भी अपने आप में रचना बन जाती है।

सच तो यह है, जब रचनाकार को यश–लिप्सा सताती है और उससे भी बड़ी बात तो यह है कि जब रचनाकार को अपने सामर्थ्य और रचना की अद्वितीयता मे संदेह उत्पन्न हो जाता है तो वह सम्पादक को ढूंढता है। फिर प्रकाशक को खोजता है, वहाँ भी यह संदेह नहीं मिटता है तो वह समीक्षक या आलोचक को ढूंढता है। यह दूसरे की शरण ढूंढना उसे दूसरे तीसरे दर्जे का लेखक बना देती है जिसके तहत तरह-तरह की गुटबंदी की जाती है, नकली आंदोलन खड़े किये जाते हैं विचारधाराओं की बैसाखियां लगाई जाती हैं और सम्पादक, प्रकाशक या अन्य माध्यमों की जी हजूरी की जाती है। जी हुजरियों के इस युग में ऐसा व्यक्ति सफल होता हुआ दिखे तो मैं तो कहूँगा "सफलता बेचती है आदमी को, न जाओ और आगे कुछ नहीं है" !

इस व्यवस्था में जब हरेक चीज़ व्यापार बन गयी हो तो उल्लेखों की राजनीति तो होगी ही, और राजनीति के पीछे मतान्धता तो होती ही है। मतान्धता फिर धार्मिक हो या किसी राजनैतिक विचार-धारा की हो, मनुष्य को तो नकार ही देती है और मनुष्य को नकारने से बड़ा कोई शोषण नहीं होता है।

कविता के सम्बन्ध में मैं बरसों से मानता आया हूँ कि कविता लिखने का कर्म, परस्त्रीगमन जैसा आनन्दपूर्ण और जोखमभरा, दोनों साथ-साथ है। कविता लिखने का उद्देश्य काव्य संग्रहों को अपनी पीठ पर लादकर गधे की तरह चलना

नहीं है। कविता लिखने का यदि कोई आनन्द हो सकता है तो वह यही हो सकता है कि कृति को, रचना को इतना महत्वपूर्ण बनाया जाये कि वह काल के बाहर निकल जाये, कालातीत हो जाये। फिर रचनाकार का नाम बचे या नहीं बचे, कोई फ़र्क नहीं पड़ता है लेकिन आज स्थिति यह है कि रचनाकार अपने को बचाना चाहता है, प्रकाश में रखना चाहता है। उससे यह प्रतिष्ठा या अन्य कोई सुविधा अर्जित करना चाहता है। यह लोभ और लाभ की कामना उसे कभी-कभी तो एक याचक स्थिति में खड़ा कर देती है, अपने को प्रतिष्ठित स्थापित (मूर्ति की तरह) समझने वाले साहित्यकारों: कवियों की आज इतनी बुरी हालत है या होती जा रही है, और ज्यों-ज्यों मृत्यु करीब आती जाती है कोई सन्मान कर दे और थैली अर्पण कर दे, यह लालसा उन्हें मृत्यु के पहले ही मार देती है।

जिम्मेदारी शब्द का उपयोग किये बिना यदि हमसे नहीं रहा जाता हो तो रचनाकार की जिम्मेदारी तो यही है कि रचना को जन्म दे, बड़ा करे और काल के बाहर खड़ा कर दे और विदा हो जाये। लेकिन यह मार्ग पाने का नहीं, खोने का है, मेरे दोस्तों ! जरा इस बात को समझो, पाँच-पाँच कविता-संकलन 100 पेज के छप जायें, इतना मैंने लिखा है लेकिन छपने के लिए नहीं लिखा है किसी आलोचक के लिए नहीं लिखा है, न ही पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखा, कभी इच्छा हुई किसी को भेज दिया, किसी ने मांगा। भेजा, छपा न छपा क्या फर्क पड़ा। यह फ़र्क इसीलिए नहीं पड़ा क्योंकि मैंने लिखा तो अपने लिए ही लिखा है।

एक बार बजरंग विश्नोई ने (मेरे साथ-साथ ही उन्होंने भी कविता लिखना आरम्भ किया था) कहा, यार तुम अभी भी कैसे लिख लेते हो, मेरा तो लिखना छूट ही गया है, लिखने की सार्थकता नहीं लगती है तो मैंने कहा, कि तुमने किसी उद्देश्य के लिए, यश के लिए या दूसरे के लिए लिखा होगा। क्योंकि जब हम किसी उद्देश्य के लिए या किसी भी राजनैतिक विचारधारा के लिए या किसी लाभ-लोभ के लिए लिखने लगते हैं तो हम बौद्धिक वेश्यायें हो जाते हैं, तब कोई भी राज्य या उद्योगपति अपने बेडरूम में, बुलाकर हमारे साथ सो सकता है। और सो भी रहा है, शेष फिर कभी !!

समकालीन आलोचना की समस्याएँ

—डॉ० नामवर सिंह

आज चर्चा के लिए आपके सामने जो विषय रखा है, वह धर्मसंकट का है। किसी रचनाकार से हम रचनाएँ सुनना चाहते हैं। अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में जब वह बात करता है तो पाठकों को कोई बहुत रुचि नहीं होती, क्योंकि वह एक रचनाकार की अपनी प्रयोगशाला का विषय है, जहाँ वह अपनी प्रक्रिया का विश्लेषण करता है। इस विश्लेषण के बाद वह जो रचनाएँ सामने ले आता है, आमतौर पर एक पाठक के नाते लोगों की दिलचस्पी उसी में होती है। प्रक्रिया-संबंधी चिंता स्वयं रचनाकार की चिन्ता है। क्या यही बात एक आलोचक के लिए भी सही होती है, या हो सकती है, या होनी चाहिए? पाठक को उसकी आलोचनाओं से मतलब होना चाहिए, उसकी आलोचना-प्रक्रिया से पाठक की दिलचस्पी हो या न हो! यह निर्णय मैं आपके ऊपर छोड़ता हूँ।

लेकिन एक बात मैं जरूर कहूँगा कि जिस तरह एक अच्छे रचनाकार के लिए बराबर अपनी रचना-प्रक्रिया की जाँच-पड़ताल जरूरी है, उसी तरह से एक आलोचक के लिए भी अपनी आलोचना-प्रक्रिया की जाँच-पड़ताल जरूरी है। विचित्र बात है कि हिन्दी में रचना-प्रक्रिया की चर्चा तो बहुत हुई है, लेकिन आलोचना-प्रक्रिया की चर्चा बहुत कम हुई है या नहीं हुई है। क्या इसका यह अर्थ लगाया जाए कि आलोचक अपने बने-बनाये निष्कर्ष लोगों के सामने रखता है, रखना चाहता है, लेकिन उन निष्कर्षों तक पहुँचने की जो सीढ़ियाँ हैं, सोपान हैं, या तो वह उनका जिक्र करना नहीं चाहता, या वह इतना आत्मसजग नहीं हुआ है कि स्वयं अपनी चिन्तन-प्रक्रिया को वस्तुनिष्ठ ढंग से देख सके, जाँच सके, उसकी परीक्षा कर सके और इस क्रम में स्वयं अपने विचारों का शोधन, यदि आवश्यक हो तो, कर सके? मैं बराबर लिखने की प्रक्रिया में जिन निष्कर्षों तक पहुँचा हूँ या पहुँचना चाहता हूँ, उनकी जाँच करता रहा हूँ और सच्चाई यह है कि एक पाठक के नाते दूसरों की लिखी आलोचना की जाँच करने के लिए मैंने अपने नुस्खे बना रखे हैं। मैं नहीं जानता कि इस तरह के नुस्खे कुछ और लोगों ने भी बना रखे हैं कि नहीं रखे हैं।

आप जानते हैं कि आलोचना की पुस्तकें कम पढ़ी जाती हैं। यदि बहुत बाध्यता न हो परीक्षा में, तो ऐसा समझा जाता है कि आलोचना-पुस्तकें आमतौर से अध्यापक और विद्यार्थी पढ़ते हैं; साधारण या सामान्य पाठक आलोचना-पुस्तकें नहीं पढ़ते हैं। यदि वे नहीं पढ़ते हैं, तो यह मैं नहीं मानता कि वे भाग्यशाली हैं। वे वंचित भी रहते हैं। मैं यह नहीं मानता कि साहित्य का आस्वाद स्वतःस्फूर्त हुआ करता है। स्वतःस्फूर्त न सामाजिक परिवर्तन होता है, न किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ करता है और इसी तरह से साहित्य का आस्वादन भी नहीं हुआ करता है। जो समझते है कि रचना और पाठक के बीच में आलोचना एक नाहक दीवार है, वे लोग (वे कवि या रचनाकार चाहे जितने समर्थ हों!) मेरी समझ में आत्मवंचकों की गिनती में आते हैं और जो पाठक ऐसा समझते हैं, वे उन अनजांचे पूर्वग्रहों के शिकार हुआ करते हैं, जिन्हें शिष्ट भाषा में 'संस्कार' कहा जाता है। आप जानते हैं कि सामान्य जीवन में भी लोग ऐसे बहुत-से संस्कारों से ग्रस्त होते हैं, जिन्हें वे प्राकृतिक मानकर चलते हैं, प्रकृति-प्रदत्त मानकर चलते हैं। अनजाने ही ऐसे संस्कारों से ग्रस्त होकर हम समझते हैं कि यह स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया है, लेकिन कहीं न कहीं इस स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया के पीछे बीस साल, पच्चीस साल या कभी-कभी हजार-दो हजार साल पुराने साहित्यिक संस्कार या काव्यों के संस्कार स्थित होते हैं और उसे निर्धारित किया करते हैं। इसीलिए मैंने ऐसा कहा कि मैं यह नहीं मानता कि साहित्य का आस्वादन स्वतःस्फूर्त हुआ करता है। आलोचना के जो निष्कर्ष होते हैं और बनते हैं, मेरा ख्याल है कि पाठकों की दिलचस्पी उनमें होनी ही चाहिए।

जैसा कि मैंने कहा, मैंने कुछ नुस्खे बना रखे हैं, जिनसे मैं जाँचता हूँ कि कौन-सी आलोचना अच्छी आलोचना है और कौन-सी बुरी। मेरी आलोचनाएँ भी, आलोचनात्मक लेख भी जाँचे जाते होंगे। मैं यह नहीं कहता कि उसी ढंग से जाँचे जाएँ। लेकिन इसके जरिए मैं यह बताना चाहता हूँ कि मेरे लिए कैसी प्रक्रिया ज्यादा महत्वपूर्ण है।

किसी पुस्तक के बारे में किसी आलोचक की क्या राय है, यह मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। रामचन्द्र शुक्ल छायावाद के बारे में क्या कहते हैं, उसे पसन्द करते हैं कि नापसन्द करते हैं, या वे रहस्यवाद को एकदम तिरस्कृत करते हैं, यह उतना महत्त्वपूर्ण मेरे लिए नहीं है, जितना यह महत्त्वपूर्ण है कि किस चिन्तन-प्रक्रिया के कारण, विचारों की कौन-सी सीढ़ियाँ चढ़ते हुए, किस मूल्य-प्रणाली, साहित्य-प्रणाली और जीवन-प्रणाली के तहत वे उसे स्वीकार करते हैं या अस्वीकार

करते हैं अथवा अंशतः स्वीकार करते हैं और अंशतः अस्वीकार करते हैं। मेरे लिए यह बिल्कुल महत्त्वपूर्ण नहीं है कि अमुक आदमी नई कविता को मानता है कि नहीं मानता है, मुक्तिबोध का समर्थक है कि मुक्तिबोध का विरोधी है, नागार्जुन को पसंद करता है या नापसंद करता है, प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का लेखक मानता है या द्वितीय श्रेणी का लेखक मानता है। यह सब बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ करता। जो परप्रत्ययिनी बुद्धि वाले होते हैं, वे कुछ समर्थ बड़े आलोचकों की राय के पीछे चलते हैं, या उसे मान लेते हैं। लेकिन मैं जानता हूँ कि एक बहुत प्रबुद्ध पाठक-वर्ग हमेशा हुआ करता है, जो आमतौर से बड़े से बड़े और समर्थ से समर्थ आलोचक की राय के अनुसार नहीं चलता है, बल्कि उसकी अपनी राय बन जाया करती है। शुक्ल जी ने छायावाद का बहुत विरोध किया, लेकिन बावजूद इसके उस जमाने के नवयुवक छायावाद की कविता पसन्द करते थे। लेकिन शुक्ल जी के प्रति उनकी श्रद्धा में कोई कमी नहीं आई। यह कौन-सी चीज है, जिससे बड़े से बड़े आलोचक की राय उसी समय या सौ साल बाद छोड़ दी जाती है, फिर भी वह आलोचक श्रद्धा का पात्र बना रहता है? अंग्रेजी में डॉ० जोंनसन की राय से बहुत कम लोग उस समय भी सहमत थे और बाद में भी उनके बहुत-से विचार ठुकरा दिए गए। अंग्रेजी के दूसरे आलोचक डॉ० एफ० आर० लीविस की राय, खास तौर से समकालीन कवियों के बारे में, नहीं मानी जाती है। उस जमाने के इलियट के बाद के समर्थ कवि डब्ल्यू० एच० ऑडेन को उन्होंने कोई मान्यता नहीं दी। बावजूद इसके ऑडेन के माननेवाले थे, चाहनेवाले थे और फिर भी लीविस को अंग्रेजी का सबसे बड़ा आलोचक उस जमाने में भी माना गया, उसके बाद भी माना गया। इसीलिए मेरे निकट आलोचक की सम्मति या उसका निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण नहीं होता। उस निष्कर्ष तक पहुँचने की जो प्रक्रिया है, जो मूल्य-प्रणाली है और उस निष्कर्ष तक पहुँचने के क्रम में आलोचक जिस मेधा का प्रदर्शन करता है, वह कभी-कभी ज्यादा महत्त्वपूर्ण हुआ करती है। इसलिए किसी प्रवृत्ति का समर्थन भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ करता।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद के समर्थक थे और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल छायावाद के विरोधी समझे जाते थे (ध्यान दीजिएगा, मैंने कहा कि 'समझे जाते थे', जरूरी नहीं कि थे); बावजूद इसके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की छायावाद-सम्बन्धी आलोचना में जो शक्ति है, उनमें विश्लेषण की जो क्षमता है, जो मेधा है, उसके सामने उस जमाने में लिखे हुए नन्ददुलारे वाजपेयी के लेख बहुत निम्न कोटि के मालूम होते हैं। वाजपेयी जी जयशंकर प्रसाद के समर्थक थे। इसी नाम की

अपनी पुस्तक में उन्होंने 'कामायनी' पर एक बहुत बड़ा लेख दिया है। शुक्ल जी कामायनी' की कड़ी आलोचना की है, लेकिन 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में 'कामायनी' पर उन्होंने जो लिखा है, उससे मालूम होता है कि 'कामायनी' को वे नन्ददुलारे वाजपेयी से ज्यादा समझते थे। वाजपेयी जी निराला के समर्थक थे, बावजूद इसके निराला को बहुत कम समझते थे, यह 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में संकलित उनके निरालावाले लेख से आज भी जाना जा सकता है। विचित्र बात है कि पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने उन रचनाकारों को शायद ज्यादा समझा, जिनका उन्होंने विरोध किया। मुझे आज भी जैनेन्द्र के बारे में लिखा हुआ उनका लेख, उसी पुस्तक में, ज्यादा महत्वपूर्ण लगता है; मैथिलीशरण गुप्त के बारे में लिखा हुआ लेखक ज्यादा महत्वपूर्ण लगता है, लेकिन जिसको वे पसन्द करते थे, जिन कवियों को, जिन लेखकों को, उनके बारे में उनका लिखा हुआ उतना अच्छा नहीं है। इसलिए किसी आलोचक की जाँच इससे बिल्कुल नहीं होती है कि किसी समकालीन या बहुत अच्छी साहित्यिक प्रवृत्ति या किसी महान् लेखक की वह तारीफ करता है या नहीं, उसे पसन्द करता है या नहीं, उसकी हिमायत करता है या नहीं। इससे आलोचक बड़ा नहीं हो जाता, यश उसको भले ही मिल जाए। उसे कुछ युवकों का, कुछ रचनाकारों का समर्थन भले ही मिल जाए, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं हुआ करता कि वह बड़ा होता है।

जब मैंने कहा कि किसी आलोचक के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ करते, निष्कर्ष के पीछे जो चिन्तन-प्रणाली है, वह महत्वपूर्ण हुआ करती है, तर्क और युक्ति, तो इसके साथ ही एक और चीज होती है। तर्क और युक्ति और मूल्य-प्रणाली के साथ ही किसी आलोचक की पहचान उसकी संवेदनशीलता से जानी जाती है, आँकी जाती है। किसी कवि पर बहुत बड़ा पोथा कोई आलोचक लिख सकता है, लेकिन पूरा ग्रंथ पढ़ने के बाद भी कभी-कभी पता नहीं लगता है कि सचमुच इस कवि की दो पंक्तियां ऐसी नई, मौलिक खोजकर उसने निकाली हों, जिन पर किसी की नजर न गई हो। इसलिए अपने तईं मैंने आलोचना-पुस्तकों के बारे में एक नुस्खा यह बना रखा है : मैं किसी कविता की आलोचना-पुस्तक है तो उसके उद्धरण में देखता हूँ कि उसमें वही उद्धरण तो नहीं दिए गए हैं, जो दूसरे आलोचकों ने दिए हैं, या आलोचक ने एक-आध पंक्ति ऐसी भी उद्धृत की है, जो और पुस्तकों में नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास को जाँचना हो तो उसमें कवियों की उदाहरण के रूप में दी हुई रचनाओं को देखिए। उससे समझ में आएगा कि यह वह आदमी है, जो समूचे हिन्दी साहित्य से चुनकर उद्धरण रखता

है। कहा भी गया है कि हिन्दी साहित्य में 'गोल्डेन ट्रेजरी' कोई तैयार नहीं की गई, लेकिन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जो इतिहास है, स्वयं हिन्दी काव्य की 'गोल्डेन ट्रेजरी' है। यह अचूक पहचान है, अच्छे आलोचक की। तर्क हो, युक्ति हो, सिद्धान्त हो, मानदण्ड हो, ज्ञान हो, विद्वत्ता हो, सारी चीजें हों, लेकिन यह मूल वस्तु–ग्रहणशीलता, संवेदनशीलता–यदि आलोचक में नहीं है, तो चाहे वह कितना बड़ा पण्डित हो, विद्वान् हो, शोधकर्ता हो, वह आलोचक नहीं है। मैंने ऐसे कई नुस्खे बना रखे हैं, पर यहां सबका हवाला देना बहुत जरूरी है।

मैंने इस बात की चर्चा इसलिए की कि समय-समय पर लिखते समय, अपने साहित्य के बारे में बात करते समय, सोचते समय, हर समय नहीं, लेकिन एक पुस्तक लिखने के बाद या एक लेख लिखने के बाद, लगातार अपने उन विचारों को या प्रणाली को, चिन्तन-प्रणाली को जाँचते रहने की आवश्यकता मुझे महसूस होती है। उस जांच और परख के दौरान, इस समय जो हिन्दी आलोचना की स्थिति है और जो समस्याएं हमारे सामने आ रही हैं, उन पर भी मैं सोचता रहा हूं। सम्भव है, आप लोग भी उन पर सोचते रहे हों। हमारे जो अनेक प्रबुद्ध मित्र हैं, विद्वान् मित्र हैं, वे देख रहे होंगे कि दरअसल क्या स्थिति है। उन समस्याओं में से मैं कुछ समस्याओं का जिक्र बहुत संक्षेप में करूँगा। मैं नहीं जानता कि इस पर चर्चा भी होगी और आप कुछ और कहना चाहेंगे, टिप्पणी करना चाहेंगे, पूछना चाहेंगे और उसके लिए आपके पास समय होगा कि नहीं।

एक आम धारणा बनी हुई है कि इस समय आलोचना की स्थिति बहुत खराब है, अर्थात् रचना उच्च कोटि की हो रही है और आलोचना का स्तर गिर रहा है। रचनाकारों की ओर से यह बात कही जा रही है और बहुत से लोग विश्वास भी करने लगे हैं। क्या यह सच है? दूसरी बात, यह कही जाती है और कही जा रही है कि जो भी उल्लेखनीय या सार्थक आलोचनाएं इस बीच लिखी गई हैं, या लिखी जा रही हैं, वे रचनाकारों के द्वारा ही लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं, इससे इतर जो लोग लिख रहे हैं, वे अच्छी आलोचनाएं नहीं हैं। यह बात प्रचलित है। क्या यह सही है? इसकी जाँच करनी चाहिए। तीसरी चीज जो पत्र-पत्रिकाओं में विवाद के रूप में प्रचलित है, वह यह है। आलोचना के रूप मे हमारे सामने जो लेख आ रहे हैं और जो कृतियां आ रही हैं, उनके बारे में एक पक्ष की ओर से कहा जा रहा है कि हिन्दी आलोचना में एक नवकलावादी रुझान या नव-रूपवादी रुझान प्रकट हो रहा है, कुछ दिनों से। दूसरे पक्ष का कहना यह है कि नहीं, इससे कहीं ज्यादा भोंड़े समाजशास्त्रीय रुझान की प्रबलता दिखाई पड़

रही है, रूपवाद अपेक्षाकृत कम है। भोंड़े समाजशास्त्रीय रुझान से अभिप्राय सम्भवत: यह है कि साहित्य के संदर्भ में सामाजिक सरोकारों का और राजनीतिक विचारों का इतना अधिक जिक्र किया जा रहा है और कवियों और लेखकों से अपेक्षाएं की जा रही हैं और साहित्य की जांच इस तरह की जा रही है कि राजनीति और साहित्य दोनों लगभग पर्याय हो चले हैं। ये दोनों पक्ष एक दूसरे पर इस प्रकार के आरोप लगाते चल रहे हैं। देखना यह है कि ये दोनों चीजें जो दिखाई पड़ रही हैं, उनके कारण हमारा आलोचना-कर्म किस दिशा में जा रहा है।

एक बात इस सिलसिले में मैं आपके सामने यह भी रखना चाहता हूँ कि आलोचना केवल अपने समकालीन साहित्य का ही, अंग्रेजी में जिसे कहते है क्लियरिंग हाउस, वह नहीं है। आज जो लिखा जा रहा है, उसमें क्या सार्थक है या कम सार्थक है या निरर्थक है, क्या अच्छा है, क्या बुरा है, आलोचना केवल यही बतलाने का काम नहीं किया करती है, बल्कि इसके दौरान आलोचना का एक और महत्त्वपूर्ण काम हर दौर में रहा है और आज भी है। वह यह कि आलोचना समय-समय पर अपनी परम्परा का पुनर्मूल्यांकन किया करती है और इस हिसाब से अपनी समूची साहित्यिक परम्परा का जो नक्शा है, उस नक्शे को समय-समय पर सुधारती-बदलती है। सवाल है कि यह काम आज की आलोचना किस हद तक कर रही है? ये कुछ ऐसे मुद्दे हैं, जिनके बीच और जिनको ध्यान में रखते हुए आज की आलोचना की जो हालत है, उस पर सोचना पड़ता है, सोचने की जरूरत महसूस होती है।

इस प्रसंग में इन तमाम चीजों को जांचने के दौरान एक बात साफ मन में आती है और वह यह कि सच्ची आलोचना रचना के साथ चलती है, मगर एक कदम आगे। किसी आलोचनात्मक कृति को और किसी आलोचक को जांचते समय मैं जिस बात को ध्यान में रखता हूँ, रखना चाहता हूँ, वह यह कि कहाँ तक वह रचना के साथ, मगर एक कदम आगे है। इस आधार पर ऐसे भी आलोचक मिलते हैं जो बराबर रचना के साथ ही चलते हैं, आगे कदम रखने का साहस ही उनमें नहीं होता। ऐसे आलोचक बड़े लोकप्रिय होते हैं, खासतौर से नए रचनाकारों के बीच में, और 'अहोरूपम्, अहो ध्वनिः' का समां साहित्य में दिखाई पड़ता है। आलोचक उस कवि को सबसे बड़ा कहता है और कवि उसी आलोचक को एक मात्र आलोचक मानता है। आमतौर से ऐसे आलोचक रचना के साथ ही चला करते हैं, कभी-कभी झंडा लेकर साथ चलते हैं, बाजा बजाते हुए साथ चलते हैं, नारा लगाते हुए साथ चलते हैं, एक कदम आगे नहीं रखते। कुछ ऐसे भी भाग्य-

शाली आलोचक होते हैं, जो रचना के साथ, मगर एक कदम पीछे चलते हैं और उस पर बराबर उनका ध्यान रहता है। ऐसे आलोचकों का एक आदर्शवाक्य विश्वविद्यालय में दिखलाई पड़ता है (उनमें से कुछ लोग एक कदम नहीं, बल्कि सौ कदम पीछे चला करते हैं!) कि 'जो लिखा जा रहा है, उसकी जाँच समय करेगा'। इस कारण वे छायावाद तक ही अपने को रखकर अपनी वस्तुनिष्ठता या, निष्पक्षता का परिचय देते रहते हैं और उसके लिए अनेक युक्तियां भी देते हैं। वे कहते हैं कि समकालीन साहित्य तुरन्त थोड़े ही जांचा जाता है। इसलिए कल जो लिखा गया है, उसे वे आज जांचते हैं और आज जो लिखा गया है, उसके जांचने की जिम्मेदारी भविष्य के ऊपर छोड़कर वे निश्चिन्त हो जाते हैं कि उनके नाती-पोते जांचेंगे, आज के साहित्य के बारे में उनका काम यह नहीं है! ये साहित्य के साथ नहीं, उसके एक कदम पीछे चलनेवाले लोग हैं। कुछ बड़े ही आतंककारी आलोचक ऐसे भी होते हैं, जो साहित्य से सौ कदम आगे चलते हैं। ऐसे लोगों के बारे में एक मार्क्सवादी ही नहीं, क्रांतिकारी, महान् क्रांतिकारी ने कहा था—वे फौज के उस कप्तान की तरह हैं, जो सौ कदम आगे चलता है; फौज उसकी बहुत पीछे रहती है। यह बात जब मेरे मन में आती है, तो मुझे 'उसने कहा था' कहानी का लहना सिंह याद आता है, जहां वह यह कहता है कि लफटंट साहब ने रोक दिया, वरना अकेले मैं बर्लिन तक पहुँच गया होता। ये भविष्यवक्ता आलोचक होते हैं, उनके सामने साहित्य का एक बड़ा ही भव्य मानदण्ड हुआ करता है, बड़ा ऊँचा आदर्श हुआ करता है, भविष्य का समाज हुआ करता है। क्रांति हो जाने के बाद जो साहित्य होगा, जब दुनिया बदल जाएगी, तब जैसा साहित्य होगा, वे उस साहित्य के गज से आज के साहित्य को जाँचते रहते हैं। अक्सर ये लोग आज के साहित्य से सौ कदम आगे हुआ करते हैं।

आप देखेंगे कि जितने रूप मैंने गिनाए है, आज की आलोचना में विविध रूप, 'रसात्मक बोध के विविध रूप' आपको दिखाई पड़ेंगे! इन तमाम चीजों के ढांचे में, 'फ्रेमवर्क' में, आज की आलोचना को जब हम देखते हैं, तो क्या ऐसा दिखाई पड़ता है कि समकालीन रचनाओं की जाँच-परख करते हुए भी कुछ लोग अपनी पूरी परम्परा का पुनर्मूल्यांकन कर रहे हैं? मैं एक आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा का नाम लेना चाहूँगा, जिन्होंने इधर अपने जीवन का बहुत ज्यादा समय 'भारत के प्राचीन भाषापरिवार और हिन्दी' के ऊपर व्यय किया है। वे लगभग दस-पंद्रह साल से यह पुस्तक लिख रहे थे, जो तीन जिल्दों में समाप्त हुई है। वे इसी बीच एक दूसरी पुस्तक भी लिखते रहे हैं, जिसकी घोषणा भी हो चुकी

है—'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' (अब प्रकाशित–सं०)। हिन्दी आलोचना का विकास' (ले० डॉ० नन्दकिशोर नवल—सं०)–जैसे ग्रन्थों में उनका जिक्र ज्यादा आता है, लेकिन पत्र-पत्रिकाओं में डॉ० रामविलास शर्मा का जिक्र आजकल जरा कम होता है। साहित्यिक पत्रकारिता हमारी लगभग राजनीतिक या दैनिक अखबारों जैसी हो गई है। जब तक कोई आलोचक हर समय सक्रिय न रहे, तब तक उसके 'आउट ऑफ डेट' हो जाने का खतरा बना रहता है। बावजूद इन तमाम चीजों के, और ऐसा कहते हैं कि समकालीन साहित्य वह नहीं पढ़ रहे हैं, उस पर नहीं लिख रहे हैं, इस बीच उनकी 'नई कविता और अस्तित्ववाद' नाम की पुस्तक आई है। इसके साथ अपनी परम्परा के मूल्यांकन के क्रम में उन्होंने पुस्तकें लिखी हैं; 'निराला की साहित्य-साधना' के अलावा उन्होंने 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' नाम की पुस्तक लिखी है। आपमें से जिन लोगों ने भारतीय साहित्य के इतिहास सम्बन्धी उनके दो बड़े निबंध, जो एक बड़ी पुस्तक के अंग हैं और जो कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ की पत्रिका 'भारतीय साहित्य' में आज से तीन-चार साल पहले प्रकाशित हुए थे, देखे होंगे, वे अंदाज़ लगा सकते हैं कि डॉ० रामविलास शर्मा समकालीन साहित्य के साथ शायद ऐसी आवश्यकता महसूस कर रहे हैं कि अपनी पूरी परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की जरूरत है। इसका अभिप्राय यही है कि अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक जो विरासत है, उसमें लोक के लिए, जन के लिए, स्वयं भारतीय समाज के भावी निर्माण के लिए जो विधायक तत्त्व हो सकते हैं, जो प्रगतिशील तत्त्व हो सकते हैं, उनको नए सिरे से रेखांकित करने की ज़रूरत है, अर्थात् परम्परा की उस धारा का रूप फिर से उपस्थित करने की जरूरत है, जिसे इससे पहले के आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उपस्थित करते रहे हैं। इसलिए आज भी जो समर्थ आलोचक हैं, वे समकालीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए अपनी पूरी परम्परा के पुनर्मूल्यांकन का प्रयास कर रहे हैं और इस कड़ी में दूसरे जो भी प्रयत्न हो रहे हैं और जहाँ भी प्रयत्न हो रहे हैं, उनकी ओर संकेत करते हुए मैं कहना चाहूँगा कि हिन्दी आलोचना आज भी बुनियादी तौर पर जागरूक है। समकालीन साहित्य को जाँचते-परखते हुए अपनी पुरानी परम्परा के कुछ उपेक्षित, छूटे हुए या जिनकी गलत व्याख्या हुई है, जिन पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया है, उन पर फिर से विचार करने की कोशिश आलोचना कर रही है, जिसका अर्थ यह है कि हिन्दी आलोचना जागरूक है, अपने उस उत्तरदायित्व के प्रति, जो इतिहास ने उसके ऊपर सौंपा है, छोड़ा है।

लेकिन इस मूल धारा को, मूल रेखा को ध्यान में रखने के साथ ही हमें नहीं भूलना चाहिए कि इस बीच जो बिखराव या विघटन या जिसको कहें कि भटकनें आई हैं (उन दोनों भटकनों की ओर मैंने संकेत किया था कि आरोप और प्रत्यारोप लगाए जा रहे हैं), अर्थात् रूपवादी और कलावादी रुझान एक तरफ और दूसरी तरफ साहित्य को समाजशास्त्र अथवा राजनीति का पर्याय मानकर साहित्य की समीक्षा करना, ये अपनी जगह जांच-पड़ताल की जरूरत रखती हैं। कभी-कभी आपको ये दोनों चीजें एक ही जगह दिखाई पड़ेंगी। यह बहुत विडंबना-पूर्ण स्थिति है! लेकिन अक्सर ये अलग-अलग बँटी हुई दिखाई पड़ती हैं।

हमारे राष्ट्रीय जीवन में, सामाजिक जीवन में अंतर्विरोध रहे हैं और इन अंतर्विरोधों से मुक्त कम से कम आधुनिक काल का तो कोई भी दौर नहीं रहा है। स्वयं स्वाधीनता-संग्राम परस्पर विरोधी धारणाओं से मुक्त रहा है, इसमें बराबर टकराव रहा है, जिससे आप में से अनेक लोग परिचित हैं। ऐसा नहीं है कि गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाला स्वाधीनता-संग्राम अखंड, अविभाज्य, सर्वसम्मति से एक राजनीतिक पथ निर्धारित करके चलनेवाला था। उसके बीच भी अनेक अन्त-र्धाराएँ थीं, जिनके बीच टकराव था। अगर ऐसी चीज़ हमारे राष्ट्रीय जीवन में थी तो यह असम्भव है कि हमारे साहित्यिक जीवन में, साहित्यिक चिन्तन में भी इस तरह के अन्तर्विरोध न हों। इसलिए हिन्दी आलोचना के इस पूरे क्रम को देखें तो पता चलेगा कि प्रायः उसकी अन्तर्धाराओं के बीच बराबर टकराव रहा है और कमोबेश जैसी स्थिति रही है, कभी कोई प्रवृत्ति प्रबल हुई है, प्रधान हुई है, कभी कोई प्रवृत्ति प्रधान हुई है। मुझे ऐसा लगता है कि आज जिस रूपवादी रुझान की बात की जा रही है, वह एक निश्चित ऐतिहासिक राजनीतिक स्थिति में और एक खास तरह की प्रतिक्रिया के बीच आया है और पहले भी ऐसी स्थिति आती रही है। मैं पूरे इतिहास तक आपको नहीं ले जाना चाहता, लेकिन कदाचित् सातवें दशक में यानी 1967 के आसपास जो साहित्य में एक विशेष प्रकार की आक्रोश-वादी रचनाएँ हमारे सामने आई थीं, कविता में भी, कहानी में भी, आप देखेंगे कि उनके समानांतर जो आलोचनात्मक लेख लिखे गए थे, उनमें भी आम तौर से साहित्य-चिन्ता मुख्यतः समाजोन्मुख हो गई थी, बल्कि कहिए कि जनोन्मुख हो गई थी। साहित्य-चिन्ता के दौरान जन-चेतना और वर्ग-संघर्ष, वर्ग-चेतना और वर्ग-घृणा आदि-आदि पूरी की पूरी शब्दावली एक बहुत बड़े घटाटोप के साथ प्रयुक्त हुआ करती थी। इसके समर्थक रहे हों तो, विरोधी रहे हों तो, प्रायः उस संवेदन-शीलता की आवश्यकता नहीं समझी गई, जो किसी साहित्यिक आलोचना के लिए

इस्तेमाल की जानी चाहिए। जो हिन्दी में पहले से चली आती हुई सौष्ठववादी आलोचना कहलाती थी, वाजपेयी जी जिसके आलोचक माने जाते थे और किसी दौर में नई कविता के समानांतर अज्ञेय ने जो विशेष प्रकार के रूप पर बल देने वाली चीज़, कला पर बल देनेवाली चीज़, सौंदर्य पर बल देनेवाली चीज़, अपनी साहित्यिक आलोचनाओं में व्यक्त की थी, जो कुछ दिनों के लिए दब गई थी, सातवें दशक के इस उभार के बाद संभवतः उसकी प्रतिक्रिया में, वह रूपवादी रुझान बड़े पैमाने पर नए सिरे से व्यक्त हुआ है।

उसे कुछ संस्थानों का सहारा भी मिला है। भोपाल से निकलनेवाली एक 'पूर्वग्रह' नाम की पत्रिका है; जिसके अनेक शब्द दूसरे लोगों ने भी लिए हैं और इस्तेमाल कर रहे हैं। उनमें से एक 'सरोकार' शब्द है। यह आजकल आलोचना को बोलचाल की भाषा के करीब ले आने के प्रयत्नों का प्रमाण माना जाता है, इसलिए कुछ जो शब्द शास्त्रीय हैं, उनको छोड़कर अब लोग साहित्य के 'सरोकार' की बात करने लगे हैं ! इस तरह की शब्दावली के द्वारा यह आभास दिया गया है कि आलोचना की पूरी भाषा बदली जा रही है, लेकिन वह सारा का सारा 'सरोकार' एक प्रकार के रूपवादी या कलात्मक आक्रमण से जुड़ा हुआ हैं. जो 'पूर्वग्रह' पढ़कर (किसी एक अंक से नहीं, बल्कि जो छः-सात साल में 'पूर्वग्रह' निकला है, उसकी चिन्ताओं से) आप देख सकते हैं। इसके साथ एक तर्क है, युक्ति है। वह यह कि हिन्दी की समीक्षा मुख्यतः काव्य-समीक्षा है, यदि और अधिक बढ़िए, तो साहित्य समीक्षा है। यह अधिक ऊँची भूमिका पर तबतक प्रतिष्ठित नहीं हो सकती, जबतक कि व्यापक रूप से यह सौंदर्यशास्त्र का एक अंग नहीं बनती है, अर्थात् सौंदर्यशास्त्रीय ढाँचे और प्रणाली के अन्तर्गत ही साहित्य-समीक्षा का विकास हो सकता है। अन्य कलाओं की चर्चा के बीच 'साहित्य' नाम की कला की चर्चा करने से उसे अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य मिलेगा। हममें से जो लोग आचार्य रामचंद्र शुक्ल के साहित्य के विद्यार्थी हैं, वे जानते हैं कि आचार्य शुक्ल ने इसका घोर विरोध किया था। यही नहीं कि उन्होंने सौंदर्यशास्त्री क्रोचे का ज़बरदस्त खण्डन किया था। बल्कि उस क्रम में उन्होंने यह भी कहा था कि 'सुन्दर' शब्द साहित्य में किसी काम का नहीं है या बहुत उपयोगी नहीं है। शायद इसी क्रम में वे यह भी कहते थे कि साहित्य के सन्दर्भ में कला की चर्चा नहीं करनी चाहिए, यह कलावाद की ओर ले जाएगा। उनकी यह धारणा थी कि साहित्य कला नहीं। मैं इस इस ब्योरे में नहीं जाना चाहता कि स्वयं आचार्य शुक्ल की यह स्थापना ठीक है कि नहीं है, लेकिन उसके जो परिणाम दिखाई पड़ते हैं, वे सामने हैं ! जब आचार्य शुक्ल यह

कह रहे थे, तो उसके पीछे एक बहुत बड़ी भारतीय साहित्य की परम्परा थी और वह परम्परा यह थी कि (यद्यपि प्राचीन भारत के सौंदर्यशास्त्रीय चिन्तन के पुनर्निर्माण का प्रयास करने वाले ग्रन्थ लिखे गए हैं) कुल मिलाकर हमारा जो अलंकार-शास्त्र है, जो काव्यशास्त्र है, वह समस्त ललित कलाओं के साथ काव्य की चर्चा करने वाला सौंदर्यशास्त्र नहीं है। यह एक परम्परा थी, जिसके अनुरूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक काल में यह बात कह रहे थे। कुछ लोगों ने सौंदर्यशास्त्र की चर्चा भी की, ग्रंथ भी लिखा, बड़े महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् ग्रन्थ लिखे, इस दिशा में काम भी किया, किन्तु उसके जो परिणाम प्रकट हुए, जैसा कि मैंने कहा, वे सामने हैं। यह मैं 'पूर्वग्रह' के प्रयासों के सन्दर्भ में कह रहा हूँ, क्योंकि 'पूर्वग्रह' केवल साहित्य की समीक्षा करने वाली पत्रिका नहीं है बल्कि वह हमारे हिन्दी के एक असन्तुलन को दूर करने का प्रयास करने का दावा करने वाली पत्रिका है। यहाँ साहित्य के साथ ही चित्रकला की समीक्षा की समीक्षा भी प्रकाशित होती है, संगीत की समीक्षा भी प्रकाशित होती है और इन दोनों कलाओं के अतिरिक्त उसमें नाटक और रंगमंच की समीक्षा तो प्रकाशित होती ही है। अन्य ललित कलाओं की चर्चा के द्वारा साहित्य को सन्तुलित करने का प्रयास—यह बहुत शुभ दावा है। पश्चिमी देशों में कभी-कभी ऐसा हुआ है। इस प्रवृत्ति के ही अनुरूप है यह बात कि आज के जो रचनाकार हैं, कवि हैं, कहानीकार हैं, वे आज अन्य रचना-कर्मियों के ज्यादा निकट हैं; व्यक्तिगत रूप से कई चित्रकार और कवि मित्र हैं आपस में। ऐसे कहानीकार है और संगीतकार हैं, जो आपस में मित्र हैं, एक दूसरे को समझने की कोशिश कर रहे हैं। यह दूसरी बात है कि दोनों के जो सर्जनात्मक प्रयास हैं, वे जरूरी नहीं कि एक ही भाव-बोध द्वारा निर्धारित हों। वे अलग-अलग हो सकते हैं। किन्तु इस बीच दोनों निकट आए हैं और निकट आने के फलस्वरूप अथवा निकट आने के समानान्तर 'पूर्वग्रह' में इस तरह का प्रयास हुआ है कि साहित्य और काव्य की चर्चा के साथ अन्य कलाओं की चर्चा भी की जाय। किन्तु कुल मिलाकर इससे जो नतीजा निकलता है और निकल रहा है, जो उसकी फल-श्रुति है, वह बहुत अनुकूल नहीं है।

जो सच्चा, सही, सामाजिक चेतना वाला आलोचक होता है, उसे जरूरत नहीं महसूस होती कि वह सौन्दर्यशास्त्र का भी ध्यान रखे, उस पर भी ग्रन्थ लिखे, फिर उसके बाद कोई 'क्योंकि समय एक शब्द है'–जैसी चीज (ले॰ डॉ॰ रमेश कुन्तलमेघ—सं॰) भी लिखे और दोनों में तालमेल बैठाने की कोशिश करे। ऐसे ही और उन्हीं के मित्रों में से, मैंने संकेत दिया, मेरे मित्र डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

हैं। उन्होंने शैली-तात्त्विक अध्ययनों पर भी काम किया है और श्मशानी अघोर-पंथियों पर भी किया है। वे सबसे ज्यादा क्रान्तिकारी भी हैं और शैली-तत्त्व का सबसे अधिक अध्यन भी उन्हें है। यहाँ दोनों चीजें एक जगह हो सकती हैं। इस बीच फ्रांस का पिटा हुआ संरचनावाद (Structuralism) सोशियोलॉजी वालों ने अपनाया है, एंथ्रोपॉलोजी वाले अपना रहे हैं। अब यह अपनी पिछड़ी हुई हिन्दी बहुत ही पिछड़ जाएगी, अगर फ्रांस में प्रचलित संरचनावाद को न अपनाए! संरचनात्मक अध्ययन हो रहा है। संरचनात्मक विश्लेषण हो रहा है!! अब हम लोग रूप का जिक्र नहीं करते, हम प्रबन्धत्व का जिक्र नहीं करते, अब हम किसी भी कृति की संरचना की बात करते है और जब यह संरचनावाद पिट गया, तो पिट जाने के बाद उसकी लाश को हिन्दी में ले आकर, उस पर फूल-माला चढ़ाकर हम उसकी आरती उतारने की कोशिश कर रहे हैं। मित्रों, ये जो प्रवृत्तियाँ मैंने बताई—शैली-विज्ञान और संरचनावाद, संयोग से इन दोनों का गहरा सम्बन्ध रूपवाद से है, जिसमें 'कंटेंट' को, अन्तर्वस्तु को उतना महत्व नहीं दिया जाता है, उसे गौण समझा जाता है। शैली-विज्ञानी और संरचनावादी अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तनधारा के बीच उभरते हुए क्रान्तिकारी प्रवाह के घोषित रूप से विरोधी लोग हैं, यानी ये मार्क्सवाद-विरोधी लोग हैं। इसलिए ऐसा नहीं है कि शैली विज्ञान और संरचनावाद ऐसी नई और आकर्षक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनकी ओर हमें खिंच जाना चाहिए बल्कि उनकी एक राजनीति है।

मैं कहना चाहूँगा कि हमारी हिन्दी आलोचना की एक बड़ी महान् परम्परा रही है। यह वह कि अपने राष्ट्रीय चिन्तन के अनुरूप, राष्ट्रीय स्वाधीनता के अनुरूप, पश्चिम की जो उपनिवेशवादी नीति रही है और विचारधारा रही है, हमलोग उसके विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते रहे हैं। यह नींव आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही नहीं, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने डाली थी। पश्चिम में आलोचना के नाम पर चलने वाली अनेक विचारधाराएँ अपने अन्दर एक राजनीति भी छिपाए हुए है। उस राजनीति को उपनिवेशवादी विस्तार का अंग समझते हुए हिन्दी आलोचना एक अरसे से उसके प्रति स्वयं सजग रहती आई है और पाठकों को भी सजग करती आई है। जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल क्रोचे का विरोध कर रहे थे, तो अभिव्यंजनावाद नाम के एक बड़े उत्तम सिद्धान्त का ही विरोध नहीं कर रहे थे, बल्कि वे क्रोचे के उस दर्शन के पीछे छिपी हुई जो एक राजनीति थी, उनके खिलाफ भी लड़ रहे थे। उन्होंने आई. ए. रिचर्ड्स से एक पक्ष लेकर उसकी सम्पूर्ण मूल्य-प्रणाली को 'प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' की रीढ़ को, उसकी नींव को एक तरफ रखा,

क्योंकि वह बेन्यम पर आधारित थी, यह मिल के गुणवादी सिद्धान्त पर आधारित थी : उन्होंने उसकी प्रणाली का यह तत्व लिया, जो कलावाद के विरुद्ध था। वह 'पैरालाइजिम एपरिशन ब्यूटी', 'पुतल-सा लगने वाला सौन्दर्य' और उसकी छाया के पीछे भागनेवाला रचनाकार रिचर्ड्स ने उसका जो विरोध किया है, मुक्त जी उसके उस पक्ष को लेकर बाकी को छोड़ देते हैं। आश्चर्य है कि स्वाधीन हो जाने के बाद भारत में जब यह बात बहुत साफ हो गई है कि पुराना साम्राज्यवाद नए उपनिवेशवादी रूप में कई तरह से तीसरी दुनिया के कहे जाने वाले देशों पर अपनी पतनोन्मुख विचारधाराओं के द्वारा अपनी गहरी और काली छाया डाल रहा है। आज जब यह बात मामूली किसान भी जान सकता है, पढ़े-लिखे लोगों की तो और है, तब ये हमारे इतने प्रबुद्ध समर्थ आलोचक, संरचनावाद, शैली-विज्ञान आदि आदि विचार-धाराओं और मतों का हिन्दी में प्रवेश कराने की कोशिश कर रहे हैं। ये उनकी राजनीति को न पहचानते हों, ऐसा विश्वास नहीं होता। क्यों ऐसा हो रहा है ? यह दिन के उजाले की तरह से खुला हुआ आज के विश्व के पैमाने पर चलने वाला संघर्ष है। उस संघर्ष में रूपवादी रुझान वस्तुतः पुराने ढंग की सौष्ठव-वादी आलोचना ही नहीं रह गया है बल्कि आज के दौर में रूपवादी रुझान एक निश्चित राजनीति का अंग है, एक राजनीति से जुड़ा हुआ है। वह राजनीति समूचे के समूचे साहित्य पर अपनी गहरी और काली छाया डाल सकती है, जिसकी ओर लोगों का ध्यान कम जा रहा है या कम जाता है।

इसके ठीक दूसरी तरफ मैंने एक घोर समाजशास्त्रीय रुझान वाली आलोचना का जिक्र किया था। एक विचित्र बात है कि ये ज्यादातर भावोच्छ्वासी आलोचनाएँ हैं, जो पत्रकारिता की भाषा और शैली में व्यक्त होती हैं, जिससे जिस तरह की साहित्यिक प्रवृत्ति का वे समर्थन करती हैं, उस तरह की साहित्यिक प्रवृत्ति के बारे में हमारी कोई जानकारी नहीं बढ़ती। उनसे इस-उस आलोचक की आस्था का पता तो चल जाता है, यह तो मालूम हो जाता है कि यह आदमी यह मानता है, यह विश्वास करता है, अपने 'कमिटमेंट' के बारे में, अपनी प्रतिबद्धता के बारे में आश्वासन देता है, अपनी आस्था की घोषणा करता है, साथ ही दूसरों की भर्त्सना करते हुए अपने विचारों की प्रगतिशीलता का एक दावा दिखाई पड़ता है, लेकिन इस पूरी चर्चा में आप देखेंगे कि ठोस साहित्य की समीक्षा या अपनी परम्परा की समीक्षा वाली बात नहीं दिखाई पड़ेगी। राजनीति में एक तरह का उग्रवाद है, जो यथार्थ से दूर अमूर्त स्तर पर शुद्ध आक्रोश और क्रोध (बड़ा तात्विक क्रोध है, इसमें कोई शक नहीं है।) के रूप में व्यक्त हो रहा है। साहित्य में उसी

तरह की एक आलोचना दिखाई पड़ेगी, जिसमें साहित्य की चर्चा कम रहा करती है। जब मैं राजनीतिक धरातल पर दृष्टिपात करता हूँ, तो मुझे लगता है कि कहीं कहीं यह आलोचना भी उसी नव-उपनिवेशवादी राजनीति का अंग है, जिसका जिक्र मैंने अभी-अभी किया। मैंने कहीं पढ़ा था कि सी० आई० ए० ने जब 'एंटी-कम्युनिज्म' वाला, साम्यवाद-विरोध वाला जो डलेस के जमाने वाला ढंग था, वह छोड़ दिया है और आज के जमाने में इधर अनेक देशों में उसने जो तरीका अपनाया है, जो हथकंडा अपनाया है, वह आमतौर से उग्रवामपंथी दलों के नाम पर। मैं नहीं कहता कि वे सारे के सारे दल सी० आई० ए० के एजेन्ट हैं, लेकिन 'एजेन्ट' की, 'सबॉटियर' की बाकायदा अमरीका मे 'ट्रेनिंग' दी जाती है और 'ट्रेनिंग' देकर ऐसे 'एजेन्ट' भेजे जाते हैं, कुछ खास देशों में, जिन देशों में चलने वाले जनता के सच्चे आन्दोलन हैं, तात्त्विक असन्तोष है, क्रोध है, जिन देशों में लोग अपनी जिन्दगी बदलना चाहते हैं। उन देशों में जाकर ये लोग उस तरह के कार्य करते हैं, जिनसे दमन को बढ़ावा मिले और दमन को बढ़ावा मिलने के कारण जनतन्त्र वहां खतरे में पड़े; तानाशाही कायम हो और वहाँ एक तरह की जो 'स्टेबिलिटी' है, जो स्थिरता हैं, वह समाप्त हो और एक अस्थिर समाज-व्यवस्था आए, जिसके द्वारा विघटन हो। तीसरी दुनिया के देशों में नव-उपनिवेशवाद की जो नई रणनीति दिखाई पड़ रही है, वह यह कि कहीं भी स्थिरता न रहे। स्थिरता का मतलब है--विकास। इसलिए किसी न किसी प्रकार वहां एक विशेष प्रकार की अस्थिरता पैदा करके वे विकास को रोकना चाहते हैं। आप दुनिया के नक्शे पर दृष्टि डालें, तो देखेंगे कि तीसरी दुनिया के कम देश रह गए हैं (भारत उनमें से एक है, गहरी मजबूत जड़ों और मूल्यों के कारण) जहां वह अस्थिरता, जो वे चाहते है, आ नहीं सकी है। उसके लिए एक खास तरह का प्रयत्न किया जा रहा है। जो सच्चे क्रान्तिकारी आन्दोलन वहाँ हैं, उनको बदनाम किया जा रहा है, उनके दमन की भी कोशिश करवाई जा रही है, उनके बीच तोड़फोड़ करवाई जा रही है और एक तरह का 'कनफ्यूजन' पैदा किया जा रहा है, खुद उनकी कतारों में। क्या इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध कहीं साहित्यिक आलोचनाओं से है? यह सवाल है। मैं इतनी जल्दी दो चीजों में सम्बन्ध नहीं जोड़ता। लेकिन ऐसी विचार-धारा से प्रसूत होने वाली चीजें समाजशास्त्र में, राजनीतिशास्त्र में दिखाई पड़ रही हैं और दर्शन के क्षेत्र में भी आ रही है। क्या साहित्य इनसे एकदम अछूता रह सकता है? स्वयं अमरीका में छपने वाली कुछ ऐसी आलोचनाएँ भी मैं देख रहा हूँ जो घोषित रूप में 'न्यू क्रिटिसिज्म', 'स्ट्रक्चरलिज्म', किसी भी तरह के 'कला के लिए कला' वाद

के विरुद्ध है, लेकिन कुल मिलाकर उनका जो स्वर है, मैं कहूँ कि एक तरह का उच्छेदवादी स्वर है। यह उच्छेदवादी परम्परा साहित्य की जड़ों को जनता से, लोकमानस से उखाड़कर एक ऐसे हवाई, अमूर्त्त आक्रोश की भूमि पर अपने को व्यक्त करने लगी है: जहां स्वयं साहित्य अपनी आलोचना से जलग हो गया है, बिछुड़ गया है।

इन दो ध्रुवान्तों (जिनकी पहचान मैंने तय की है, जिनकी पहचान हमा परम्परा से होती है) के बीच जब तक एक सड़क न हो, तब तक हम यह नहं जानते हैं कि वहां से फूटने वाली अलग-अलग पगडंडियां कौन-सी हैं ? मैं उस मुख्य आलोचना की ओर, उस राजमार्ग की ओर संकेत कर रहा हूँ, जो आचार्य महावीर- प्रसाद द्विवेदी (इनका नाम न जाने कैसे स्वागत-भाषण में नवल जी से छूट गया था। यह सोद्देश्य भी हो सकता है, सकारण भी हो सकता है, अकारण भी हो सकता है।) द्वारा अपनाया गया है। मैं यह मानता हूँ कि हिन्दी आलोचना की यह मुख्य धारा है, जो आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से चलती हुई, रामविलास शर्मा से गुजरती हुई आज के आलोचकों की ओर बढ़ रही है। सम्भव है कि उनमें अनेक नए हस्ताक्षर हों, जिनका कृतित्व उतना दबीज न हो, उतना उल्लेख्य न हो; सम्भव है कि एक लेख उन्होंने लिखा हो, लेकिन कहीं न कहीं ऐसे सार्थक लिखे हुए लेख उस परम्परा से जुड़े हुए हैं, जिसके आधार पर हम आलोचना के भटकावों को जानते हैं और परखते हैं।

आलोचना-आत्मालोचना

—प्रभाकर श्रोत्रिय

कोई एक हजार साल पहले कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा था कि यह ग्रन्थ काव्य का अंश है और इसके भी वे ही उद्देश्य हैं, जो कविता के हुआ करते हैं। (अस्य ग्रंथस्य काव्यांगतया काव्य-फलैरेव फलत्वमिति काव्यफलान्याह)। मैं समझता हूँ कि आज भी आलोचक इस बात से इन्कार नहीं करता। यदि कविता के लक्ष्य और विधान में बदलाव आया है तो आलोचना की दृष्टि और औज़ार भी बदले हैं। लेकिन रचना और आलोचना अपनी यात्रा एक तरह से नहीं करती और उनकी परम्परा भी अलग ढंग से निर्धारित होती है। यों कहें कि जो रिश्ते जीवन और साहित्य के हैं, लगभग वे ही रचना और आलोचना के हैं—यानी मूल्य और मूल्यांकन के। काश्मीरी कवि मंखक ने कहा है कि समीक्षा वह हवा का झोंका है जिसके बिना यह नहीं जाना जा सकता कि कोई दीपक मणिदीप है या साधारण दिया है।

> नो शक्य एव परिहृत्य दृढ़ां परीक्षां।
> ज्ञातुं मितस्य महतश्च कविविशेषः॥
> को नाम तीव्र पवनागममन्तरेण।
> तत्वेन वेत्ति शिखिदीप मणि प्रदीपो॥

लेकिन नहीं, कई बार रचना की कसौटी पर आलोचना भी परखी जाती है कि वह स्वयं कितनी खरी है। इस स्पर्द्धा के बिना आलोचना में कृत्रिम अनुशासन, तानाशाही और अराजकता पैदा होती है, पुल की बजाए दीवार खड़ी होती है। जबतक आलोचना में यह योग्यता पैदा नहीं होती कि वह रचना का सही और सार्थक मूल्यांकन बन सके; वह बौनी और घटिया बनी रहती है और तब भी जब वह रचना का अतिमूल्यांकन करती है।

लेखक की नाराज़गी : प्रेय और श्रेय में से श्रेय को चुनना आलोचना का उत्तरदायित्व है, हालांकि तकलीफ़देह। क्योंकि यहीं अक्सर लेखक और आलोचक

के बीच अनुकूल या प्रतिकूल सम्बन्ध का कारण रहा है। श्रेय-मार्ग ने भी लेखक की आँखों में आलोचक की मूर्ति क्रूर पुलिसमैन या कड़े परीक्षक की बनाई है और उसकी स्नेहमयी तड़पती आत्मा कहीं गुम हो गई लगती है। एक सतेज लेखक के भीतर भी आखिर तो उसका मकस यही है।

"किन्तु पुनः-पुनः उन्हीं सीढ़ियों पर नये-नये आलोचक नेत्र (तेज़ नाक वाले तमतमाये मित्र) खूब काटछांट और गहरी छीलछाल, रंदों और बसूलों से मेरी देखभाल, मेरा अभिनव संशोधन, अविरत क्रमागत" (मुक्ति बोध) तमतमाया, तेज़ नाक वाला, रंदों बसूलों को लिए काट-छांट करता हुआ।" कहाँ है वह आलोचक जो रचना को प्यार करता है, गहरी साझेदारी और सहसंवेदनीयता से भरा होता है ? मुक्तिबोध जैसे कवि तो आलोचक की अपरिहार्यता मानते हैं और लेखक को तराशने में उसकी दीप्ति की जरूरत महसूस करते है, लेकिन कुछ लेखकों को आलोचक बिलकुल अप्रासंगिक और फालतू दीख पड़ता है। उनकी समझ से।

"कवि का/आलोचक से/कुछ ऐसा नाता है/जैसे गंगा एक नदी है/गाय एक चौपाया है/फिर भी हम सब की माता है।"

यह समझ में नहीं आता है कि जीवन की आलोचना करने वाले लेखक अपनी आलोचना से इतने क्षुब्ध क्यों हो जाते हैं ? एक तर्क स्टीफन स्पेंडर का है, जो कवि और आलोचक दोनों हैं। वे कहते हैं कि उत्तेजना लेखक का स्वभाव है, वह हरचीज़ की तरह आलोचना के प्रति भी विचलित हो जाता है।

Why writers so sensitive to criticism ? Partly because it is their business to be sensitive, and they are sensitive about this as about other thing. (A Making of A Poem)

आलोचक का निष्कासन : नई कविता के दौर में, हिन्दी में आलोचक को निष्कासित करने की एक नई मुहिम शुरू हुई। शायद इसकी वजह यह थी कि इस समय विकृत मानसिकता पर तीखे हमले होने लगे थे। (हमले पहले भी होते रहे हैं और दुनिया भर के कवि कविता के बचाव में लिखते भी रहे हैं। बाद में पश्चिम के कुछ लेखकों ने आलोचक को एक अनधिकृत व्यक्ति कहना शुरू किया, तब हिन्दी के उसी मानसिकता के कवि क्यों चूकते ?) कवियों ने आलोचक का उत्तर देने की बजाए उसे ही एक नासमझ, बिचौलिया और अवांछित हस्तक्षेप करने वाला मान लिया। कुछ साल पहले हिन्दी रचनाओं का एक संकलन निकला था— 'निकष'। निकष-10 की भूमिका में पाठक से 'सीधे संवाद' की इच्छा प्रकट की गई

थी, प्रकारांतर से आलोचक की भूमिका समाप्त करने की ही इच्छा थी। सम्पादक कवियों का ख्याल था कि लेखक को 'मनुष्य' में 'मौलिक विश्वास' है, इसलिए वह उससे सीधा संवाद क़ायम करना चाहता है। यह कितनी अजीब बात है कि लेखक का 'मौलिक विश्वास' उस मनुष्य में तो हो जो पाठक के भीतर बैठा है, लेकिन उस मनुष्य में न हो जो आलोचक के भीतर शायद अधिक प्रबुद्धता, ज्ञानविवेक और विश्लेषण की चेतना सहित बैठा है? ज़ाहिर है कि यह 'मौलिक विश्वास' एक विनम्र शिष्यवृत्ति के लिए था, समानधर्मी', प्रतिस्पर्धी, संवादिता के लिए नहीं, तब तो और भी नहीं जब आलोचक तीखा रुख अख़्तियार करे। यह प्रसंग यहां संयोगवश प्रासंगिक हो गया है कि जब मैंने अपनी पुस्तक 'संवाद' के प्रकाशन–दौर में उन कवियों की प्रतिक्रिया जाननी चाही, जिन पर वे निबन्ध लिखे गए थे तब एक को छोड़ कर सभी कवियों ने—जिनमें अज्ञेय, शमशेर, नरेश मेहता, कुंवर-नारायण, वीरेन्द्र कुमार जैन, हरिनारायण व्यास शामिल हैं, अपनी प्रतिक्रिया दी; जिसमें आलोचक से असहमति भी प्रकट की गई थी। लेकिन जीवित कवियों में से केवल एक ने इस संवाद में शामिल होने से इन्कार कर दिया, और वे संयोग-वश 'निकष' के संपादकों में से एक थे। योजना के अनुसार सभी प्रतिक्रियाएँ उस पुस्तक में हू-ब-हू छपीं। मैं पूछना चाहता हूँ कि आलोचक के प्रति लेखक की नाराज़गी या असहमति संवाद-हीनता में बदलना क्या उसी भावना का जारी रहना नहीं है जिसमें आलोचक मात्र के प्रति एक उपेक्षा या अवमावना छिपी है?

यह ठीक है कि आलोचक का एक दृष्टिकोण होता है और वह उस आलोचना में प्रतिबिम्बित भी होता है, लेकिन कोई भी सच्चा आलोचक कभी विरोध गाँठ में बांध कर समीक्षा करने नहीं बैठता, वह सबसे पहले कृति का सहृदय–पाठक है। वह कृति को उसके अनुरूप गहराई तक जाकर समझना चाहता है, लेकिन अगर विवेचन और विश्लेषण के दौर में असहमति पल्लवित होती है तो उसे उजागर करना भी उसकी जवाबदेही है। आलोचना कोई अभिनन्दन पत्र नहीं है; और जो लेखक उससे यही उम्मीद करेगा उसे तो आलोचना का नीर-क्षीर-विवेक अपने जाती मामलों में हस्तक्षेप की तरह ही लगेगा। मुझे लगता है कि अपनी ख़ामियों या विसंगतियों के प्रति असहिष्णु लेखक से यदि पाठक सचमुच समान-स्तर पर खड़े होकर संवाद करने लगे (जिसकी उसे चाह है) तो उसकी आँखों में वह भी आलोचक की तरह ही खटकने लगेगा। यहां तक कि वह पाठक को भी इस क्षेत्र से बाहर निकाल देना चाहेगा। पाठक के बारे में एक आधुनिक लेखक के विचार भी ज़रा जान लें।

"लेखक अगर पाठक के लिए लिखता है तो निहायत मूर्खतापूर्ण चीज़ लिखनी होगी। गधे को शामी-कबाब नहीं खिलाया जा सकता, उसे घास ही खिलानी होगी।।"

: मुद्राराक्षस :

अगर मनुष्य के प्रति 'मौलिक विश्वास' की यही परिणति है तो मुझे कुछ नहीं कहना है, लेकिन अगर यह विश्वास सच्चा है तो सवाल उठता है कि आलोचना के स्तर पर यह वह क्यों हिल उठता है ? उसे ऐसा क्यों लगता है कि रचना की अपेक्षा रचना पर टिप्पणी पाठक को अधिक प्रभावित करेगी। रचना यदि 'संवाद' के लिए खुली है तो आलोचक उससे संवाद क्यों नहीं कर सकता ?

आलोचक को अनुपस्थित कर देने की जो आतुरता बढ़ी है, उसका कारण मुझे यह भी लगता है कि अब वह रचना के आस्वादन या गुण-दोष निरूपण, या ध्वनि-अलंकार की खोज तक सीमित नहीं रहा है। वह रचना-प्रक्रिया प्रेरणा, शब्दों के निहितार्थ तक जाता है। वह व्यक्त के नीचे छिपे अव्यक्त को कुरेदने लगा है, वह रचना के सामाजिक उद्देश्य, यथार्थ की वैज्ञानिकता, कल्पना के औचित्य को लेकर जवाब-तलब करने लगा है; वह भ्रांति, नकल, छद्म और पाखण्ड का पर्दाफाश करने लगा है। उसके औजार ज्यादा वैज्ञानिक, पैने और ठोस होने लगे है। मैं समझता हूँ कि एक ईमानदार लेखक को, इससे विचलित होने की जरूरत नहीं होती है क्योंकि जांच का निष्कर्ष बीमारी ही हो, यह ज़रूरी नहीं है, वह स्वस्थता का आश्वासन भी हो सकती है। प्रकाशित हो जाने के बाद कोई रचना लेखक का निजी मामला नहीं रहती, वह समाज की हो जाती है। इसलिए यह पूछने का कोई औचित्य नहीं है कि किसी को रचना पर अपने विचार प्रकट करने का क्या हक है ? अगर यह पूछा जाता है तो इसमें दम्भ, छल और घोर व्यक्ति-वादिता की बू है। मानवीय विधान की जिस धारा के तहत किसी लेखक को व्यक्ति और समाज की शल्यक्रिया करने का हक़ मिला हुआ है, उसी ने रचना की शल्य-क्रिया का हक़ आलोचक या पाठक को दिया है। लेखक की या किसी की नाराज़ी आलोचक को अपने उत्तरदायित्व और अधिकार से वंचित नहीं कर सकती।

हाँ, कभी-कभी लेखक की नाराज़ी जायज़ लगती है, जब वह देखता है कि उसके अभिप्रायों को छल से घुमा कर या तोड़मरोड़ कर पेश किया जा रहा है, या उसे समझा नहीं जा रहा है या आलोचना पूर्वग्रहग्रस्त, संवेदनहीन, दृष्टिहीन या भ्रामक है। लेकिन इसी वजह से आलोचना मात्र या लेखक मात्र को खारिज नहीं किया जा सकता।

लेखक–आलोचक : यहाँ यह कहना गलत न होगा कि आलोचक को,

पाठक की आड़ लेकर, हटाने के बहाने कुछ स्वयंभू आलोचकनुमा लेखक उस आसंदी पर बैठना चाहते रहे हैं। ताकि "परस्पर प्रशसान्ति" या 'निन्दन्ति' वाला व्यापार चला सके। अगर आलोचना एक गैरजरूरी काम है तो लेखक ही उसमें क्यों पड़ता है : क्या रचना ही पाठक से सीधे संवाद के लिए काफी नहीं है ? एक ओर तो यह कहा जाता है कि 'कविता ही कवि का परम वक्तव्य है' और दूसरी ओर वक्तव्यों की झड़ी लगाई जाती है। मतलब वे जो कविता में कह रहे हैं उसी की पुष्टि खुद कर देना चाहते हैं। निज कवित्त किसको अच्छा नहीं लगता और कौन अपने नाजायज के लिए जायज तर्क नहीं जुटाता ?

इसमें शक नहीं है कि कुछ रचनाकार अच्छे आलोचक भी रहे हैं, लेकिन आमतौर पर आलोचना के लिए जरूरी वस्तुनिष्ठता उनमें नहीं होती। रचनाकार जब आलोचक बन बैठता है तो कैसे घपले करता है, इसके प्रमाण मैं 'निकष' से ही लेता हूँ। उक्त योजना के तहत निकष 2–3 में शमशेर को सीधे पाठकों से बातचीत करने को पेश किया गया। उसमें आप एक जगह फरमाते हैं।

"कविता में निराला और पंत के बाद कुछ भी नया जिसे कहें, नहीं आया है, सिवाय थोड़ा अज्ञेय के यहाँ। और जो कुछ नया मालूम होता है, वह या तो अधकचरा है या साहब विलायती बैंगन।"

तो, साहब, यह तो बिल्कुल तर्कातीत और तथ्यातीत बात हुई। तमाम कवि और खुद शमशेर क्या बासी हलवा पका रहे थे या विलायती बैंगन ? एक सचेत या उत्तरदायी आलोचक ऐसी बेबुनियाद बात इतने साहस के साथ नहीं कह सकता था। प्रयोगवाद के शुरू के दौर में ही अज्ञेय ने क्या निराला को मृत घोषित नहीं कर दिया था ? इसके बाद निराला ने कितनी ताकतवर कविताएँ लिखीं। लेखक, जब श्रेष्ठ लेखक भी आलोचकीय मुद्रा अपनाते हैं तो अपनी तलवार की धार सबसे पहले समानधर्मा लेखक पर ही परखता है। सही माने में उसे तमाम विचलनों से ढेर सारी जिरहें, प्रतिक्रियाएँ, बहसें, साक्षात्कार वगैरह भरे पड़े हैं। रचना के खास संवेगों, रुझानों, आत्मस्थापना की कोशिशों की वजह से कवि के भीतर बैठा आलोचक, आलोचक के भीतर बैठे कवि की तुलना में बहुत कम निर्वैयक्तिक हो पाता है।

आलोचना में अराजकता : यहाँ मैं उन आलोचक यश: प्रार्थियों की अभिसंधि का भी जिक्र करना चाहूँगा जो 'पेशेवर' या धन्धई आलोचना का जुमला उछालने के बहाने आलोचना में उच्छृंखलता की घुसपैठ कराना चाहते हैं। (समीक्षा के लिए पूरी तरह समर्पित लोग अगर धंधई हैं तो कविता-कहानी में जुटे लेखक

धंधई क्यों नहीं है, और वह अगर धंधा है तो ज्यादा लाभ का है।) मेरा विचार है कि ऐसे जुमलों का निशाना पाठ्यपुस्तकीय लेखन या बाज़ारू नोट्स नहीं है। असल में वह आलोचना है जो गम्भीर, उत्तरदायी, विश्लेषणपरक और अध्ययन-संपन्न है, जो परम्परा और समकालीन विवेचना सिद्धांतों से लैस है और प्रामाणिक तौर पर रचना और कथित आलोचना की गिरोहबाज़ी को चुनौती देने की स्थिति में है। क्योंकि इस तरह के फ़तवे वे ही लोग देते हैं जो अपनी रीढ़हीनता को ही आलोचना-दर्शन का जामा पहनाते हैं। सिद्धांतहीन, दृष्टिहीन दफ़्तरी टीपनुमा और चटखारे लेनेवाले फतवों को आलोचना का दर्जा देना चाहते हैं। ये कहना चाहते हैं कि अध्ययन, चिन्तन, गम्भीरता, विश्लेषण, परम्परा की समझ समानांतर ज्ञान-क्षेत्रों की यात्रा, तटस्थता और ईमानदारी मूर्खता है। शायद जलसों को पीकर कविता में डिनर करना गैर धंधई और गैर पेशेवर आलोचना हो!

अगर अकादमिक लेखन को धंधई और पेशेवर कहा जाता है तब भी नोट्स, पाठ्यपुस्तकीय लेखन और अकादमिक लेखन में भेद करने की योग्यता यहां गैरमौजूद है। सच तो यह है कि दुनियाभर में अकादमिक लेखन से साहित्य चिंतन की दिशा में नींव का काम किया है। उसे प्रमाणों की रीढ़ पर खड़ा किया है, अन्वेषण के साथ ही परम्परा का पुनरीक्षण किया है; वह पूर्व लेखन के प्रामाणिक संदर्भ देती है। जबकि स्वच्छंद आलोचना में प्रायः पूर्व कथनों में थोड़ा-बहुत फेर बदल करके, बिना मूल लेखक का नाम लिए उन्हें अपने कथन की तरह प्रस्तुत करने का चाव है। यहां विदेशी भाषा के जुमलों का मौलिक की तरह रूपांतरण करके अपने बौद्धिक तेज का ढिंढोरा पीटा जाता है। यह एक खूबसूरत डाकेज़नी की तरह है। मुझे यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण लगता है कि समूचे अकादमिक लेखन के प्रति जो विकृत माहौल बनाया जा रहा है, वह हमारी अगली पीढ़ियों को अपढ़ता और घमंड से भर रहा है। साहित्य में निरन्तर संदर्भहीनता और पाखण्डपूर्ण आत्मप्रदर्शन बढ़ रहा है। कुल मिला कर यह प्रवृति आत्मघाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं घटिया अकादमिक लेखन, जड़ वर्गीकरणों और मृत-अवांछित उद्धरणों के इस्तेमाल की वकालत कर रहा हूँ। वास्तव में जहां इनकी आड़ लेकर समस्त अकादमिक लेखन के प्रति पैदा की जा रही हीनता का विरोध कर रहा हूँ; ठीक वैसे ही जैसे घटिया कविता, कहानी या अन्य रचनाओं का करता हूँ लेखन-मात्र का नहीं। और फिर अकादमिक-काव्यशास्त्र दफ़्तरी काव्यशास्त्र की तुलना में तो बेहतर है ही।

संजीदा लेखक और आलोचना : ऐसा नहीं है कि रचना के क्षेत्र में आलोचना के प्रति हमेशा निषेध ही पनपता रहा हो। संजीदा लेखकों ने पूर्व-ग्रहरहित ईमानदार और संवेदनशील आलोचना को बराबर मान दिया है। मैंने कई बार यह महसूस किया है। मेरी पुस्तक "संवाद" इसका प्रमाण है जिसमें आलोच्य कवियों की प्रतिक्रियाएँ भी छपी है, अधिकांश कवियों ने आलोचना से सहमति प्रकट की है। एक कथाकार ने अपनी पुस्तक पर मेरी आलोचना को लेकर मुझे लिखा था। (इस पुस्तक पर) "इतनी भीतरी, इतनी गहरी, सभी पक्षों को ध्यान में रखती समीक्षा शायद और नहीं लिखी जा सकेगी, मुझे भी एक लेखक की हैसियत से ऐसा दर्पण कहाँ देखने को नसीब होगा ? अपने गुण-दोषों का निष्पक्ष ब्यौरा ! अपनी अंतिम परिणति में यह समीक्षा, समीक्षक की रचनात्मक ऊर्जा को अधिक प्रकाशित करती है।" एक अन्य लेखक ने पत्रिका में ही मेरी आलोचना पढ़कर पत्र लिखा कि "यह समीक्षा बहुत संतोष देती है। क्योंकि यह संक्रियात्मक है।.... आम समीक्षकों की तरह जजमेंट पास नहीं करती, बल्कि एक संभावित (संभावित इसलिए कि कोई प्रतिक्रिया रचना को सही ही पकड़े, यह जरूरी नहीं होता।) लक्षण उठाकर उसकी तह में जाने की कोशिश करती है।....उपन्यास की ढेर समीक्षाओं में एक 'उनको' इस समीक्षा ने उपन्यास-लेखक को संतोष पहुँचाया है।" यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि उक्त दोनों समीक्षाएँ प्रशंसापरक नहीं थीं। हालांकि आलोचक ने लेखक के सर्जनात्मक संघर्षों में साझीदारी अवश्य अनुभव की थी। ज़ाहिर है कि एक सही लेखक को सही आलोचना की कितनी दरकार रहती है !

आलोचना-प्रक्रिया : गम्भीर आलोचनाकर्म परकायप्रवेश की तरह जटिल और सूक्ष्म साधना होती है। वह केवल सजग सेंसर नहीं है, संवेदनशील सृजन भी है। आलोचक को ज्ञान, अनुभूति, और प्रेक्षण की सुदूर व्यापक यात्राएँ करनी होती हैं। रचनाकार के साथ उसकी खोज-यात्राओं में बेहिसाब भटकना भी होता है। आलोचक को ब्यौरों, प्रमाणों, बारीकियों और तर्कों के कंटीले रास्ते से चलते हुए महीन काम करना होता है। अपने औज़ारों को बार-बार परखना और पैनाना भी होता है। शब्द और भाषा के भीतर उतरने वाले आलोचक को अपनी भाषा और अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार जैसा ही संघर्ष करना होता है। आलोचक को जहाँ एक ओर रचना में निहित मूल संसार की जानकारी हासिल करनी होती है, वहीं रचना के भीतर उसके पुनर्सृजन का भी मूल्यांकन करना होता है, इस तरह उसका काम अधिक परिश्रमपूर्ण और दोहरा होता है। स्रोत और उसकी सर्जनात्मक परि-

गति के युगपत् साक्षात्कार का काम कितना दूभर और गहरा है, इसे अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। इतना ही नहीं भीतर–बाहर की तमाम विसंगतियों की पड़ताल करते हुए उसे पाठक और लेखक के लिए विश्वसनीय और सृजनपरक विवेचना प्रस्तुत करनी होती है।

यहीं मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि आज सर्जनात्मक आलोचना के नाम पर रचना का जो अवमूल्यन और अतिमूल्यन किया जा रहा है या प्रभाववादी प्रवृत्तियों को पुनर्जाग्रत किया जा रहा है या सिद्धांतहीन अराजकता पैदा की जा रही है, वह आलोचना को भले ललित गद्य की तरह रोचक बना दे, उसे सही और सार्थक–या कहूँ–मानक आलोचना नहीं बना सकती। आलोचना में लालित्य और आकर्षक शैली से मैं इन्कार नहीं करता, बल्कि उसे वांछित भी समझता हूँ, लेकिन वह आलोचना के नैतिक दायित्व की कीमत पर आए–यह स्वयं आलोचना की सार्थक उपस्थिति के पक्ष में नहीं है। फिर, ऐसी शैली अपनाए बिना आलोचना कोई दूसरे दर्जे की क्रिया नहीं बन जाती न सृजन से कमतर हो जाती है। भले ही उसकी प्रक्रिया अलग ढंग की हो। आलोचना से अध्यवसाय, चिन्तन, विश्लेषण, अन्वेषण आदि निकालकर हम उसे बाजारू बना देंगे और ऐसे लोगों के हाथों में सौंप देंगे, जो उसे खिलवाड़ समझते हैं। आलोचना करते हुए हीनभाव रखने का कोई मतलब नहीं है। जीवन और रचना का युगपत् साक्षात्कार करने वाली मेधा सामान्य नहीं हो सकती। मुझे लगता है कि आलोचना के प्रति गलत दृष्टिकोण ने ही बहुत से सही आलोचकों को आलोचना से विरत कर कविता, कहानी, उपन्यास आदि लिखने की ओर प्रेरित किया है। मैं नहीं समझता कि एक सही और सार्थक आलोचना बिना सर्जक मानस के संभव है। सृजन तो उसमें अन्तर्हित है ही। संवेदन और विज्ञान से सम्बन्धित, अन्तर्दृष्टि के बिना क्या आलोचना संभव हो सकती है ? मैं तो कम से कम यही मानता हूँ कि अगर प्रज्ञा की श्रेष्ठतम प्रतिभा सर्जना है तो उस सर्जनात्मक प्रतिभा की पहचान को व्यापक जीवन-दर्शन, विवेक बुद्धि के ज़रिए सार्थक अभिव्यक्ति देना भी उतनी ही बड़ी सर्जना है। अगर जीवन को आधार मानकर लिखी रचना मौलिक हो सकती है, तो उसी रचना को आधार मानकर लिखी आलोचना क्यों मौलिक नहीं हो सकती ? अपनी सामाजिक-दार्शनिक भूमिका के बावजूद हर प्रकार की गहरी रचना के प्रति संवेदित तटस्थता बनाए रखना आलोचक के लिए बहुत तनावपूर्ण काम है। लोगों ने मुझसे अवसर पूछा है कि कोई आलोचक विभिन्न विचारों, रचना-प्रकृतियों और युगों के लेखकों पर एक जैसी तन्मयता से कैसे लिख सकता है ? और हर जगह

अपने मूल्यांकन का औचित्य कैसे साबित कर सकता है ? और अगर सब जगह वह सराहना और असहमति के बीच एक संतुलन बनाए रखता है तो उसके अपने वैचारिक और सामाजिक दर्शन का निजत्व कैसे बरकरार रख सकता है ? इस बारे में मुझे कहना है कि जैसे सुन्दरता और कुरूपता की एक सामान्य अवधारणा होती है—बावजूद इसके कि सब जगह भिन्नता और विशिष्टता भी होती है, उसी तरह विभिन्न दृष्टि और शैली के बावजूद रचना के सौंदर्य और असुन्दरता की एक सामान्य अवधारणा होती है । इसी अवधारणा के साथ आलोचक अपना काम शुरू करता है । निश्चय ही इसका प्रस्थान सृजन-शिल्प के सौंदर्य से होता है । इसके बाद वह रचनाकार के युग-परिप्रेक्ष्य, उसकी वास्तविक प्रेरणा, सामाजिक-दार्शनिक दृष्टि आदि के भीतर उतरता है । सर्जनात्मक संवेदन के साथ दूर तक जाने के कारण आलोचक के सामने रचना की खूबियाँ ही नहीं, उसकी खामियाँ, अन्तर्विरोध और दृष्टि की संगतियाँ, विसंगतियाँ स्पष्ट होने लगती हैं, वह अपनी टिप्पणी देता है । आलोचक का दृष्टिकोण और रचना सम्बन्धी मंतव्य इन्हीं टिप्पणियों के जरिए प्रकट होते हैं । इन्हें नजरअन्दाज करने या पकड़ न पाने की वजह से लोगों को लगता है कि जैसे आलोचक केवल रचना के प्रवाह में ही बह रहा है, वह केवल 'एप्रिशिएट' ही करता है । कोई भी सचेत और गम्भीर आलोचक जब विभिन्न कवियों या युगों पर लिखता है तो एक ओर तो समावेशी चिन्तन के कारण वह नितान्त एक पक्षीय नहीं हो पाता, दूसरी ओर हर आलोचना में उसके स्पर्श उसे एक अलग आयाम देते हैं । प्राचीन काल से आलोचक मानते रहे हैं कि 'गिरा के अनेक मार्ग हैं' (अनेकस्य गिरा मार्गा) 'प्रतीयमान अर्थ निस्सीम में होते हैं' (निस्सीमार्थं सार्थः) 'वाग्विकल्प अनन्त है' (अनन्ता हि वाग्विकल्पः) यहाँ तक कि दो प्रकार के रीतिमार्ग का उल्लेख करते हुए भी आचार्य दण्डी ने स्पष्ट किया था कि शिल्प कवि के व्यक्तित्वानुरूप होता है, इसलिए उसके भेद बताना सम्भव नहीं है ।

'इतिमार्गद्वियं भिन्नं तत्स्वरूप निरूपणाद् ।
तद्भेदास्तु न शक्यंते वक्तुं प्रति कवि स्थितः ।।

इसलिए आलोचना किसी नियत परिपाटी को लेकर, उसी में बँधी नहीं रह सकती अगर वह सृजन का सम्मान करना जानती हो । अच्छी रचना का सम्मान करना अच्छी आलोचना का एक जरूरी लक्षण है । स्पष्ट और दो टूक नतीजे निकालने का अर्थ कहीं-न कहीं रचना को हीन भाव से देखना है और जैसे हम रचना द्वारा आलोचना को निम्न कोटि का समझने को अनुचित मानते हैं, वैसे ही आलोचना के इस रवैये को भी उचित नहीं ठहरा सकते । असल में आलोचना, रचना के साथ

लम्बी यात्रा करते हुए अपनी वैचारिक कसौटी पर जहाँ रचना को कसती है, वहीं वह रचना की कसौटी पर अपने खरेपन की जांच भी करती है, इसी तरह आलोचना के मानदण्ड विकसित होते हैं। अपने निर्धारित मानों के विपरीत लेखन पर हमेशा सदेह करना, ज़ाहिर करता है कि लेखकीय ईमानदारी का एक ही ढर्रा होता है। औचित्यपूर्ण लचीलेपन की वजह से ही आलोचना में अपार रचना-संसार को जांचने की शक्ति आती है और रूढ़ एकांतिकता नहीं पनपने पाती वरना वही होता है, जैसा आय० ए० रिचर्ड्स ने कहा है कि लोग स्विनबर्न की कविता पर हार्डी की कविता को जांचते हैं और उसे वैसे ही दोषपूर्ण साबित करते हैं, जैसे कोई कुत्ते को दोषपूर्ण बिल्ली कहे। इसलिए मानकों की सामान्यता को भी विशिष्ट संदर्भ और शैली में इस्तेमाल करना आलोचना के लिए ज़रूरी होता है।

कुछ लेखक जब आलोचक की त्रुटियां रेखांकित करते हुए उसे प्रसंगहीन बताते हैं तो भूल जाते है कि न तो कोई आलोचक पूर्ण होता है, न उसकी हर आलोचना श्रेष्ठ होती है, जैसा कि लेखन और लेखक के मामले में भी होता है। लेखक की तरह आलोचक भी 'ग्रो' करता है, संशोधन करता है और आलोचना के दौर में कई अन्तर्बाह्य दबावों से गुजरता है। कई बार भटकता भी है। यही सोचकर आलोचक को भी फैसले देने से बचने की कोशिश करनी होती है, दूसरी और इसी वजह से हम उम्मीद करते हैं कि आलोचना या आलोचक की श्रेष्ठ उपलब्धियों के आधार पर ही मूल्यांकन किया जाए जैसा कि रचना के बारे में अपेक्षा की जाती है। नित्य नूतनता आलोचना के लिए भी कम महत्त्व नहीं रखती। जिस तरह कवि का काम घिसी हुई भाषा, चुके हुए संवेदन, पुरानी अनुभव-प्रणाली से नहीं चल सकता उसी तरह आलोचक का काम भी बासी प्रतिमानों, पुराने विवेक पर आधारित विश्लेषणों, पिछड़े हुए संवेदनों और कुंठित भाषा से नहीं चल सकता। उसे नवीन युग की आवश्यकता के अनुसार अपने प्रतिमान गढ़ने पड़ते हैं, पुराने प्रतिमानों पर धार करनी होती है और उन्हें नया सृजनार्थ देना होता है। ताकि वह अपने समय और रचना का सही साझीदार और पाठक का विश्वस्त सहचर हो सके। अगर रचनाकार अपने समय की चुनौतियाँ झेलता है तो आलोचक भी। अगर रचना अपनी रुढ़ियां तोड़ती है तो आलोचना भी। नई दृष्टि दोनों को अवांछित अतीत के संहार की निर्ममता देती है, और जो जड़ता के क़ायल है, वे न सिर्फ आलोचना में हैं, रचना में भी हैं। उन्हें छोड़कर दोनों आगे बढ़ जाती हैं।

इतना ज़रूर है कि आलोचना पर कविता की तुलना में उत्तराधिकार का

दबाव प्रत्यक्षतः अधिक होता है। क्योंकि अतीत के अध्ययन-चिन्तन का लाभ उठाते हुए, वह अपनी नवीन मान्यताओं और मानकों का विकास करती है। परम्परा की अत्यन्त गहरी और सूक्ष्म पहचानों से सम्पन्न आलोचक को आधुनिकता के लिए बेहिसाब संघर्ष करना होता है। रचनाकारों पर भी परम्परा का दबाव होता है। लेकिन उसकी भूमिका कई जगह इतनी अदृश्य होती है कि लेखक उसे पहचान नहीं पाता। तभी शायद कुछ रचनाकारों को अपना हर कुछ नया और परम्परा से कटा हुआ प्रतीत होता है। उन्हें अपने वरिष्ठ कवि से ही पूछना चाहिए, जिनका कहना है कि उनमें 'नया कुछ नहीं है।' और उन्होंने नयों के नाम पर जो छायावादी कवि गिनाए हैं, उन्होंने और उनके समकालीनों ने अपनी अधिकांश विवेचन-क्षमता यह प्रमाणित करने में लगाई है कि परम्परा में उनकी जड़ें बहुत गहरी हैं। बहरहाल, रचना को भले परम्परा की प्रतीति न हो, यह अनाहूत, अनायास और अदृश्य रूप में उसमें समाहित हो जाती है। लेकिन आलोचक को तो इस अज्ञान का सुख भी नहीं मिलता इसलिए लेखकों को तब नागवार गुजरता है जब आलोचक रचना को परम्परा के संदर्भ में परखने की (ज़रा भी) कोशिश करता है। आलोचना में रचना की तरह कोई और रास्ता नहीं होता, उसकी प्रक्रिया खुली और प्रमाणसापेक्ष्य होती है। इसलिए बचाव की उसके पास कोई गुंजाइश नहीं होती। इस दृष्टि से लेखन में वह सबसे साहसपूर्ण विधा है। किन्हीं मामलों में व्यंग्य से भी अधिक। क्योंकि वह जिस पर आक्रमण करती है, वह उसका आनन्द नहीं ले सकता। उसे हर वक्त धार पर चलना होता है। शायद इसीलिए हर युग में आलोचना को रचना के मुकाबले अधिक आक्रमण झेलना होता है।

रचना और आलोचना के सम्बन्ध

—डॉ० कमला प्रसा

एक जमाना था, जब आलोचना की अपनी योजनायें होती थीं। वह अपनी
जरूरत के मुताबिक रचना की आन्तरिक दुनिया में डूबकर उसके हेतुओं को पक
लेती थी और इन हेतुओं को व्यापक मानवता एवं सौन्दर्यबोध के साथ तोलती थी।
वह रचना मे डूब, तुलना, विश्लेपण, व्याख्या और निर्णय से एक साथ बनती
थी। अतिवाद आया तो आलोचना का रचना से सहवास छूट गया। दर्शन का
अतिवादी असर कला के क्षेत्र मे भी आया। भरत के नाट्यशास्त्र में समीक्षा के रू
मे रस, अलकार गुण और दोषों की चर्चा है, पर यह चर्चा अपने काल के सृजन,
अभिनय और लोक जीवन से जुड़ी है। विडम्बना यह है कि इस ग्रन्थ के सात-आठ
सौ वर्षों तक सृजन के साथ इतनी अन्तरंगता आलोचना ने नहीं अनुभव की।
भामह और दण्डी को लक्षण ग्रन्थ लिखने के लिए अपने रचे काव्य के तत्वहीन उदा-
हरणों से काम चलाना पड़ा। कालिदास, अश्वघोष और भारवि की श्रेष्ठ कविता
इन्हें नही दिखी। कोई कविता, इन्हें नही दिखी। कोई कविता, इनके अनुकूल सिद्ध
हुई तो वह थी—नायक-नायिका की रज तम गुणी जिन्दगी की प्रदर्शित सतगुण वाली
महाकाव्य कविता। इसे ही श्रेष्ठ काव्य कहा गया। अभिनवगुप्त ने सौन्दर्य की
आत्मगत अवधारणा को पुष्ट करते हुए उसे अतिवाद तक पहुँचा दिया। इस
अतिवाद का अनुसरण दूर तक हुआ। वामन और रुद्रट ने आंशिक रूप से तथा
आनन्दवर्द्धन और राज शेखर ने प्रमुख रूप से रचना और आलोचना को करीब
लाने का न केवल प्रयास किया, वरन् महाकाव्य की तरह मुक्तक और गीतों में
श्रेष्ठ कविता की सम्भावना खोजी। संस्कृत और हिन्दी काव्यशास्त्र में आगे चल-
कर भामह: दण्डी की परम्परा एक तरह से चली तथा रस के क्षेत्र में अभिनव गुप्त
का प्रभाव सक्रिय रहा। हिन्दी में नए युग की शुरूआत भारतेन्दु और महावीर
प्रसाद द्विवेदी के सांस्कृतिक नेतृत्व में हुई। इनकी प्रेरणा से लोक जीवन की ओर
से आँख मूँदती काव्यधारा पुनः स्वच्छन्द हुई। इसी स्वच्छन्दता की ओर इंगित कर
रामचन्द शुक्ल ने रचना आलोचना के सम्बन्धों पर अपनी साहित्य की इतिहास

पुस्तक में लिखा, "पण्डितों की बाँधी प्रणाली पर चलने वाली काव्यधारा के साथ-साथ सामान्य अनपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छन्द और प्राकृतिक भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रहती है। ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पण्डितों की साहित्य भाषा के साथ-साथ लोकभाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है। जब पण्डितों की काव्यभाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोकभाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है, तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य परम्परा में नया जीवन डालता है। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 522) आधुनिकता के आने से काव्य परम्परा में नया जीवन डालने का ऐसा ही उपक्रम हुआ।

स्वाभाविक सम्बन्धों की प्रक्रिया : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन आलोचना और रचना के प्रकृत सम्बन्धों की मांग करता है। हमें पता है कि वर्ग-विभाजित समाज में ये प्रकृत सम्बन्ध नहीं लौटेंगे। पिछड़ा वर्ग जब अपनी जंग जारी करेगा और अभिजात संस्कृति की कलम अपने भीतर लगाना बन्द करेगा, तब रचना और आलोचना अपने प्रकृत सम्बन्धों की ओर प्रस्थान करेंगी। इतिहास में जब भी व्यवस्था में पिछड़े लोगों का प्रतिवाद बढ़ा है, तभी लोक संस्कृति, लोक भाषा और लोक साहित्य नागर साहित्य से होड़ लेने लगा है। नागर साहित्य ने भी अपनी नीरसता से ऊबकर इस साहित्य को लालचमयी निगाह से देखा है। रचनाकार का स्वभाव जब निर्मल होता है और उसमें जन के प्रति आस्था होती है, तभी रचना और आलोचना का मार्ग स्वस्थ होता है। प्रश्न यह है कि रचना और आलोचना की स्वाभाविक और स्वस्थ रिश्तों की प्रक्रिया क्या होती है ?

रचना और आलोचना के सम्बन्धों को वैज्ञानिक विधि से समझने पर सिद्ध हुआ है कि ये रिश्ते द्वन्द्वात्मक होते है। यह द्वन्द्वात्मकता वर्ग संघर्ष से प्रेरित तथा समानता के जीवन मूल्यों पर केन्द्रित उत्पीड़ित इन्सान के भविष्य को बेहतर बनाने की कल्पना से उद्भूत होती है। रचना के केन्द्र में वस्तुमूलक अनुसन्धान और सिद्ध वस्तु को रचने की प्रवृत्ति होती है, जबकि आलोचना में रची हुई वस्तु को पहचान कर अनुसन्धान मूलक होने की होती है। रमेश कुन्तल मेघ ने इस रिश्ते को संश्लिष्ट भाषा में परिभाषित करते हुए लिखा कि "कवि का विभाव बाह्य रचना हो जाता है, तथा भावक का अन्तःसृष्टि। दोनों ही बिम्ब विधायक होते हैं तो, भावना के समधरातल से बहिर्मुखी होकर एवं बाह्य कलाकृति प्रस्तुत करके-अर्थात् बाह्य रूप में कारयित्री प्रतिभा को प्रकट करके व्यक्ति कवि हो जाता है। इसके

विपरीत भावना के समधरातल पर अन्तर्मुखी होकर एवं अशरीरी कलाकृति प्रस्तुत करके अर्थात् आभ्यन्तर रूप में कारयित्री प्रतिभा में ध्यानस्थ होकर व्यक्ति भावक या सहृदय या आशंसक हो जाता है। यदि कवि भावक कवि होता है या आशंसक 'कारक आशंसक' तो वे उनके आदर्शों के उत्कर्ष माडल हैं। इस प्रकार कवि आशंसक और आलोचक हो सकते हैं, जिस प्रकार आशंसक और कवि।" (अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, पृष्ठ 195)

कवि और आलोचक की एक दूसरे में आत्मिक उपस्थिति तथा प्रकट रूप में अपनी विधा की प्रस्तुति–यही स्वस्थ मार्ग है। इस तरह एक की क्रिया जहां समाप्त होती है, वहां से दूसरे की शुरू होती है। जीवन और सौन्दर्य बोध–दोनों के लिए जरूरी हैं। सृजन के धरातल पर दोनों के रास्ते उलटे हैं। उदाहरण के लिए–रचयिता जहां वस्तुगत सच्चाई से बने-जुड़े आत्मवृत्त को कलात्मक ढंग से बाहर करता है, वहां आलोचक कृति का आभ्यन्तरीकरण करता है। रचयिता की रचना वृत्ति वाह्यीकरण के अवसर पर जागती है, जबकि आलोचक की कृति के आभ्यन्तरीकरण के समय कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा दोनों में ही होती है। दोनों में ये प्रतिभायें वैकल्पिक सृजन करती हैं। यदि उनमें वैकल्पिक रचना न बनी तो दोनों में कहीं न कहीं खोट होती है। कृति में यदि जीवन के उपादान बिम्ब नहीं बने तो रचनाकार तो भटका ही है, आलोचक भी भटक जाएगा। आलोचक में यदि वैकल्पिक या अन्य सम्भावनापूर्ण रचना बनी तो वह उसमें सुधार की सलाह दे सकता हैं। दोनों विधाओं के कर्मी एक में अधिक जागरूकता और कौशल के होने का प्रमाण दे सकते है। जब रचनाकार की क्रिया गहरे आत्मविश्वास से शुरू होती है—तब रचना बन जाती है और आलोचन की क्रिया आस्वादन के बाद जब आत्म विश्वास तक पहुंचती है तब आलोचना शुरू होती है। एक रचना के लिए सतर्क होता है, दूसरा जांचने के लिए। सन्तोष या स्थायी तृप्ति दोनों के लिए हानिकर है। एक ज्ञान की रचना करता है, दूसरा रचना का ज्ञान खोजता है। रचे और खोजे ज्ञान से दोनों अपनापन भरते हुए लाभ उठाते हैं। दोनों में असहमति का मानस टकराव भी होता है। रचयिता अपने मस्तिष्क में स्वयं प्रकाश्य विस्फोट और कल्पना की उमंग को चिन्तन से जांचता है। चिन्तन का एक अंश जो आवेश में आया है और दूसरा जो आवेश को साधना चाहता है। साधने वाले चिन्तन में आलोचक की स्मृति भी कौंधती है। चिन्तक या आलोचक को मानस में प्रवेश दे देने से रचयिता की कौनसी पहचान अप्रमाणित रह सकती है? परम्परा, विचार-धारा, कौशल, लक्ष्य, सब कुछ सृजन सहयोगी हो जाते हैं। रचना के कुछ स्वाभाविक

क्रम में भी कृति बनती है—उसमें तमाम आस्वादकों की राय का सम्मेलन होता है।

रचना वर्ग की विचारधारा से मुक्त नहीं होती। यही बात आलोचना के लिये लागू होती है। दोनों की रचना प्रक्रिया, सामाजिक सांस्कृतिक स्थितियों में सम्पन्न होती है। दोनों के हित समान होते हैं—इसलिए लक्ष्य की समानता अवश्यम्भावी है। रचनाकार और आलोचक की वर्ग रुचि में भेद होने से दोनों के सम्बन्ध वैर पूर्ण हो जाते है। उदाहरण के लिये अज्ञेय हो या निर्मल वर्मा, रमेश कुन्तल और विश्वम्भर के सम्बन्ध इनसे वैर पूर्ण होंगे। यह वैर उनकी कमजोरियों के कारण होगा। उनको आलोचना इनकी कमजोरी खोलेगी। श्रेष्ठ आलोचक कमजोरियों, का परीक्षण, सारवस्तु और कला कौशल दोनों की परिधि में करेगा। कला की कमजोरी का उत्तर मात्र राजनीतिक शब्दावली से पूरा नहीं होगा।

इससे कला के आस्वादक संतुष्ट नहीं होंगे। आलोचक को इतना प्रखर होना चाहिए कि वह रचना की मूल्य दृष्टि और रचयिता के आत्मवृत्त को खोल दे। वह अनजाने विरोधी स्थिति में फँसे या जानबूझकर जन विरोध में सक्रिय लेखकों के अन्तर्विरोध को पहचाने। वह आस्वादकों को यथार्थवादी संस्कारों की ओर ले चले। वह साहित्य की वापसी के लिए माहौल बनाये। यह काम आलोचक तब कर पाता है, जब वह अपनी मूल्य दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में विश्वसनीय व्यावहारिक समीक्षा करता है। इस काम के लिये लुकाच ने एक आलोचक की तारीफ की। उसका नाम है-रूडोल्फ कासगर। इस आलोचक ने सैद्धान्तिक समीक्षा नहीं लिखी। वह रचना-शक्ति को व्यावहारिक आलोचना में लगाकर रचनात्मक तत्वों को विकसित करता रहा। उसने रचनाकार की सामान्य जिन्दगी के व्यवहार, संवेदन शक्ति, जीवन-संघर्षों से टकराने की प्रकृति, तथा अनुभवों के आकृति ग्रहण करने की प्रक्रिया का अध्ययन करता रहा। उसने हर क्षण घटित रचनाकार के रूपान्तरों पर छोटे-छोटे निबन्ध लिखे। रचनाकार में उभरती हुई रचनात्मक शक्ति को जांचा, उसकी बाधायें पहचानीं। इसी तरह फिर रचना के भीतर उन बाधाओं को खोजा। रचना की आवश्यकिता और उससे उभरी शैली को उसने महसूस किया। कासगर ने व्यावहारिक समीक्षा में पाया कि शैली रचनाकार के सम्पूर्ण जीवन की मूर्त इकाई होती है। उसने शैली की तैयारी और सिद्धि-प्रक्रिया को भी जाना। उसने महान् रचना की लय और धुनों को महसूस किया। उसने रचनाकार की अनुगूंज को सुना। उसने कविता के अनुशासन को भली-भांति स्पष्ट कर प्रचारित किया। उसका गद्य कविता का सहयोगी लगा।

इस तरह इस आलोचक की मान्यता और उनके आलोचना कर्म का नतीजा यह है कि आलोचना और रचना-सांस्कृतिक प्रक्रिया में पूरक हैं, जो विरुद्धों की एकता से बनते हैं। इसको गोल्डमान ने एक प्रसंग में बोध और व्याख्या का रिश्ता कहा है। वह लिखता है कि, "बोध और व्याख्या दो भिन्न प्रक्रियायें नहीं हैं। बल्कि एक ही प्रक्रिया है और भिन्न सहयोजकों से सम्बन्धित है। बोध अध्येय वस्तु के सार्थक संघटन को प्रकाश में लाने की प्रक्रिया है। व्याख्या भी एक तत्काल समावेशी संघटन में, इस संघटन को विधायक तत्व के रूप में समाविष्ट करने की प्रक्रिया है। शोधकर्ता समावेशी संघटन की विस्तृत पड़ताल नहीं करता। अध्येय कृति की उत्पत्ति को बोधगम्य बनाने के लिए जितनी पड़ताल जरूरी है, उतनी ही करता है। जरूरी केवल यह है कि बाह्य संघटन को अध्ययन की वस्तु बनाया जाए और व्याख्या मूलक शोध को नये तथा ज्यादा विस्तृत संघटन से जोड़ा जाए।" (साहित्य का समाजशास्त्र, इतिहास, वर्तमान स्थिति और पद्धति मूलक समस्यायें (अनुवाद)–आलोचना, जन० मार्च, 1972, पृष्ठ 9)

सम्बन्धों में विलगाव की प्रक्रिया : रचना और आलोचना के स्वाभाविक सम्बन्धों को तोड़ने की कोशिश आधुनिक बूर्ज्वा समाज द्वारा अधिक हुई है। सामन्ती दौर में जनता को उसकी आवश्यकता से अधिक ही दबाया गया था परन्तु भक्ति और धर्म की एक आस्था उनमें थी, इसलिए सामूहिक खुशी और पीड़ा का आलम मौजूद था। पूँजीवाद ने आस्था और भाईचारे की कमर तोड़ दी। कला के क्षेत्र में रचना और आलोचना की स्वायत्तता की वकालत की गई। रचनाकार और आलोचक कभी न मिल सकने वाले विशेषज्ञ कहलाने लगे। लेखक अपने आन्तरिक जीवन का भी व्यवसाय करने लगा। इसीलिए बाजार की सुरुचि के अनुकूल रचना की वस्तु के बजाय, क्राफ्ट, तकनीक और दूसरी ओर मात्र आत्माभिव्यक्ति काट पर जोर दिया जाने लगा। रूपवादी कलाकार तथा हर दिन नई डिजाइन, फैशन, और एलीट रुचियों की मांग करता आलोचक, सामने आये। प्रतिष्ठानों की रुचि कला में हस्तक्षेप की हुई। उन्होंने पत्रिकाओं और समाचार पत्रों का प्रकाशन शुरू किये। विशेष होनहार रचनाकारों और आलोचकों को उनमें तैनात किया गया। दोनों वेतन भोगी हो गये। राजनीति और विज्ञान शून्य आजादी की कल्पना का प्रचार हुआ। अमूर्त कलायें विकसित की जाने लगीं–जीवन की सच्चाइयों से इसी जमीन पर टिके हमारे देश के ही एक रचनाकार और आलोचक निर्मल वर्मा कला की नैतिकता का सवाल उठाते हुए एक जगह लिख बैठे कि, "दर असल कला की नैतिकता और रहस्य अनिवार्य रूप से ऐसी रूप रचना है, जो व्याख्या के परदे

को चाक करता हुआ उन सबको रहस्यहीन, और बेदर्द करे, जिनसे हम घिरे हुए हैं। कला का अर्थ एक ऐसी रचना है, जो सारी व्याख्याओं और सन्देशों से मुक्त हो, उनसे जो हमारे और संसार के बीच खड़े हैं" (तीसरा साक्ष्य पृ 49) मनुष्य के सारे रचनात्मक प्रयत्नों को रहस्य लोक में फेंकने की यह नैतिकता कहाँ से आई? योग, सृजन और रहस्य को एक आँख से देखते उनका एक और यह कथन है कि, "योगी या रहस्यवादी की दृष्टि की तरह रचनाकार की दृष्टि सम्पूर्ण या अन्तिम नहीं होती। रूप की खोज स्वयं अपने आप में जैसे आत्मा की हकलाहट है, अपने सन्देह की छाया पर एक कदम है, एक गहरी खाई के ऊपर पांव की टटोल है—एक ऐसी टोह जो उसे ब्रह्माण्ड से अलग करती हुई दरार को ही प्रतिबिम्बित नहीं करती, उसके पार छलांग भी लगाती है।" (वही, पृष्ठ 49), इसका नतीजा क्या हुआ, यही न कि रचनाकार की दृष्टि योगी या रहस्यवादी की तरह होती है। उसका सृजन आत्मा की हकलाहट है, वाह्य जगत का पुनर्सृजन नहीं। यह कला-चिन्तन पूंजीवादी समाज व्यवस्था की देन है, जो कलाकार में अलगावपूर्ण सम्बन्धों के बीज बोती है। इस कला सोच के बदले हम दूसरे आलोचक का उद्धरण लें। आलोचक है कॉडवेल, वह लिखता है कि, "सभी प्रकार की कलायें परिवर्तनशील सामाजिक रिश्तों और प्रचलन से परिष्कृत चेतना के बीच तनावों से जन्म लेती हैं, नयी कला क्यों जन्मती है, पुरानी, आस्वादकों और समीक्षकों को क्यों तोष नहीं दे पाती, इसका कारण है कि वह समकालीनता की पकड़ से बाहर हो चुकी है। पुरानी कला का हमारे लिये अर्थ होता है, क्योंकि वे संवेदनायें, प्रभावों के वे स्रोत नहीं बदलते क्योंकि नए सम्बन्धों की सामाजिक व्यवस्था पुराने को छोड़ती नहीं, नयी कलात्मक परम्पराओं को जोड़ती भी है।" (स्टडीज इन डाइङ्ग कल्चर, पृ. 54) इस तरह जो रचना वर्तमान, परम्परा और भविष्य के साथ गहरी जुड़ी होती है, वही रचना और आलोचक के बीच प्रकृत सम्बन्ध स्थापित करती है। दुनियां को अपरिवर्तन शील और विचारों को शाश्वत कहने वाली कला के भीतर अलगावपूर्ण सारवस्तु है। कुण्ठा, घुटन और आत्महीनता की मनोवृत्तियां यहीं जन्मती हैं। इनमें अराजक विरोध होता है। रचना और आलोचना की विकृत प्रवृतियों के उदाहरण लेने हों, तो नयी कविता आन्दोलन की एक प्रवृति को देखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के मुताबिक साहित्य में नितान्त और निरपेक्ष व्यक्तिवाद आया। इतिहास विहीन क्षणवाद पैदा हुआ। जैविक मनोविज्ञान और यौन कुण्ठाओं की वकालत की गई। कृत्रिम भूखी-नंगी पीढ़ियां उभर कर आयी और अन्ततः ये सभी प्रवृत्तियां नये रहस्यवाद में विलीन हो गई। लघु मानववाद का नारा तिरोहित हो गया। अतिशास्त्रीय, अस्तित्ववादी तथा निष्क्रिय रोमानी समीक्षाओं का कहीं पता न चला।

मनुष्य की प्रवृत्तियों में अलगावपूर्ण सम्बन्धों के मूल स्रोत को सबसे पहले कार्लमार्क्स ने पहचाना। अनेक उपलब्धियों मे से उसकी यह एक उपलब्धि है। उसने यह सिद्ध किया कि सृष्टि रचना का कोई अंश न तो निरर्थक होता है और न असम्बद्ध। उनकी सावद्धता, सार्थकता और विकास के नियम होते हैं। इन नियमों मे विरुद्धों की एकता का नियम महत्वपूर्ण है। मार्क्सवादी आलोचक हायार्न का यह कहना सही है कि, "व्यक्तिगत और सामाजिक, तात्कालिक और शाश्वत, निरपेक्ष और सापेक्ष समान रूप से कटे हुए विरुद्धों के बजाय द्वन्द्वात्मक रूप से सम्बद्ध विरुद्धो के रूप मे पाये जाते हैं। उनके लिये यह कोई समस्या नहीं है। (आइडेन्टिटी एण्ड रिलेशनशिप, पृ. 175–76) अभिप्राय यह है कि मनुष्य और उसकी विरोधी प्रवृत्तियों में विलगाव मानना या उन्हें विलग करना एक तरह से उनकी हत्या का प्रयत्न करना है। आत्महत्या की आशंकायें उसी प्रयत्न का परिणाम है। ये प्रयत्न समाज में शक्तिशाली होंगे तो रचना में असत्याभास तथा आलोचना की विकृतियों का बोलबाला होगा ही। इसकी मुक्ति के लिये निर्बल का राज लाना होगा और व्यवस्था में उसकी पकड़ मजबूत करनी होगी। यह बात हम नतीजतन देख रहे हैं कि चिन्तन के क्षेत्र में मार्क्सवाद के प्रभाव के बढ़ जाने से दुनियाँ की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन और प्रवृत्ति गत रूप से रचनाकार में प्रतिबद्धता की स्वाभाविक प्रवृत्ति बढ़ी है। इस विचारधारा के समर्थकों को छोड़ भी दें, विरोधी सोच भी इसके प्रभाव से बच नहीं सका। साहित्य के क्षेत्र में प्रचलित अन्य अवान्तर समीक्षा पद्धतियों में इस प्रभाव को बखूबी देखा जा सकता है। उल्लेखनीय पद्धतियां हैं–मनोविश्लेषवादी पद्धति, मिथकीय पद्धति, संरचनावादी अथवा नव्य रूपवादी और शैलीवैज्ञानिक पद्धति आदि। कुछ लोग समाजशास्त्रीय ऐतिहासिक, काव्यशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय, पश्चिमी या भारतीय पद्धति–इत्यादि के नाम से भी आलोचनात्मक चिन्तन को मार्क्सवादी पद्धति से विलगाने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिये वे बड़ी चालाकी से मार्क्सवादी चिन्तन की कुछ खूबियों को ले लेते हैं तथा निर्णायक स्थितियों में उसे अन्यत्र मोड़ देते हैं। वे रूपवाद या व्यक्तिवाद की अपनी पुरानी मान्यताओं से हटे हैं। खुली जंग पर उनका विश्वास नहीं रहा, इसलिये शीतयुद्ध की सांस्कृतिक नीति के तहत इन आलोचना पद्धतियों को जन्म मिला है। गौर से देखें तो मालूम होगा कि मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति अन्य समीक्षा पद्धतियों की विशेषताओं को अपने में आत्मसात किये हैं। वह उनकी विकृतियों को छाँटकर उनमें से रचनात्मक और गतिशील तत्वों को निकाल देती है। उसकी संगति, मनोविज्ञान, इतिहास, रूप, शैली, काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र

मादि सबसे है। विरोध यदि है तो उनकी प्रतिगामी हरकतों में; इसके अलावा, इस बात से कि रचना और आलोचना में सम्बन्धों का विकृत होना नैतिक समस्या न होकर समाजवैज्ञानिक समस्या है। जब तक इसका समाधान समाज विज्ञान की वस्तुगत और आत्मगत गतिविधियों के भीतर से नहीं खोजा जाएगा, तब तक दोनों में अलगाव पूर्ण सम्बन्ध होंगे। इसी तरह के सम्बन्धों के चलते किस्म-किस्म की नकली प्रवृत्तियाँ जादू के जंगल में अभिनय करती हैं।

रचना की विकासधारा : राजशेखर ने एक रूपक द्वारा 'काव्य पुरुष' की विशेषतायें बतायी हैं। कहता है कि ब्रह्मा की कृपा से सरस्वती को एक पुत्र मिला। उस पुत्र को विश्व को अर्थ प्रदान करना था, इसलिये उसे 'काव्य पुरुष' कहा गया। 'काव्य पुरुष' का आकार ब्रह्मा ने इस तरह बना दिया कि, "तुम्हारे, शब्द–अर्थ शरीर, संस्कृत भाषा-मुख, प्राकृत भाषायें भुजाएँ, अपभ्रंश जंघा, पिशाच भाषा-चरण, मिश्र भाषायें–वक्ष स्थल हैं। तू सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है। ये ही काव्यगुण हैं। तेरी वाणी उत्कृष्ट है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे राग हैं। प्रश्नोत्तर प्रहेलिका समस्या आदि तेरे वाग्विनोद है और अनुप्रास, उपमा आदि तुझे अलंकृत करते हैं। भावी अर्थों को बताने वाली श्रुति (वेद) भी तेरी स्तुति करते हैं।" (काव्यमीमांसा) चर्चा के लिये इस काव्य रूपक को केन्द्र में रखते हुये दो बातें ध्यान में रखनी चाहिये। पहली बात कि इस रूपक में राजशेखर ने काव्य तत्वों के साथ उसकी संरचना के बारे में बताया है। उन तत्वों को व्यक्त करने के लिये उसने गद्य की सपाट शैली के बजाय काव्य की रूपक शैली चुनी। दूसरी बात कि उसका लक्ष्य यह बताना था कि कोई कवि इन सभी तत्वों को जानकर ही कविता में निमग्न हो। अन्यथा वह अनगढ़ कवि होगा। इसमें कविता की रचना प्रक्रिया का उल्लेख नहीं है। रचना प्रक्रिया के बारे में वैसे भी भारतीय आचार्यों ने गम्भीरता से विचार नहीं किया। वे तो उसे स्वयं प्रजापति अथवा कालजयी और सरस्वती का पुत्र कहते थे। ऐसी स्थिति में रचना के उत्पादन के बारे में जानकारी वस्तुगत हो भी कैसे सकती थी? और जब तक यह जानकारी वस्तुगत न हो तब तक रचना के विकास के नियम, कारण और पद्धति की खोज भी कैसे होती? ब्रह्मा की कृपा अथवा सरस्वती की कृपा से रचना का अवतरित होना–इस विश्वास में किसी तरह से बोध की गुंजाइश ही नहीं है।

इस मामले में शोध की गुंजाइश कैसे पैदा हुई—इसका उत्तर मार्क्सवाद देता है। कलाओं की सापेक्ष उत्पादन प्रक्रिया के बारे में मार्क्स का प्रसिद्ध कथन है "सामाजिक जीवन की उत्पादन प्रक्रिया में मनुष्य, ऐसे सुनिश्चित सम्बन्धों की

स्थापना करते हैं जो अपरिहार्य हैं। इन सम्बन्धों का योग अथवा सम्पूर्णता ही समाज के आर्थिक धरातल का निर्माण करती है, उसका ऐसा आधार निर्मित करती है जिस पर न्यायिक और राजनीतिक ढांचा खड़ा होता है। सामाजिक चेतना के रूप इसके साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। सामान्यतः भौतिक जीवन की उत्पादन पद्धति ही हमारे सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया को अपने अपने अनुसार मोड़ती है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है।" (ए कन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक आफ पोलिटिकल इकोनमी-भूमिका) इस तरह मार्क्स ने कला को सामाजिक चेतना का अंश माना है और यह भी कि उसका निर्धारण आर्थिक धरातल के अनुरूप होता है। इस निर्धारणात्मक रिश्ते को उसने यांत्रिक नहीं कहा। उसकी मान्यता है कि एक बार कला की अपनी ऐतिहासिक प्रक्रिया के स्थापित हो जाने पर दोनों में एक दूसरे पर प्रभाव डालने की शक्ति आ जाती है। कला का प्रभाव निर्णायक भले न हो, पर समाज को बदलने में उसकी भूमिका अपरिहार्य है। मूल बात यहां यह है कि सामाजिक संपृक्ति के बगैर रचना गतिशील नहीं होती। रचना को गतिशील बनाने तथा उनकी ठीक से पड़ताल करने की शक्ति आलोचना में भी नहीं होती—संपृक्ति के बगैर। प्रगतिशील रचनाकार एक इतिहास क्रम में देश और काल के बीच अपनी अपनी स्थिति मानता है और दायित्व भी। कथ्य और रूप के मामले में भी यही बात लागू होती है। गोर्की का कहना है कि, "नये रचयिता की प्रत्येक पुस्तक के गुप्त अन्तर्सम्बंध पुरानी से होते हैं और प्रत्येक रचना क्रम में पुराने के तत्व निहित रहते हैं।" आलोचक का दायित्व यह है कि रचना चाहे जिस काल की हो, वह उसके भीतर नये और पुराने तत्वों को खोज निकाले। शैली, पद्धति, भाषा, प्रतीक, बिम्ब अथवा रूप के अन्य उपादानों की भी परीक्षा वह इसी आधार पर करे कि वे अपने कालबोध का वहन किस रूप में करते हैं। आलोचक को यह भी देखना होता है कि विभिन्न कलाओं के अन्तर्सम्बन्ध क्या हैं और अन्ततः ये सम्बन्ध समाज की दिशा को किधर मोड़ते हैं? समाज की बौद्धिक और रागात्मक रिश्तों की फांक की परीक्षा भी यहां हो जाती है। आलोचक में जब इतनी जागरूकता होती है और रचनाकार जब आलोचना से अन्तरंग सम्बन्ध रखना है—तभी साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिशील शाखायें फूटती हैं? समाज, ज्ञान और सौन्दर्य मूलक विकास एक दूसरे को मांगते और सहायता पहुँचाते हैं। इसी आधार पर रचना और आलोचना कला और विज्ञान के सामान्यतः विकास पर निर्भर रहते हुए विरुद्धों की एकता के साज ऊर्ध्वोन्मुख होती है।

दरअस्ल, रचना के भीतर क्या नहीं होता, ज्ञान, विज्ञान, प्रकृति के नियम, वैज्ञानिक विश्वास, आस्वाद का धरातल, युगीन प्रतिनिधि कलाएँ, ईर्ष्या, द्वेष, संघर्ष, संकीर्णतायें, सीमायें-विधायें, सकारात्मक-नकारात्मक प्रतिक्रियायें, इच्छा-अनिच्छाएँ, आस्थायें-अनास्थायें, और वर्गीय विशेषतायें आदि। ये सभी आन्तरिक स्थितियों, ऐन्द्रिय-रागात्मक विश्वासों और रागात्मक सम्बन्धों के रूप में रचनाओं में व्यक्त होती हैं। इसी आधार पर रचना मनुष्य का बिम्ब होती है। यथार्थ रूप मे मनुष्य और लगातार नये मनुष्य का बिम्ब रचना में ही मिलता है। मनुष्य के इस बिम्ब को अधिक से अधिक मानवीय, सार्थक और गतिशील बनाये रखने तथा रचना को इससे बाहर न जाने-देने का दायित्व-आलोचना का है। दोनों का यही प्रशस्त पथ है।

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय : प्रचुर विचारों का छतनार अश्वत्थ

—डॉ० रमेश कुन्तल मेघ

सन् 1985 के आरम्भ में विश्वम्भर नाथ उपाध्याय भी पदनिवृत्त हो गए अर्थात् सरकारी तौर पर साठ वर्ष की उम्र पार कर गए। उनके पूर्व रघुवंश, बच्चन सिंह, इंद्रनाथ मदान, देवेंद्र नाथ शर्मा आदि भी सक्रिय पदों से विराम ले चुके हैं। इन सभी के योगदान महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक रहे हैं। लेकिन यदि हम नलिन विलोचन शर्मा, रामचंद्र शिलीमुख, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, बच्चन सिंह आदि की आलोचना तथा ऐतिहासिक महत्ता पर कुछ जानना चाहें तो षष्ठि को लाँघ गए इन सभी पर शायद एक भी ढंग का लेख नहीं मिलेगा। सैकड़ों अभिनंदन ग्रन्थों, हज़ारों शोध-प्रबंधों और लाखों विद्यार्थियों के बावजूद हिन्दी की साहित्यिक परम्परा में इनके साठ वर्षों में किसी ने भी एक-एक महत्त्वपूर्ण लेख का दीवा तक नहीं बाला !! काग और भुशुंडि के दोहरे धर्म को निभाने वाले अनेक महान आलोचकेश्वर भला एक दूसरे (समकालीन) आलोचक या उसकी आलोचना पर क्यों लिखें ? डॉ० मक्खन लाल शर्मा ने अपने आलोचनात्मक विवेक को निभाते हुए प्रकाशचंद्र गुप्त, मन्मथनाथ गुप्त, अज्ञेय, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, विश्वम्भर-नाथ उपाध्याय और रमेश कुन्तल मेघ पर थोड़ा लिखा। अन्यथा विजेंद्रनारायण सिंह, कर्णसिंह चौहान, गोविन्द रजनीश, वेद प्रकाश अमिताभ जैसे तो विरले हैं। रामविलास शर्मा पर अभी तक भी कोई ऐकल स्वतन्त्र समग्र पुस्तक नहीं आई है।

राहुल सांस्कृत्याय, भगवत शरण उपाध्याय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा की समाज सांस्कृतिक धारा में ही विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, बच्चन सिंह, शिव कुमार मिश्र आदि आते हैं। इनकी उपेक्षा से हिन्दी महादेश

में एक व्यापक 'सांस्कृतिक' आन्दोलन उठाना मुश्किल होगा। इन्हें कुर्सियों और पदों के बटवारों से परे खीच कर पोलेमिक्स के उग्र चौराहों पर ला खड़ा करना होगा। आलोचना–प्रत्यालोचना द्वारा इनकी आत्मालोचना को प्रवुद्ध करना ही होगा।

सबसे पहले तो यही परिलक्षित होता है कि विश्वम्भर नाथ उपाध्याय या (केवल) 'उपाध्याय' सुदीर्घ लोकायत-परम्परा के विचारक हैं। उनका ऐतिहासिक फलक संस्कृति को तथा सामाजिक फलक शिक्षित मध्यवर्ग की चेतना को संसक्त कर लेता है।

भारतीय दर्शन और संस्कृति (धर्म एवं साहित्य केंद्रित) को उपाध्याय ने अपना संदर्भ चौखट बनाया है तथा द्वंद्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद को उस चौखट की (डायगोनल्स)। उनके प्रमुख दार्शनिक अध्ययन "सन्त वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव", "हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठ भूमि", "पन्त जी का नूतन काव्य और दर्शन", "भारतीय काव्यशास्त्र का द्वंद्वात्मक आलोक में अध्ययन" जैसे ग्रन्थों में विशेष रूप से संलक्षित होते हैं।

तांत्रिक प्रभावों के पक्ष–विपक्ष में गोरख नाथ तथा चर्पट नाथ को धुरी बनाकर रांगेय राघव ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और यह सिद्ध किया है कि गोरख ने भारत से वाममार्ग को खोद डाला (जिस प्रकार शंकराचार्य ने बौद्धमत का उन्मूलन कर दिया था)। उन्होंने योग में निहित मानव जाति की अपार शक्ति तथा नए समाज की संभावनाएँ पाईं; जिसमें समाज के विकास के साथ-साथ व्यक्ति का भी विकास होगा। गोरख के योग ने समाज में स्त्री की मर्यादा बढ़ाई तथा समाज से व्यभिचार को हटाया। उपाध्याय ने "जाग मछन्दर गोरख आया" (उपन्यास) तथा 'संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव' में रांगेय राघव की ही ऐतिहासिक रणनीति अपनाते हुए स्थापना की कि गोरख ने त्रिशूल उठाकर प्रजा की रक्षा की। उपाध्याय ने बौद्ध एवं शैव योग में 'शक्ति' की धारणा को लोकायत से सम्बन्धित किया तथा-'चक्र' को 'रास' से, और सिद्धों की प्रक्रियाओं को वैष्णवों के परकीया भाव से जोड़ा। शिव शक्ति की समरसता की राधाकृष्ण की विलासावस्था से भी तुलना की। उन्होंने गोपीकृष्ण की गुह्यलीलाओं तथा नायिका भेद पर तांत्रिक प्रभाव पाया। इस तरह उपाध्याय ने जो बौद्धिक संस्कार प्राप्त किये, उसमें समाजपक्ष के साथ-साथ व्यक्तिपक्ष भी संलग्न हो गया तथा मध्यकालीन तांत्रिक व योग धारा मार्क्सवाद की आभ्यंतरता की पूरक हो गई। इस दृष्टि से उपाध्याय

वैध-से गए। आधुनिक एवं समकालीन साहित्य के बिन्दु-प्रतिबिन्दु चिन्तन अथवा समकालीन सिद्धांतों की खोज के मोर्चों पर वे वैयक्तिकता को बराबर का महत्व देने लगते हैं। इस उपक्रम में वे सार्त्र के निकट आ जाते हैं। अंतः उपाध्याय के विश्वबोध में 'लोकायत' और 'वैयक्तिकता' के घटक घुलमिल गए।

दर्शन के एक अगले उपक्रम में जब उन्होंने पन्त के 'नूतन' काव्य एवं दर्शन पर विचार किया तो वे घोषित रूप से पंत के मार्क्सवाद एवं अध्यात्मवाद के समन्वय के विरुद्ध तान डटे। वे प्रतिभानववाद, प्रतिचैतन्यवाद तथा दिव्यजीवन के अवतरण की धारणाओं का तार्किक खण्डन करते-करते अरविंद दर्शन की उन वृत्तियों या अन्तर्विरोधों तक धँसे, जिनके अनुसार भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद के समझौतावाद/समन्वयवाद के फूहड़ प्रयत्न किये गए। इस दशा में उपाध्याय का वीर्य ऊर्ध्वस्थित है। अतः इस तरह के सैद्धांतिक सामंजस्यों को उपाध्याय ने भ्रांतियां तथा छलबल पाया है। यह 'स्टेण्ड' भी उनकी जीवन दृष्टि की आलोचना का अंग हो गया (पंत पर उपाध्याय की आलोचना को शिवदानसिंह चौहान ने एक 'कुत्सित' संज्ञा भी दी है)। किन्तु उपाध्याय ने नगेंद्र या शांतिप्रिय द्विवेदी, या प्रतापसिंह चौहान के बिल्कुल विपरीत युक्तिसुघड़ स्थापनाएँ की।

"आधुनिक हिन्दी कविता सिद्धांत और समीक्षा" में भारतेंदु युग से लेकर प्रयोगवाद तक में सामाजिक दायित्व के प्रति जागरूकता तथा विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों के टकरावों को लिया गया है। "हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि" (1955) ने मानों एक पूरक का कार्य किया, केसरी नारायण शुक्ल की "हिन्दी काव्यधारा के सांस्कृतिक अध्ययन" के साथ मिलकर। इसे हजारी प्रसाद द्विवेदी की "हिन्दी साहित्य की भूमिका" की लड़ी से भी जोड़ा जाय। इस तरह की ऐतिहासिक सांस्कृतिक अध्ययनावलियाँ प्रकारांतर से किसी भी राष्ट्रीयता के सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास लेखन के अनुसंग होती हैं। उपाध्याय के इस ग्रन्थ में भारतीय धर्म एवं दर्शन की यह मध्ययुगीन धारा के अतिशय प्राचीन मूल स्रोतों की जो खोज हुई है उनमें समाज तथा साहित्य और जगत की निरन्तर गतिशीलता के सामाजिक द्वंद्वों को यथार्थता के सन्दर्भ में उन्हें प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न संप्रदायों के परस्पर प्रभावों एवं संघातों के बीच से साहित्यिक धारा के प्रवाह को खोजा गया है। इसमें भक्तिकाल के कबीर, जायसी, सूर और तुलसी के दार्शनिक विश्वासों एवं सामाजिक विचारों पर भी सुव्यवस्थित ढंग से पोलेमिक्स की गई है। इस तरह एक हजार साल के हिन्दी साहित्य की दार्शनिक एवं धार्मिक चिन्तन के आर्य तथा आर्येतर, आस्तिक तथा नास्तिक, सिद्ध-नाथ

तथा वैष्णव-सूफ़ी उद्गमों तक की सामाजिक परिस्थितियों को द्वंद्वात्मक दृष्टि से देखा गया है। इसमें हिन्दी साहित्य के काव्यरूपों (प्रबन्ध, खण्ड, मुक्तक, सतसई, बावनी, सबद, साखी, रमैनी, चूनड़ी, फाग, रास आदि) तथा छंदों की परम्परा के इतिहास को भी टटोला गया है। बौद्धों के महासुख वाले सहजयान की मुद्रा साधना का आध्यात्मिक रूपान्तर राधाकृष्ण की रासकेलि में, शंकर के मायावाद का रूपांतर रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में, जनता के लोकमानस का रूपांतरण कबीर के समाज दर्शन में, इन तीन प्रमुख विचारधारात्मक क्रांतियों में लेखक ने अपनी प्राक्कल्पना का विधि-विन्यास किया है। मूलतः लेखक ने यहाँ "साहित्य" एवं 'दर्शन' के एकैकविचारधारात्मक रूपों के बीच एकता एवं संघर्ष के द्वंद्वों की परम्परा में हिन्दी साहित्येतिहास को एक आंदोलन बना दिया है। यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, किंवा यह आधारभूत पुस्तक है जिसने उपाध्याय को भारतीय काव्यशास्त्र के द्वंद्वात्मक भौतिकवादी अध्ययन को घोर ललकारा।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में प्रस्तुत "भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन" (1978/1980) उपाध्याय का महाग्रन्थ तथा उनकी सैद्धांतिक चिन्तन का अश्वत्थ है। विचारों के इतिहास (हिस्टरी ऑफ़ आइडियाज़) के क्षेत्र में भी यह हिन्दी को उपाध्याय की सर्वोत्तम एवं महत्तम देन है। संस्कृत काव्यशास्त्र की भौतिकवादी पुनर्व्याख्या तथा काव्यशास्त्र के एक राष्ट्रीय स्वरूप का अनुसंधान इस ग्रन्थ की दो सिद्धियां हैं। विचारक उपाध्याय पहले भी 'संत-वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभावों की ऐतिहासिक व्याख्याएं कर चुके थे। इसके लिए उन्होंने संदर्भ पीठिका में शिवदानसिंह चौहान, रांगेय राघव तथा रामविलास शर्मा के स्फुट विचारों की भी उत्तेजना पाई है। उपाध्याय ने भारतीय काव्यशास्त्र के दार्शनिक विकास में भी प्रतिबिंबित सामंतीय संस्कार तथा अन्तर्दृष्टियों का भी अनावरण किया है; भरत के नाट्यशास्त्र के वस्तुवाद तथा लोकमंगल को स्पष्ट किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो रससूत्र में निहित रचना-प्रक्रिया की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया का उन्मीलन है। उन्होंने अलंकारचक्र में लोकजीवन तथा लोकयथार्थ में रिफलेक्शन के सिद्धांत का उत्तम परिपाक किया है, रीति-सिद्धांत तथा उसके गुण-दोषों को मार्क्सवादी रूप-चिन्तन की कसौटी पर जांचा है (यद्यपि इससे पहले भी वे 'शैलीतत्त्व' पर एक लेख लिख चुके हैं "समकालीन सिद्धांत और साहित्य" पृ० 73–83) तथा उसकी एकांगिता को रेखांकित किया है। एक यह बात भी शिद्दत से लगभग संस्थापित हो गई है कि रस सिद्धांत को अर्वाचीन साहित्य पर लागू करना गड़बड़ झाला ही है। इसके लिए उपाध्याय ने ध्वनि-सिद्धांत को वरण

करने का आग्रह किया है क्योंकि उनके अनुसार-तकरीबन सही ही है कि मार्क्सवाद रससिद्धांतवाद से कृतिपरक तथा सौंदर्यबोधपरक व्याख्या असम्भव है। इसी क्रम में उन्होंने लोकचित्त की वेदिका पर साधारणीकरण की नई व्याख्या प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ में विचारक उपाध्याय ने साहित्यिक संस्कृति (लिटरेरी कल्चर) के अनुशीलन के लिए एक ऐसा मॉडल भी पेश किया किया है जिसमें संश्लिष्ट विवेचनात्मक पद्धति का व्यवहार हो (पृ० 588-89)। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में उपाध्याय की तेजस्विता सर्वत्र जगमगाहट कर रही है। तथापि वे भी रस की सामाजिक व्याख्या करने वाले अपने समकालीन तारक नाथ बाली (नैतिक-सामाजिक व्याख्या), रमेश कुंतल मेघ (रसदर्शन और सौंदर्य बोध की मार्क्सवादी व्याख्या), (रस की सामाजिक व्याख्या) को पूर्णतः नॉक आउट कर गए हैं। मूलतः उपाध्याय ने समाजशास्त्रीय पद्धति में साहित्यिक पद्धतियों तथा सौंदर्यशिल्पवादी विधियों का मेल कराकर अपनी गहरी पकड़ तथा भावनात्मक सूझ के प्रमाण दिये हैं। बहुधा वे मार्क्सवाद से बिगरते और दिखाते और छिटकते हैं लेकिन सामाजिक एवं यथार्थवादी भूमि पर आकर जमे रह जाते हैं।

उनकी महत्तम स्फूर्ति तथा नींव उनका कवि तथा उपन्यासकार है। वे स्वयं भी पुरातन एवं अधुनातन रचनाकारों तथा नवीन कृतियों से निरन्तर संवाद बनाये रखते हैं। इसलिए 'निराला का साहित्य और साधना' (1953) उनके लिए एक परीक्षा रही है, जिसमें आत्मवादी वेदान्त के 'रहस्य' एवं जनजीवन की सौंदर्यानुभूति के अन्तर्विरोधों तथा उनके समाहार के विश्लेषणों को समझा गया है। यहां मानववाद के व्यापक तथा गैर-समाजशास्त्रीय ढांचे को भी जस-का-तस नहीं रहने दिया गया है बल्कि अभिजात-पुरी से खींचकर जनपुरी में लाया गया है। तथापि यहां भी उपाध्याय 'वैयक्तिकता' के उस तीर से आद्यंत विद्ध हैं।

उन्होंने भाषा, मिथक और यथार्थ पर, समकालीन पर भी जो मनन किया है, उसे सामाजिक परिस्थितियों के (भ्रांतिपरक) प्रतिबिम्बन के रूप में, एक यथार्थवादी वृत्त की दूरगामी अभिव्यंजनाओं के रूप में समझने की पैरवी करके हमें नवलेखन से बेहद अजनबी होते जाने से भी बचा लिया है। यह बात ध्यातव्य है, यद्यपि इस प्रक्रिया में उपाध्याय फीके तथा हल्के गुलाबी और लाल पीले भी होकर गरजे-बरसते हैं। एक महामीम के फिसलने पर चौकी और चौका दोनों ही डावांडोल होते हैं। अब वे अपने गोरख-धंधे में मृदुला गर्ग से लेकर सिम्मी हर्षिता तक, काशी नाथ सिंह से लेकर शैलेश मटियानी तक गांठ लाए हैं। "समकालीन कविता (की भूमिका)" में उन्होंने निस्संदेह एक विराट् तथा विवादास्पद, किन्तु

दस्तावेज़ी योगदान किया है (1976) साम्प्रतिक कविता को भी कालांकित सिद्ध करते हुए उपाध्याय ने कुछ प्रकार के दृष्टिदोषों को दूर किया है तथा कतिपय नई भ्रांतियां भी फैलाई हैं। उन्होंने जिरह की है कि 'अंधायुग', 'संशय की एक रात', 'आत्मजयी', 'असाध्य वीणा' में जो चित्रित व्यक्ति है, वह काल के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखता, सिर्फ दार्शनिक दृष्टि से देखता है। उन्होंने यह भी घोषित किया कि समकालीनों ने मुक्तिबोध की रीति-नीति (फांतासी, आतंक, आक्रोश) पकड़ी और अज्ञेय अब जीवंत यथार्थ के नहीं 'सनातन' धरातलों के संवाहक होकर रह गए हैं फलतः समकालीनों ने उनका मार्ग छोड़ दिया है। उपाध्याय ने धूमिल की 'पटकथा', सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली', राजकमल चौधरी की 'मुक्ति प्रसंग' जैसी प्रवर्तक कविताओं में निषेधता की प्रबलता के बावजूद वास्तविक जीवन-स्थितियों में छिपी अश्लीलताओं के 'एक्सपोज़' करने, नंगा करने की शक्ति देखी है; इनमें आधुनिकवाद की विभ्रांति के बावजूद युवा विद्रोह तथा मानवपीड़ा की गाथा है (विशेषतः उन्होने राजकमल चौधरी का ऐतिहासिक उद्धार किया है); ऐतिहासिक विकास को नज़र अंदाज करने वाले जगदीश चतुर्वेदी, रमेश गौड़, सौमित्र मोहन, मोना गुलाटी में 'दुस्साहस' का मुहावरा है। उपाध्याय ने समकालीन विद्रोह (की सनातनता) को पराजकतावादी तथा समाज-दुश्मन होते चले जाने के खतरे से आगाह किया। उसे 'मिथक' या 'मुक्ति' से कदापि या कहीं भी नहीं जोड़ना चाहिए।

प्रगतिवाद तथा मार्क्सवादी आंदोलनों के अंतर्विरोधों से विक्षुब्ध विश्वम्भर नाथ उपाध्याय बहुधा विरोधी एवं विद्रोही, वैयक्तिक एवं विलक्षण भूमिकाओं को भी पेश करने लगते हैं। रोमांटिक तथा क्रांतिकारी होते चले जाना भी उनके परवर्ती व्यक्तित्व एवं कृतित्व का एक कठिन उपागम है। सामान्यतः वे लोकायतिक यथार्थवादी जमीन पर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को पल्लवित करते रहे हैं। उन्होंने समाजशास्त्रीय पद्धति में साहित्यिक पद्धतियों तथा सौंदर्य बोधात्मक सहजवादी समन्वयों को अंगीकार किया है। अंततोगत्वा वे साहित्य के इतिहास में एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। उनके योगदान के सर्वांगीण तथा क्रमबद्ध समाकलन का इंतजार है। यह तो पहला निमंत्रण भर है। उपाध्याय स्वयं भी तो इतिहास तथा समाज में ढलते-ढालते, बदलते-बदलाते हुए यहां तक कि कालांकित ज्ञानयात्रा तय कर सके हैं। हमें भी वैसा उपक्रम तो करना ही होगा, संवाद के लिए।

पत्रालोचना

—विष्णु प्रभाकर

मुझे मेरे पाठकों से क्या मिला ? कहूँगा मुझे मेरे पाठकों से क्या नहीं मिला ? असीम प्यार, अपनत्व, श्रद्धा और बन्धुत्व, साथ ही साथ प्रताड़ना और चेतावनी भी। समूचे देश मे मैंने अपने पाठकों के माध्यम से इतने नाते जोड़े हैं कि मैं किसी भी भाषा ग्रुप के लिए अजनबी नहीं रह गया हूँ। भारत के किसी भी कोने में जाकर मैं शान्ति से रह सकता हूँ, वैसे ही जैसे अपने परिवार में रहता हूँ। भारत के बाहर भी कई देशों में मुझे यह सुविधा मिल सकती है।

मेरे पाठक, श्रोता (आकाशवाणी) और दर्शक (दूरदर्शन और रंगमंच) मात्र प्रशंसक ही नहीं रहे हैं, आलोचक की दृष्टि से भी देखा है उन्होंने मेरे साहित्य को। स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक लिख देते रहे हैं, "आपको लिखना नहीं आता तो किसने कहा है कि आप लिखें।" या "आपकी प्रिय कहानियों में एक भी कहानी कहानी कहलाने योग्य नहीं है। कहानी क्या होती है यह जानना हो तो मैं अपनी कहानियाँ भेजूँ ?" या "आप भारतीय संस्कृति को नष्ट करने पर तुले हैं आपको इसका दण्ड भुगतना पड़ सकता है।" या "आप अश्लीलता का प्रचार क्यों कर रहे है ?" या "आप मनोविज्ञान का क ख ग भी नहीं जानते।"

ऐसी ही अनेक ध्वंसात्मक प्रतिक्रियाओं के अतिरिक्त रचनात्मक प्रतिक्रियायें भी कम नहीं प्राप्त होती। ऐसी प्रतिक्रियायें निश्चित रूप से मेरा मार्गदर्शन करती रही है। बहुत कुछ सीखा है मैंने ऐसे पाठकों और श्रोताओं से। अनेक कथानक और पात्र मिले हैं मुझे उनसे। वे मेरे प्रशंसक ही नहीं, प्रेरणा स्रोत भी हैं।

यह सच है बहुत से पाठक लेखक से जुड़ने के मोह में अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करते हैं। उन्हें किसी लेखक से जुड़ने में सुख मिलता है। वह सुख पाने के लिए वे कुछ भी कर सकते हैं। लेकिन ऐसे प्रमुख पाठकों की भी कमी नहीं है जो रचना की गहरायी में जाकर उसके मूलार्थ को पकड़ने का सफल प्रयत्न करते हैं और कभी-कभी तो ऐसे अर्थ खोज निकालते हैं जिनको मैंने स्वप्न में भी कल्पना

लेखक बन जाने को आतुर रहते हैं। मेरी कृपा हो जाए, तो वे तर जाएँ। वे यह बात मानने को किसी भी शर्त पर तैयार नहीं होते कि मैं एक साधारण आदमी, एक छोटा-सा लेखक हूँ, इतना छोटा कि सम्पादक आज भी मेरी रचनाएँ सखेद लौटा देते हैं।

मेरी रचनाएँ स्कूल और कालेज के पाठ्यक्रमों में भी रहती हैं। कॉलेज के विद्यार्थी आलोचना भी करते हैं पर स्कूल के विद्यार्थी तो प्रशंसा करते नहीं अघाते, बदले में चाहते हैं हस्ताक्षरित-चित्र या कोई रचना या कोई सन्देश। कोई-कोई विद्यार्थी तो मुझे इतना आत्मीय मान लेता है कि अपने भविष्य के लिए ठोस मार्ग-दर्शन चाहता है। अभी एक मराठी विद्यार्थी ने लिखा था कि उसने दसवीं कक्षा में बहुत ऊँचे अंक प्राप्त किये हैं अब वह ग्यारहवीं में कौन-कौन से विषय ले? दसवी कक्षा की एक बालिका की समस्या है कि उसका परिवार बहुत संकीर्ण विचारों का है, छुतछात, जाति-पांति और दिखावे में विश्वास करता है। वह मनुष्य मात्र को बराबर मानती है, इसी कारण टकराहट है। क्या करे वह?

एक बहन जिसके माता-पिता दो जातियों के हैं, ईसाई हैं पर उसे जाति से बाहर शादी नहीं करने दे रहे। एक प्रौढ़ बहन है, प्रेम विवाह किया है उन्होंने एक दूसरे प्रान्त के व्यक्ति से, लेकिन अब पति महोदय किसी दूसरी नारी के प्रेम जाल में फंस चुके हैं और इनसे तलाक चाहते हैं। क्या इसी अन्त के लिये प्रेम किया था उसने? पति-पत्नी विवाद और तलाक के न जाने कितने मुकदमें मैंने सुनें हैं। मेरे पाठकों का कहना है आप साहित्यिक हैं, सम्वेदनशील हैं, नाना प्रकार के पात्रों की सृष्टि करते हैं, आप हमारी समस्याओं को समझ सकते हैं। अपनी समझ के अनुसार मैं सबका समाधान करने की चेष्टा करता हूँ।

यूँ माँग मुझ पर आर्थिक भी कम नहीं रहती। यथा शक्ति उस माँग को पूरा भी करता हूँ। मेरी आर्थिक सहायता करने को भी कुछ मित्र आतुर रहते हैं। रेल यात्रा में कई बार अपने पाठकों के कारण ही सुविधा पा सका हूँ। सुविधाएं और क्षेत्रों में भी मिली हैं पर विशेष उल्लेखनीय कुछ नहीं है। हमारे समाज में अभी भी लेखक की प्रतिष्ठा नहीं है। 'आवारा मसीहा' के असंख्य पाठकों में सभी वर्ग, सभी स्तर, सभी प्रान्तों, सभी विचारधाराओं के प्रबुद्ध व्यक्ति रहे हैं। उनका अपार स्नेह मिला है लेकिन साथ ही यह आग्रह भी रहा है कुछ का कि मैं अमुक सेठ, अमुक सन्त या अमुक साहित्यकार की ऐसी ही जीवनी लिख दूँ। इस पुस्तक ने जितने मित्र (नर-नारी दोनों) मुझे दिये हैं उतने किसी दूसरी पुस्तक ने नहीं। कहीं दूर यात्रा में कोई मेरा नाम सुनकर कहे आप विष्णुप्रभाकर हैं 'आवारा मसीहा' वाले या 'धरती खुद भी घूम रही है' के लेखक को मेरे विनम्र प्रणाम। तब कैसा भी स्थित प्रज्ञ हो मन गुदगुदा हो आता है।

आलोचना की चाह और आलोचक से निराशा

—मृदुला गर्ग

लेखक-आलोचक के सम्बन्धों के विषय में कुछ भी कहने से पहले यह स्पष्ट करना चाहूँगी कि शायद ही कोई ऐसा लेखक होगा जिसे परिप्रेक्ष्यपरक आलोचना के प्रति आस्था न हो। चाहे अपने लेखन के साहित्यिक मूल्यांकन के रूप में हो चाहे अन्य साहित्यिक लेखन के विश्लेषण के रूप में हर लेखक, प्रबुद्ध पाठक की तरह और कृतिकार की तरह, आलोचना की चाह रखता है। सैद्धांतिक रूप से आलोचक लेखक का पूरक है। यह सही है कि हर पाठक रचना को अपने तईं दुबारा रचता है पर भावात्मक स्तर पर उसे सम्प्रेषित करने के बाद, वह वैचारिक स्तर पर भी अपने उद्वेलन को आधार देना चाहता है और इसके लिए उसे आलोचक की जरूरत होती है। आलोचकों की विश्लेषणात्मक दृष्टि उसे अपने विश्लेषण के लिए आधार और कसौटी ही प्रदान नहीं करती, बल्कि उसे उस युग से भी परिचित कराती है, जिसमें वह लेखन किया गया था। जिस तरह लेखन आनेवाले युग की एक पूरे काल-खण्ड और समाज से परिचित कराता है उसी प्रकार आलोचना भी कराती है।

पर यह आलोचना की आदर्श स्थिति है। परिप्रेक्ष्यपरक आलोचना के लिए जरूरी है कि आलोचक केवल साहित्य का ही ज्ञाता न हो बल्कि उसे समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान और राजनीति का भी सामान्य से अधिक ज्ञान हो। यानी वह रसमर्मज्ञ भी हो और विचारशील विद्वान भी। इस आन्तरिक पक्ष के साथ-साथ बाह्य पक्ष भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस तरह की सजग, तटस्थ और रचनात्मक आलोचना तभी की जा सकती है जब आलोचक के ऊपर लेखक का किसी तरह का दबाव न हो। मैं समझती हूँ कि इसके लिए काफ़ी हद तक यह भी जरूरी हो जाता है कि आलोचक स्वयं रचनाकार न हो। ऐसा होने पर उनका अपना लेखन और उसके लिए आलोचक की तलाश तटस्थ दृष्टि पर हावी होने लगती है। जरूरी नहीं है कि ऐसा हो ही पर हिन्दी आलोचना और साहित्य जगत् को देखते हुए लगता है कि यह अत्यन्त संक्रामक रोग है जो सर्वत्र फैला हुआ है।

जब आप किसी लेखक से, आलोचना और आलोचक के बारे में उसके अपने अनुभव से प्राप्त, राय मांगते हैं तो एक तरह से अनिवार्य हो जाता है कि लेखक

परिप्रेक्ष्यपरक आलोचना की बात न करके, समीक्षा या कृतीक्षा की बात करने लगे, क्योंकि उसका अपना अनुभव इसी तक सीमित होता है। यह अनिवार्य है, क्योंकि समीक्षा तत्काल आ जाती है जबकि परिप्रेक्ष्यपरक आलोचना को आने में समय लगता है और कई बार वह लेखक के अपने अनुभव का हिस्सा केवल इसलिए नहीं बन पाती क्योंकि उसे पढ़ने के लिए लेखक जीवित नहीं होता।

मेरे खयाल से इस बात से कोई आदमी इनकार नहीं कर सकता कि हिन्दी साहित्य जगत में परिप्रेक्ष्यपरक आलोचना की शर्तों को पूरा करने वाले बहुत ही कम आलोचक हैं। अधिकतर आलोचक यहां स्वयं लेखक हैं और अपने को समीक्षात्मक लेखों तक सीमित रखते हैं। 'तू मेरी प्रशंसा कर मैं तेरी करूं' का कीटाणु हिन्दी लेखक और आलोचना, दोनों को घुन की तरह खा रहा है।

तो परिप्रेक्ष्यपरक आलोचना को आदर्श की तरह पूरी श्रद्धा देते हुए यदि मुझे आपके प्रश्नों के उत्तर देने हैं तो ज़रूरी हो जाता है कि आदर्श और यथास्थिति के बीच के अन्तर को जान कर ही बात कहूं। ऐसा करने पर देखती हूं कि अधिकतर समीक्षक स्वयं लेखक हैं और नहीं हैं तो लेखकों के सम्बन्धी हैं, स्नेह के भाजन हैं, उनसे उपकृत हैं या होने की आशा रखते हैं। ऐसी हालत में समीक्षक की असफलता और अधमता को अलग करके देखना सम्भव नहीं है। रचना उत्कृष्ट हो अथवा निकृष्ट, इससे कुछ लेना देना नहीं है। प्रश्न है रचना किसकी है, वह किस ओहदे पर है और आलोचक को उससे क्या फ़ायदा हो सकता है। यानी साहित्य से इतर वह कितने 'काम का आदमी' है।

अब चूंकि ज़रूरी है कि कुछ पुस्तकों को अनिवार्य रूप से उत्कृष्ट सिद्ध किया जाए तो आलोचना की विश्वसनीयता को बनाये रखने के लिए यह भी ज़रूरी हो जाता है कि किन्हीं अन्य रचनाओं को निकृष्ट सिद्ध किया जाए। इसके लिए अनेक ऐसे लेखक मौजूद हैं जिनके द्वारा आलोचक का कोई काम सिद्ध नहीं होता।

इस तरह के कार्यकलापों के लिए अकेला आदमी उतना सक्षम नहीं है जितना एक संगठित गुट। इसलिए किन्हीं तथाकथित राजनीतिक और साहित्यिक सिद्धांतों का सहारा लेकर गुट बना लिये जाते हैं। आप चाहे इसे स्वार्थ की राजनीति कह लें चाहे मतान्धता। मज़े की बात यह है कि जिन राजनीतिक व साहित्यिक आन्दोलनों का सहारा लिया जाता है, उनका अध्ययन करने की भी ज़रूरत नहीं समझी जाती। चालू जुमलों और फ़ार्मूलों से काम चल जाता है जैसे अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, वोल्ड लेखन, आम आदमी की व्यथा, व्यक्तिवाद-समष्टिवाद आदि।

पूर्वाग्रह के बिना आजतक किसी समूह का अस्तित्व कायम नहीं रहा। इस मामले में हम लोग विशेष रूप से भाग्यशाली हैं। जो भी ऐसा पढ़ने को मिले जो सीधा सपाट न हो, चालू फार्मूलों में फिट न होता हो, मन को कहीं कचोटता-परेशान करता हो, सोचने पर मजबूर करता हो, सदियों से चले आ रहे पुरुषोचित मुहावरे को तोड़ता हो, उसे झट भारतीयता के विरुद्ध घोषित कर दो। बस कोई और पूर्वाग्रह पालने की जहमत नहीं उठानी पड़ेगी।

जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं उन लेखकों में से हूँ जो आलोचक के किसी काम नहीं आ सकते। दूर-दूर तक मेरे नाते रिश्तेदारों में (एक बहिन को छोड़ कर, जो मेरी समसामयिक लेखक तो है पर आलोचक-समीक्षक इत्तफाकिया भी नहीं) साहित्यकारों का नामोनिशान नहीं है। मैं न किसी पत्रिका की सम्पादक हूँ न महाविद्यालय में स्नातक। न सरकारी अफसर हूँ न किसी प्रकाशन संस्थान में मैनेजर। मेरे पति भी ये सब नहीं हैं न मेरा कोई और नजदीकी रिश्तेदार। ऐसे 'काम के आदमियों' से ताल्लुकात बढ़ाने का धन्धा भी मैं नहीं करती। मैं किसी पुस्तक को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में नहीं लगवा सकती, कोई पुरस्कार या फैलोशिप नहीं दिलवा सकती। और तो और, मैं समीक्षा से लेकर आलोचना लिखने तक से सख्त परहेज़ रखती हूँ (स्वयं सक्रिय लेखक होने के नाते सैद्धांतिक रूप से) इसलिए 'मैं तेरी करूँ, तू मेरी कर' की उत्तम श्रेणी में भी नहीं आ सकती।

मैं केवल लिखती हूँ। चूँकि लेखन हमारे यहाँ आलोचना की शर्त नहीं है इसलिए मेरे लेखन का अब तक मूल्यांकन हुआ नहीं। छुटपुट समीक्षाएँ कभी-कभार छप जाती हैं। हाँ, जहाँ तक पाठकों का सवाल है, मुझे कोई शिकायत नहीं है। पाठक मेरा लिखा पढ़ते हैं, गुनते हैं, विचार-विमर्श करते हैं, विश्लेषण करते हैं, दुबारा पढ़ते हैं। इसलिए प्रकाशक बेचारे छाप देते हैं।

अपवाद स्वरूप मुझे कुछ आलोचक ऐसे अवश्य मिले जिन्होंने, मेरी रचना को रचना की तरह लिया और उस पर स्पष्ट कहने से नहीं झिझके। मेरे उपन्यास 'अनित्य' के साथ यह सद्व्यवहार श्री विश्वम्भर नाथ उपाध्याय और धर्मवीर भारती ने किया, उपन्यास 'चित्तकोबरा' के साथ अभिमन्यु अनंत ने और कुछेक कहानियों के साथ डॉ० हरदयाल, डॉ० इन्द्रनाथ मदान आदि ने। पर मोटे तौर पर मेरा अनुभव यही है कि आलोचक मौखिक रूप से कुछ कह भी दे (कभी-कभी अनायास) तो उसे लिखता नहीं क्योंकि तबतक वह सतर्क हो चुका होता है और घाटे का सौदा नहीं करना चाहता। दिलचस्प उदाहरण देना चाहती हूँ।

1980 में मेरा उपन्यास "अनित्य" छपा। संयोगवश उसी वर्ष मनोहरश्याम जोशी का "कुरु कुरु स्वाहा" भी छपा। जोशी जी उस समय एक प्रतिष्ठित पत्रिका के

सम्पादक थे। जिन लोगों ने मौखिक रूप से अनित्य की (विशेष कर कुरु-कुरु स्वाहा से तुलना करते हुए) प्रशंसा की–उन्हीं ने लिखित में कुरु-कुरु स्वाहा को वर्ष का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास बतलाया। यह बात दीगर है कि कालान्तर में जोशी जी संपादक नहीं रहे और अब उन्हीं लोगों को उनके उपन्यास में तरह-तरह की खामियां नज़र आने लगी हैं।

1979 में मेरा उपन्यास 'चित्तकोबरा' छपा। एक आलोचक बन्धु ने उस-पर अपने वृहत लेख में टिप्पणी की। बाद में बातचीत के दौरान निहायत मासूम अंदाज़ में कहा कि उन्होंने उपन्यास पढ़ा नहीं है, बस चर्चा सुनी है। चर्चा भी कैसी। एक पत्रिका 'सारिका' ने उपन्यास के दो पन्ने फाड़ कर अलग कर लिये, बिला संदर्भ उन्हें पत्रिका में छाप दिया, एक लम्बा चालू किस्म का पत्र साथ दिया और 'उसी तरह' की अन्य प्रतिक्रियाएँ आमंत्रित कीं। जो जवाब आए, उनमें से सम्पादन धर्म का निर्वाह करते हुए, वे पत्र छांट कर ससम्मान पत्रिका में छाप दिये जो सबसे ज्यादा भौंडे और सस्ते किस्म के थे। यही थी वह चर्चा जिसे पढ़कर उन बन्धु ने अपना लेख लिखा और आश्चर्य यह कि बात खुलने पर उन्हें तनिक लज्जा नहीं आई। अभी कुछ दिन पहले एक आलोचक बन्धु ने बातचीत के दौरान कहा कि वे प्राप्त करने में विश्वास करते हैं, प्राप्त करने के साधन क्या हैं, इससे उन्हें कोई सरोकार नहीं है। मैं समझती हूँ कि यही वह रोग है जिसने आज के आलोचना जगत को ही नहीं, सम्पूर्ण साहित्य जगत को खोखला बना रखा है।

केवल अपनी बात कहूँ तो आलोचकों की उपेक्षा ने मेरा एक फायदा किया है। चूँकि मैं जानती हूँ कि मेरे साहित्य का मूल्यांकन होने वाला नहीं है इसलिए आलोचक की राय न मुझे ललचाती है और न डराती है। मैं हर तरह के दबाव से मुक्त होकर लेखन कर सकती हूँ। सिद्धांत के आधार पर नहीं पर परिस्थिति-वश हालत यह हो गई है कि मैं आलोचक से ज्यादा महत्त्व प्रबुद्ध या भावबोध समृद्ध पाठक को देती हूँ। वह लेखक को नहीं जानता इसलिए उसका मानदण्ड केवल कृतित्व होता है। जहाँ तक इस पाठक का सवाल है वह मुझे लिखने से निरुत्साहित नहीं करता। जब मैं लिख रही होती हूँ तो लेखक-पाठक दोनों में होती हूँ। वास्तविक पाठक मुझसे कई मायनों में भिन्न हो सकता है और कई मायनों में समानरूप। हमारी संगत बैठ जाती है क्योंकि हम दोनों में संवेदना के तत्व मौजूद हैं। इन्हीं पाठकों में से तटस्थ, स्वार्थरहित और विद्वान आलोचक निकलते रहते हैं।

आलोचनात्मक अनुकूलता

—मंजुल भगत

मेरी रचनाओं के बारे में आलोचकों का 'रुख' रहा है—अच्छा या बुरा तो बाद की बात है। अब तक मेरी नौ पुस्तकें प्रकाशित हुईं हैं जिनमें चार कहानी संग्रह हैं।

'गुल के गुच्छे', 'आत्महत्या से पहले', 'कितना छोटा सफर' और 'बावन पत्ते और एक जोकर'। बाकी के छोटे और जरा बड़े उपन्यास हैं। 'अनारो', 'बेगाने घर में','टूटा हुआ इन्द्र धनुष' और 'लेडीज़ क्लब' दो लघु उपन्यास हैं एक ही कवर में। इसके बाद 'खातुल' और अब '84 में, 'तिरछी बौछार'। तिरछी बौछार पुस्तकाकार में अभी जुलाई ही में प्रकाशित हुआ है, इसलिए उसकी आवभगत अभी बाकी है। वैसे यह उपन्यास भी किश्तों में साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपा था और आज पाठको, प्रबुद्ध पाठकों, शोधकर्ता के अतिरिक्त कतिपय लेखक-बन्धुओं के प्रशंसा-पत्र, साप्ताहिक-कार्यालय व मेरे पास आ चुके हैं परन्तु पुल तो तब पार होगा जब आलोचक गण उसे पार करायेंगे।

'अनारो' एक ही किश्त में सम्पूर्ण रूप से साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपा था और आलोचकों ने व पाठकों ने करीब-करीब एक साथ ही हाथों हाथ ले लिया गया था। महीनों मेरी डाक प्रशंसा पत्रों से लदी रही थी। अड़ोस-पड़ोस की घर घुसरू गृहणियी से लेकर राजेन्द्र यादव, विजयेन्द्र स्नातक, योगेश गुप्त, डा. हर दयाल, मृणाल पांडे, डा० महीपसिंह, सुदर्शन नारंग, डा० वीरेन्द्र सक्सेना, ज्ञान अस्थाना ने उसकी प्रशंसा की, मौखिक रूप से नहीं, लिखित भी।

पाठकों के पत्रों में एक पत्र मध्यप्रदेश की किसी कारावास के एक उम्र कैदी का भी आया था। उसने लिखा था कि पढ़ने में उसकी कोई विशेष रुचि नहीं है। वार्डन द्वारा फेंकी गयी पत्रिकायें जेल की कोठरी में यूंही उपेक्षित पड़ी रह जातीं। साप्ताहिक का वह अंक जिसमें 'अनारो' छपा था भी शायद यूंही पड़ा रह जाता, यदि कैदी उसे अकस्मात उठा कर पलटने-उलटने न लगता। उसके बाद लिखा था

कि, वह इस उपन्यास को शुरू से आखीर तक एक ही बैठक में पढ़ गया और इस दौरान यह भूल गया कि वह कारा मे है। पत्र पढ़कर मेरे हाथ कांपने लगे थे।

आलोचकों की प्रशंसा से यह हुआ कि 'अनारो' तो स्थापित हो गया पर भय के मारे मेरी कलम दोबारा कुछ लिखने को छः माह तक न उठ सकी। उस अन्तराल के पश्चात 'बेगाने घर में' लिखा जो मेरे विचार से दूसरी विचार-भूमि पर लिखा गया एक अपनी तरह का अच्छा उपन्यास था। पर आलोचकों ने तो 'अनारो' को मेरे सृजन का मानक स्थापित कर दिया था। उन्हें वैसे ही कुछ की आशा थी। वही शैली, जुबान की वही तेज्-तर्रार तुर्शी और वैसा ही जांबाज़ चरित्र। अब एक ही शैली और एक ही सा कथ्य व चरित्र बार-बार कैसे पेश हो सकता है? विशेषतया तब जब लेखक अपने आप को किसी विशेष का प्रतिनिधि न मानता हो और उसकी संवेदना हर वर्ग के चरित्र से जा मिलती हो?' अनारो' के प्रशंसक सुदर्शन नारंग ने 'बेगाने घर में' की नवभारत टाइम्स में ऐसी की तैसी कर दी। मगर फिर भी यह बच निकला और दिविक रमेश द्वारा सैनिक समाचार अजामिल द्वारा मनोरमा में, युगधर्म पत्रिका मे, नवभारत रायपुर में केशव पांडे आदि द्वारा प्रशसित भी हुआ। दिविक रमेश ने इस उपन्यास की भाषा को सराहते हुए लिखा "इस कृति की यदि कोई खास बात है तो वह यह कि लेखिका का इस खास नौकर वर्ग की खास मानसिकता का सूक्ष्म निरीक्षण और जीवन्त भाषा की पकड़। इस दृष्टि से यह बहुत ही रोचक और ग्रिपिंग कृति है। लेखिका को भाषा के संयम और क्षमताओं की बखूबी पहचान है।" भाषा के ऊपर की गई टिप्पणी मुझे इसलिए आश्वस्त कर गयी क्योंकि 'अनारो' की भाषा को लेकर बहुत चर्चा हुई थी और उसे बहुत जीवन्त और रोचक बतलाया गया था। श्री जैनेन्द्रजी ने तो उसे अद्भुत भी कह डाला था।

'बेगाने घर मे' तो फिर भी 'अनारो' के करीब था 'कितना छोटा सफ़र' और 'बावन पत्ते और एक जोकर' की कुछ कहानियां, जैसे अलग-अलग दायरे, सफल पुरुष और लंगड़ी बतखें, बावन पत्ते और एक जोकर, मोहरा आदि उच्च वर्ग से लिये गये पात्रों की आधुनिकता बोध की कहानियाँ कहलायीं और आलोचकों के दूसरे ही वर्ग द्वारा सराही गयीं। 'आत्म-हत्या से पहले' संग्रह की 'खाली तारीख' भी इसी कक्ष में आयी। डा० रामफेर त्रिपाठी, उपेन्द्रनाथ अश्क, मन्मथनाथ गुप्त आदि ने इन कहानियों को सराहा और संदर्भ को लेकर भाषा की पकड़ भी उन्हें जंची। 'कितना छोटा सफ़र' में संग्रहीत 'मृत्यु की ओर' पहले सचेतना में छपी थी

डॉ० कमल किशोर गोयन्का, लक्ष्मीचन्द्र जैन और राजेन्द्र यादव के प्रशंसा के पत्र मेरे पास पहले ही पहुंच गये थे। इसी संग्रह की 'कबाड़' कहानी की भी बहुत तारीफ़ हुई थी। इसके बाद जब मैंने उसका अंग्रेजी में अनुवाद किया और वह मेरे अंग्रेजी संग्रह 'द सर्च' में छपी तो उसकी सराहना दोबारा भी हुई। यह कहानी सर्वप्रथम 'मनोरमा' के कथा-विशेषांक मे छपी थी और तब भी मौखिक रूप से अमरकान्त आदि ने इसे सराहा था। मुझे भी रचना अच्छी लगी थी और आम पाठकों को भी। प्रबुद्ध पाठक जो रुचि लेकर रचना पढ़ता है वही रचना का सच्चा आलोचक है। आलोचना चाहे सिद्ध आलोचक की हो अथवा पाठक की, किसी रचना की राह में, कभी बाधक नहीं होती। कम से कम मेरी राह मे ऐसा कोई आलोचक नही आया जिसने केवल खुदंक निकालने के लिए अथवा मेरी रचना को जानबूझकर मरवा डालने के लिए समीक्षा लिखी हो। डा० पुष्पपालसिंह 'टूटा हुआ इन्द्र धनुष' से निराश हुए थे तो 'गुल मोहर के गुच्छे' की 'नालायक बहू' से अति प्रसन्न। व्यक्तिगत उसमें कुछ भी नहीं रहा था। रचना की आलोचना आवश्यक है किन्तु रचना से ऊपर वह कदापि नहीं है। रचना अपने आप में सम्पूर्ण है परन्तु उसके साथ प्रकाशक, सम्पादक, आलोचक और पाठक सभी को चलना होता है निष्पक्ष रूप से, गुट और खेमो से दूर रहकर। व्यक्तिगत रूप से उनका रचनाकारों को जानना भी आवश्यक नहीं हाँ मेरे उपन्यास 'खाबुल' 1983 की आलोचना कुछ कम हुई है। हालांकि यह अफ़गान प्रवासी–परिवारों और विस्थापित–विश्रृंखलित व्यक्तियों को लेकर आत्मीयता और भावनाओं की भूमि पर सृजित पहला कथा-साहित्य है, राजनीतिक दस्तावेजों से हटकर। मैं सभी आलोचकों को सुनना-पढ़ना पसन्द करती हूँ बशर्ते के वे बेहद बोझिल, दार्शनिक न हो, व्यर्थ के प्रशंसक अथवा चीड़-फाड़ विशेषज्ञ न बन बैठें। कई बार मैं अपनी रचनाओं की निंदा में भी उनसे सहमत हुई हूं। 'आत्म-हत्या से पहले', संग्रह की कुछ रचनाओं को आलोचकों ने हल्का बतलाया है, मेरी अन्य रचनाओं के मुकाबिले मे। शायद यहाँ वे दुरुस्त ही कहते हैं। अक्सर बेहतर रचना रचने के दौरान खुद को ज्ञात हो जाता है, एक आभास सा होने लगता है कि कुछ अच्छा रचा जा रहा है। परन्तु ये बेहतर रचनायें, स्थापित होने के पश्चात लेखक की अन्य रचनाओ के आड़े आने लगती हैं।

लेखकों को किसी भी प्रकार के वर्गों में बांटकर आलोचना करना गलत है। इस प्रकार की आलोचना यदि रचनाकारों द्वारा गम्भीरता से ले ली जाय तो उनके लेखन की विविधता-विभिन्नता मारी जायेगी। संभवतः वे जानबूझ कर, सप्रयास

अपने लेखन को सांचे में ढालने लगेंगे और स्वयं को भी दलों में, अपने लेखन को वे दोहराते चले जायेंगे और ताजे और दूसरे किस्म के अनुभवों को नकारते। उनकी सम्वेदना कुंठित हो जायेगी और बहुत जल्द वे इस-उस खेमे के नारे लगाने लगेंगे। आलोचकों को मंचों और प्रसार-प्रचार से अलग हट कर आलोचना करनी चाहिए किसी भी रचनाकार का सम्पूर्ण साहित्य एक ही घेरे में बन्द किये बिना रचनाकारों को इन पिंजरों की कैद से मुक्त रखकर ही सहज-स्वाभाविक और स्वछंद रचना की अपेक्षा की जा सकती है।

एक छोटी सी बात और पुस्तक का फ्लैप-मैटर पढ़कर उसका खण्डन करना समीक्षा नहीं है। फ्लैप-मैटर अधिकतर प्रकाशक की ओर से होता है और पुस्तक की बिक्री बढ़ाने के लिए 'सेल्स टाक' की तरह होता है। कई आलोचक, आलोचना के रूप में केवल कहानी का प्लाट प्रस्तुत कर देते हैं। कुछ पुस्तक को पढ़े बिना ही सतही सी चंद सतरें लिख देते हैं। इससे तो बेहतर है समीक्षा न ही देना। पुस्तक के प्रेस से बाहर आने के वर्षों बाद प्रकाशित समीक्षा का भी महत्व आधा रह जाता है।

आलोचना की भूमिका

—विविक रमेश

माध्यम और सृजन के रिश्ते को मैं नकारता नहीं, वह आज की स्थितियों में जरूरी भी है लेकिन दुर्भाग्य यह है की माध्यम सृजन पर सवार होना चाहता है। माध्यम चाहे प्रभावशाली सम्पादक हो या प्रकाशक हो, रेडियो-दूरदर्शन हो या फिर मान्य आलोचक हो—सभी सृजन और उसके सर्जक को एहसान के नीचे दबाने की कोशिशों में लगे रहते है। उनकी इन कोशिशों में कुछ जरूरत से ज़्यादा महत्त्वाकांक्षी रचनाकारों का भी हाथ न रहता हो, ऐसी बात नहीं है। एक दूसरा कारण यह भी है कि अपनी रचना के संदर्भ में रचनाकार से खास विनम्र होने की उपेक्षा की जाती है। माध्यम उसकी रचना की उपेक्षा करे या दुर्गति—उसे बर्दाश्त करना ही चाहिए—यह नैतिक पाठ अपने यहाँ जाने कब से पढ़ाया जा रहा है। विज्ञापनवादी और पूँजीवादी समाज में वे लोग ज़्यादा कामयाब रहते हैं जो नैतिकता का वज़न केवल दिखावे के लिए उठाते हैं। रचनाकारों में भी जो इतने समझदार हैं वे आज के ज़माने की कामयाबी के मुताबिक बहुत जल्द विभिन्न पुरस्कारों, खास चर्चाओं, विदेशी यात्राओं आदि के भागीदारी हो जाते हैं। 'जिनुइन' रचनाकारों को भी ये चीज़ें मिल जाती हैं लेकिन अपने समकालीनों की तुलना में बहुत देर से। कहने का अर्थ यह है कि सामान्यतः माध्यम रचना पर हावी है या होने की कोशिश में रहता है। जबकि मैं मानता हूँ कि रचना का महत्त्व सर्वोपरि है। रचना और आलोचना में भी रचना का स्थान ऊपर है। तर्क दिया जा सकता है कि बहुत से कवियों को लोगों की निगाह में महत्त्वपूर्ण बनाने का श्रेय रामचंद्र-शुक्ल को है। निःसन्देह शुक्ल जी एक बड़े आलोचक थे। किन्तु रचनाकार थे तो शुक्ल जी उन्हें उठा सके—वैक्यूम में तो वे रचनाकार पैदा कर नहीं सकते थे'। अतः प्रश्न यह नहीं है कि शुक्ल जी बड़े या महान आलोचक नहीं थे लेकिन उनका दर्जा मूलतः एक बहुत बड़े पारखी का था। हीरे और उसके पारखी दोनों का ही महत्त्व होता है और दोनों की इस दृष्टि से तुलना करना उचित भी नहीं है। फिर भी तुलना करने पर परख की जा रही वस्तु का स्थान पहला मानना होगा। हीरा

अगर हीरा है तो वह हमेशा हीरा रहेगा–उपेक्षित अवस्था में भी वह हीरा है और पहचान लिए जाने पर भी वह हीरा है। लेकिन पारखी की नीयत में खोट आ जाए तो वह हीरे को पत्थर कह सकता है और पत्थर को हीरा। और उस पर विश्वास करके चलने वाले बहुत से भोले-भाले लोग तात्कालिक रूप से उसके भ्रांति में आ सकते हैं। पोल खुलने पर भले ही वैसे पारखी की दुर्गति भी होती है। अन्ततः हीरा-हीरा सिद्ध होता है, पत्थर-पत्थर।

आज आलोचना-धर्म स्वयं रचनाकार भी निभाता है। साथ ही ऐसे आलोचक तो हैं ही जो रचनारत नहीं हैं। पपलेबाजी दोनों ही प्रकार के आलोचकों में मिलती है। प्रचार-प्रसार को ही महत्व देने वाले ज़माने में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। तो भी यह सामान्य सच है कि समकालीन परिदृश्य में साहित्य की जिस विधा ने सर्वाधिक विश्वास खोया है वह आलोचना ही है। ख़ासकर जो रचनारत आलोचक नहीं हैं उनमें से तो अधिकतर ने आलोचना को एक धन्धा बना लिया है या फिर उसे उठा-पटक का शौक समझ लिया है। ऐसी हथकण्डे वाली आलोचना साहित्य के लिए कितनी सार्थक और प्रासंगिक हो सकती है, यह विद्वान लोग सोचें। लेकिन सभी आलोचक अच्छे ही अच्छे अथवा बुरे ही बुरे नहीं होते। बुरे आलोचकों में भी कुछ काम का मिल जाता हैं। खोट वाला बेईमान किन्तु प्रतिभावान् आलोचक भी कुछ रचनाओं की तो ठीक परख कर ही जाता है–भले ही वे रचनाएँ उसे फ़ायदा पहुँचाने वाले रचनाकारों की ही क्यों न हों।

अगर मैं अपने ख़ास संदर्भ में सोचूँ तो कहूँगा कि मुझे ज्यादातर वे आलोचक मिले है जो स्वयं कवि हैं जिनमें वच्चन की पीढ़ी के भी है, केदार नाथ अग्रवाल की पीढ़ी के भी है और अब्दुल विस्मिल्लाह की पीढ़ी के भी है।' इसके अतिरिक्त, मुझे अन्य भाषाओं के कवि-आलोचक भी मिले हैं। ऐसे सभी आलोचकों ने निश्चित रूप से मेरे कवि रूप को पाठकों के सामने बेहतर ढंग से उपस्थित करने में मदद की है। इधर डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय और डॉ. हरदयाल जैसे मान्य और प्रसिद्ध आलोचकों ने मेरी रचनाओं की गहरी और ईमानदार पहचान करायी है। निःसंदेह मुझ पर लिखने वालो की संख्या बहुत अधिक है। सभी ने मेरी किन्हीं न किन्हीं रचनाओं को प्रतिष्ठित कराने में मदद की है। उन सभी को मैं धन्यवाद देता हूँ। यहां सभी के नाम देना शायद उचित नहीं है। तो भी बिना भेदभाव कुछ नाम लेना अवश्य ठीक रहेगा। पहले आ चुके नामों के अतिरिक्त कुछ इस प्रकार हैं—जगदीश गुप्त, विश्वनाथ त्रिपाठी, श्याम विमल, रमेश चन्द्र शाह, श्याम गोविन्द, राजीव सक्सेना, जीवन प्रकाश जोशी, मोतीलाल

जोतवाणी, मनोहर बन्धोपाध्याय (अंग्रेजी), रामलाल (अंग्रेजी), सुरेश धींगड़ा कुलदीप सलिल आदि। अब तक मुझपर लिखी आलोचनाओं में सर्वाधिक उल्लेखनीय आलोचना केदार नाथ अग्रवाल द्वारा लिखी गई है। 22 पृष्ठ की यह आलोचना मेरे पहले संकलन 'रास्ते के बीच' पर है जो उनकी पुस्तक विवेक-विवेचन में मौजूद है। इस संग्रह की 26 पृष्ठीय लम्बी कविता 'रास्ते के बीच एक आधुनिक आदमी' की परख विशेष रूप से बहुत उम्दा ढंग से हुई है, मेरे अनेक पाठक भी ऐसे हैं जिन्होंने सीधे-सीधे मेरी कविताओं को बखूबी पहचाना है। ऐसी कविताओं में खासकर माँ, चिड़िया का ब्याह, रामसिंह आदि आती हैं।

आलोचना की आवश्यकता मैं भी मानता हूँ। बिना सही आलोचना के स्वयं कवि और पाठक का पूरा हित नहीं हो पाता। सही आलोचना रचना और रचनाधर्मिता के प्रति दोनों को सजग करती है। लेकिन बुरी आलोचना दोनों के लिए बहुत ही घातक भी सिद्ध हो सकती है। सही आलोचना के लिए प्रतीक्षा तो होनी ही चाहिए लेकिन अन्य दृष्टियों का भी इस्तेमाल हो तो आलोचना चमक उठती है। सबसे बड़ी चीज़ है ईमानदारी। वे प्रतिमान जिन्हें एक आलोचक अपनाता है, खुले होने चाहिए। उन प्रतिमानों पर खरी उतर रही प्रत्येक कृति को समान रूप से खरा कहा जाना चाहिए। आलोचना के क्षेत्र में पट्टेबाजी और दाव-पेच अन्ततः आलोचक की भी असमय मृत्यु का कारण बनता है। हमारे बीच डॉ. रामविलास शर्मा, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र जैसे अनेक बड़े आलोचक हैं, दुर्भाग्य है कि इनमें से कुछ समकालीन लेखन के प्रति बहुत सक्रिय नहीं है। लेकिन इनकी प्रथम श्रेणी की प्रतिभा के सम्बन्ध में कोई शक नहीं है। कवि-आलोचकों में अनेक हैं जो सक्रिय है। काश कि हमारे कुछ प्रभावी आलोचक उठा-पटक, पूर्वाग्रहों, गुटबाज़ी और मतान्धता को छोड़कर ईमानदारी के साथ समकालीन रचना पर आलोचना कर्म करते। इन दुर्गुणों के कारण उनके सही कदम भी शक की निगाह से ही देखे जाते हैं/रहेंगे। नए आ रहे आलोचकों में तो ये दुर्गुण और भी ज़्यादा घर किए हुए लगते हैं। बहरहाल, रचना होती रहेगी, आलोचक स्वयं प्रबुद्ध हैं। एकआध ही ऐसा किस्सा है जहाँ मुझे आलोचक की समझ पर तरस आया है। मेरे पहले संग्रह 'रास्ते के बीच' पर डॉ० नन्दकिशोर नवल ने लिखा कि 'इस संग्रह की आधी कविताएँ ही वे पढ़ सके और इन कविताओं में न कुछ कहा गया है, न कवि को कुछ कहना आया है। निःसंदेह खराब कविताएँ भी होती हैं। इस संग्रह पर अनेक मान्य कवियों-शिक्षकों ने विचार किया है जिनमें केदार नाथ अग्रवाल के अतिरिक्त

नागार्जुन, विश्वानाथ त्रिपाठी, जगदीश गुप्त, शमशेर, रामदरश मिश्र, राजकुमार सैनी आदि सम्मिलित हैं। इन सभी ने बहुत कुछ सराहा है। अब यदि मैं डॉ० नवल के अजीब विश्लेपण रहित निष्कर्ष को मान लूं तो जाहिर है इसका एक अर्थ यह भी होगा कि जिन कवि-समीक्षकों ने मेरी कविताओं की प्रशंसा की है वे सभी डॉ० नवल की समझसे कम समझ रखते हैं। और ऐसा तो हिन्दी-साहित्य का अंधा भी नहीं मानेगा—अगर वह ईमानदारी से कहें तो। पूर्वाग्रह किसी किस्म का हो, कुछ भी करा सकता है, कुछ ऐसे भी हैं जो पहले मेरी प्रशंसा कर चुके हैं लेकिन कुछ व्यक्तिगत द्वेप और खटापटी के कारण अब आंखें मूंद रहे हैं। लेकिन वे ऐसे है जिनका वैसे ही कुछ महत्त्व नहीं है। उनका नाम भी क्या लूं। लेकिन ये बातें ऐसी हैं जिन पर रचनाकार न ही लिखे तो अच्छा। आलोचना का अच्छा जवाब एक बेहतर रचना देना होता है।

प्रश्नालोचना

—मिथिलेश्वर

प्रश्न 1. आपके सृजन के साथ आलोचकों का क्या रुख रहा ? इस रुख और रवैये से आप आलोचना को, रचना के लिए आवश्यक मानते हैं या बाधक ?

उत्तर—मेरे सृजन के साथ आलोचकों का क्या रूख रहा है, यह बताने से पहले मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं मूलतः कथाकार हूँ। अब तक मैंने सिर्फ उपन्यास एवं कहानियों की ही रचना की है। जहां तक मैं समझता हूँ, हिन्दी आलोचना ने अभी तक गहराई के साथ कथा-साहित्य को अपना विषय नहीं बनाया है। आलोचना के दायरे में कविता की तरह कथा-साहित्य को लेकर उत्साह नहीं। इस बिन्दु पर अपने प्रति आलोचकों के रुख बताने की आवश्यकता फिलहाल मैं महसूस नहीं करता। कथा-साहित्य को लेकर जो टिका-टिप्पणियां हो रही हैं उससे कथा-आलोचना के लिए जमीन बन रही है। यह अच्छी बात है। विश्वास है, निकट भविष्य में कथा-साहित्य को लेकर आलोचना की कारगर भूमिका देखने को मिलेगी। तब यह प्रश्न उठेगा कि आलोचकों ने ईमानदारी से कार्य किया या किसी के साथ पक्षपात किया या किसी की उपेक्षा की ? फिलहाल यह प्रश्न उठता ही नहीं।

प्रश्न 2. किन आलोचकों ने आपकी किस रचना का सही मूल्य आंका और उसे प्रतिष्ठित कराया ? किन रचनाओं की उपेक्षा हुई ?

उत्तर—जैसा कि मैं ऊपर जिक्र कर चुका हूँ, मेरे जानते कथा-आलोचना की पर्याप्त अपेक्षित जमीन अभी विकसित होनी है। फिर भी इधर-उधर जो साफ-सुथरी आलोचकीय बातचीत हो रही है, उसमें अब तक दो दर्जन से अधिक समीक्षाएं मेरी कथा-कृतियों पर प्रकाशित हो चुकी हैं, उनमें डॉ० नामवर सिंह ने मेरी लम्बी कहानी 'हरिहर काका' का सही मूल्य आंका है। इसके अतिरिक्त श्री भीष्म साहनी, डॉ० नागेश्वर लाल, डॉ० विवेकी राय एवं जापान के युवा कथा-आलोचक श्री आकिरा ताकाहाशि ने भी मेरी कथा-कृतियों का ईमानदार मूल्यांकन किया है।

प्रश्न 3. यदि सम्पादक और प्रकाशक किसी लेखक को उपलब्ध है तो आलोचक भी उसे मिलें, यह चाह रचनाकारों में क्यों है ? आलोचक का आवश्यक कार्य क्या है, समीक्षा, कृतीक्षा या परिप्रेक्ष्यपरक आलोचना या ये सब कार्य जरूरी हैं ?

उत्तर—यदि किसी लेखक को सम्पादक और प्रकाशक मिल जायें तो उसका लिखा हुआ छप कर लोगों तक पहुँचने लगता है। लेकिन यही लेखक के लिए पर्याप्त तो नहीं। वह क्या लिख रहा है ? कैसा लिख रहा है ? उसके लेखन से कैसी मानसिकता बन रही है ? उसके लेखन का दूरगामी प्रभाव क्या हो सकता है ? इन मुद्दों की ओर लेखक को सचेत करते हुए उसके लेखन के स्तर निर्धारण का कार्य आलोचक का होता है। इसीलिए प्रकाशन की सुविधा के बाद भी लेखकों को आलोचकों के सहयोग की अपेक्षा रखनी चाहिए। यहाँ यह बात मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि लेखक एवं आलोचक दोनों में से कोई एक दूसरे को दिशा-निर्देश देने जैसा कार्य नहीं करते। कभी-कभी कोई उत्कृष्ट कृति साफ-सुथरी आलोचना के लिए मार्ग प्रशस्त करती है तो कभी-कभी आलोचक के सुलझे हुए दृष्टिकोण अच्छी रचनाओं के जनक बन जाते हैं। इसीलिए आवश्यकता लेखक एवं समीक्षक के आपसी सहयोग एवं सद्भाव की होनी चाहिए। आलोचक का काम लेखक एवं पाठक को एक दूसरे से परिचित कराना ही मेरी दृष्टि में पर्याप्त नहीं, क्योंकि प्रकाशन की सुविधा के बाद तो लेखक स्वयं पाठकों के बीच पहुँच जाते हैं। इसीलिए आलोचक का दायित्व और बढ़ जाता है।

प्रश्न 4. उल्लेखों की कोई राजनीति है या सिर्फ पूर्वाग्रह हैं ? यदि राजनीति है तो उसके पीछे मतान्धता है या कुछ और ?

उत्तर—उल्लेखों से यदि 'मधुमाधवी' का तात्पर्य समकालीन चर्चाओं से है तो यह विषय एक लम्बे बहस की अपेक्षा रखता है। फिलहाल जिन कृतियों एवं कृतिकारों का उल्लेख आलोचना के क्षेत्र में हो रहा है वह कितना सही और कितना दलों, वादों एवं पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है, इस पचड़े में न पड़ कर मैं कहना यह चाहता हूँ कि अगर आलोचक द्वारा किसी सस्ती रचना का उल्लेख उत्कृष्टता के क्रम में किया जाता है तो उस उल्लेख का स्थायी महत्त्व प्रतिपादित नहीं हो पाता है। मूल्यांकन के बाद पुनर्मूल्यांकन के बाद पुनर्मूल्यांकन का सिलसिला वर्षों बाद चलता रहता है। इस बिन्दु पर सतही और कमजोर रचनायें स्थायी चर्चाओं का विषय बन नहीं पाती और अच्छी कालजयी रचनाएँ उल्लेखों के अभाव में भी

धीरे-धीरे स्थायी चर्चाओं के बीच आ जाती हैं। इसीलिए समकालीन संदर्भों में लेखकों को यह देख कर चिन्तित नहीं होना चाहिए कि अमुक का उल्लेख हो रहा है और उनका नहीं हो रहा है! अच्छी रचनाएँ लिख कर ही लेखक स्थायी चर्चाओं में आ सकते हैं तथा आलोचक अच्छी रचनाओं का उल्लेख करके ही अपने उल्लेख को स्थायी महत्त्व दे सकते हैं।

प्रश्न 5. रचनाकार और आलोचक में क्या द्वेष और द्वन्द्व जरूरी है ?

उत्तर—मैं यह नहीं मानता। जैसे कि मैं ऊपर कह गया हूँ रचनाकार एवं आलोचक में आपसी सहयोग एवं सद्भाव होना चाहिए। मैं नहीं समझता कि अगर आलोचक मित्रभाव से किसी रचनाकार की रचनागत खूबियों को बताते हुए उसकी खामियों की ओर संकेत करे तो वह लेखक उस आलोचक से द्वेष रखे। जहाँ रचनाकार एवं आलोचक दोनों एक दूसरे को समझने की कोशिश नहीं करते तथा एक दूसरे को अपने से ओछा समझते हैं, वहीं उन दोनों के बीच द्वेष और द्वन्द्व का जन्म होता है। इसके अतिरिक्त किसी खास दृष्टिकोण के तहत मूल्यांकन भी द्वेष का कारण होता है। साथ ही बिना पर्याप्त कारणों के किसी को श्रेष्ठ तथा किसी को सामान्य समझना भी द्वेषपूर्ण बन जाता है। दल, गुट, वाद, पक्षपात तथा पूर्वाग्रह द्वेष और द्वन्द्व को जन्म देते हैं। रचनाकार एवं आलोचक दोनों को इन संकीर्णताओं से ऊपर उठना चाहिए। इतिहास बताता है कि जहाँ लेखक एवं आलोचक ने मित्रभाव से कार्य किया है, वहीं अच्छी रचना एवं अच्छी आलोचना देखने को मिली है।

प्रश्न 6. यदि किसी उत्कृष्ट रचना का मूल्य नहीं आंका जाता तो यह आलोचना की असफलता है और यदि अनुत्कृष्ठ रचना को उत्कृष्ट सिद्ध कर प्रसिद्धि दी गई है, तो यह आलोचक की अधमता है, क्या राय है, कोई उदाहरण,-कोई आप बीती ?

उत्तर—जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, सस्ती और कमजोर रचना की वकालत कर आलोचक कुछ समय के लिए उसे उत्कृष्टता का दर्जा दे सकता है लेकिन स्थायी प्रसिद्धि नहीं दे सकता। इसके विपरीत अच्छी रचनाएँ बिना किसी आलोचक की वकालत के स्थायी प्रसिद्धि पा जाती हैं। इस संदर्भ में आलोचना से थोड़ा अलग हट कर पुरस्कार समितियों के निर्णयों की ओर मैं अपनी बात ले जाना चहता हूँ। नोबेल पुरस्कार समिति ने टॉल्सटॉय के पक्ष में अपना निर्णय नहीं दिया। लेकिन मेरे जानते किसी नोबेल पुरस्कार विजेता से टॉल्सटॉय को कम प्रसिद्धि नहीं मिली। उत्कृष्टता के क्रम में भी उनकी रचनाएं किसी 'नोबेलिस्ट' से पीछे नहीं है""हाँ, इस बात के लिए नोबेल पुरस्कार समिति को बराबर आड़े हाथों लिया जाता है कि टॉल्सटॉय की श्रेष्ठ कृतियाँ उन्हें नहीं जंची।

—•—

हिन्दी आलोचना : स्थिति, गति और नियति

—डॉ. गोविन्द रजनीश

हिन्दी साहित्य में आधुनिक चेतना का विकास भारतेन्दु युग में हुआ। हिन्दी गद्य के विकास के साथ-साथ इससे नयी विधाओं को आकार देना प्रारम्भ कर दिया। इस युग में समीक्षा पद्धति के विकास के लिए दो तत्त्व प्रमुख रूप से उत्तरदायी थे। पहला तत्त्व नयी शिक्षा पद्धति का विकास है जिसके फलस्वरूप हिन्दी भाषी पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति से परिचित हुए। दूसरा तत्त्व छापेखाने की खोज है जिससे अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन सम्भव हुआ।

पण्डित बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयम्वर' के नाट्य दोष-दिखाकर आधुनिक हिन्दी आलोचना का सूत्रपात किया था। उस समय दोष-दर्शन और पुस्तक-परिचय ही आलोचना के पर्याय थे। इनमें शुद्ध आलोचना कम होती थी। इस समय की आलोचना मुख्यतः नाट्य-केन्द्रित थी क्योंकि युगीन संवेदना और रचनात्मकता की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति नाटकों द्वारा ही हो रही थी अतः आलोचकों ने नाटक को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाकर तत्कालीन संवेदना की सही पहचान की थी। अपनी प्रकृति में आलोचना प्रगतिशील और कलावादी दो रूपों में विभक्त थी। कलावादी समीक्षा का रूप भारतेन्दु के नाटक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। इसमें भारतीय और पाश्चात्य नाटक-सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है।

दोष-दर्शन के साथ गुणों का संकेत सबसे पहले पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दिया किन्तु उनका तथा अन्य आलोचकों का रुझान दोष-दर्शन के प्रति अधिक पड़ा। इस काल में आलोचना ने रीतिकालीन मूल्यों की विधाओं का निषेध कर आधुनिकता के आदर्शवादी पथ पर अधिक बल दिया। फलतः इस युग की आलोचना में गहराई की अपेक्षा पर्याप्त विस्तार और वैविध्य है।

द्विवेदी युग में आलोचना सर्जनात्मक साहित्य पर हावी रही। वह पंडिताई का पर्याय बन गई थी। आलोचक अपने आपको रचनाकार से बड़ा और श्रेष्ठ

विद्वान समझता था और उनकी रचनाओं के दोष अपनी पाण्डित्यपूर्ण शैली में दिखाता था। वह पैरोकारी के स्थान पर फैसला देने को अहमियत देता था।

इस युग में पद्मसिंह शर्मा, मिश्र बन्धु और भगवान दीन, रीतिवादी आलोचना लिखते रहे। कुछ मायनों में महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना प्रगतिशील रही। अन्यथा तुलनात्मक आलोचना के नाम पर कलाबाजियों के सहारे देव और बिहारी को तौला जाता था और 'नवरत्नों' जैसे सामन्ती प्रश्न उठाये जाते थे।

वस्तुतः अब तक की हिन्दी आलोचना पर संस्कृत के काव्यशास्त्र और पाश्चात्य समीक्षा के गहरे दबाव रहे थे इसलिए उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्मित नहीं हो पाया था। उसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व देने का यत्न आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। यद्यपि शुक्ल जी की विवेचना का आधार रस है किन्तु वह रसवाद का अनुकरण नहीं है। उन्होंने उसे वैज्ञानिक और तर्क संगत आधार दिया। वे शास्त्रीयता के साथ-साथ स्वच्छन्दवाद की कमजोरियों से अच्छी तरह परिचित थे। उन्होंने शास्त्रीयता की रूढ़ि तोड़ी और साथ ही स्वच्छन्दवाद के व्यक्ति-वैचित्र्यवाद से बचने का यत्न किया।

शुक्लजी विश्व की विकासवादी व्याख्या करते हैं। साहित्य की व्याख्या के लिए जातीय-चेतना लोक-धर्म और जनता की चित्तवृत्ति पर बल देकर उन्होंने आलोचना को जिन्दगी के अधिक समीप ला दिया था।

छायावादी युग में आलोचना मुख्यतः दो फांकों में बंट गई। पहले रूप में वह कवि-केन्द्रित हो गई। उस जमाने के कवियों ने अपनी बात साफ करने के लिए आलोचनानुमा निबन्ध लिखे पर उनमें 'आत्मरक्षा' का भाव इतना अधिक था कि आलोचना व्यापक भूमि न अपना सकी।

शुक्लजी ने छायावाद को समग्र सहानुभूति देने से इन्कार कर दिया तब छायावाद काल के आलोचकों ने हिन्दी रोमानी कविता के विवेचन का कार्य किया रोमानी समीक्षा ने रचना को भीतर से जानने-पहचानने की कोशिश की पर मानवीय दृष्टि को भी ध्यान में रखा। नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, जैसे रोमानी-आनन्दवादी समीक्षकों की एक पीढ़ी इस दौरान सक्रिय रही जो बाद में समकालीन साहित्य के सन्दर्भ में प्रतिक्रियावादी बनकर 'शाश्वत साहित्य' का नारा लगाती रही।

छायावादोत्तर काल में प्रगतिवादी आलोचना मार्क्सवादी चिंतन से और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना पद्धति फ्रायड, एडलर और युंग की स्थापनाओं से प्रभावित हुई। प्रगतिवादी समीक्षकों ने सामूहिक चेतना पर बल दिया और मनोविश्लेषणवादियों ने व्यक्तिवाद पर। प्रगतिवादी समीक्षकों में रामविलास शर्मा ने आचार्य शुक्ल की परम्परा को आगे बढ़ाया। अन्य समीक्षकों में शिवदानसिंह चौहान, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, रमेश कुन्तल मेघ, बच्चनसिंह और शिवकुमार मिश्र ने प्रगतिवादी समीक्षा को समृद्ध किया।

इस दौरान कलावाद को लेकर जो शास्त्रीय विवाद हुआ था और विचारधाराओं की आपसी टकराहट हुई उसे कई रूपों में देखा जा सकता है। एक ओर क्लासिकी-रोमानी भाव धाराओं में टकराहट दी, दूसरी ओर रचना और रचनाकार के स्वायत्तता के नारे, जिसे व्यक्ति की आजादी से जोड़ दिया गया था और रचना की सामाजिकता की माँग के बीच टकराहट थी। स्वाधीनता के बाद विश्व के शीत युद्ध का असर व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्रतिबद्धता के रूप में देखा जा सकता है। अब यह टकराहट उतनी तेज नहीं है किन्तु भीतर ही भीतर वैचारिक संघर्ष जारी है।

आलोचना में दायित्व-बोध निहित है। वह गुण—दोष विवेचन के अलावा आत्मालोचन भी है। आलोचक अस्वादक भी है। जो कुछ समाज का अस्वाद्य और भोज्य है, आलोचक उसे मानवीय संवेदना से जोड़कर आस्वाद बनाने वाला है। रुचि व संस्कारों का परिष्कार करने के साथ साहित्यिक गतिविधियों का नियंत्रक भी है। आलोचना की आत्म कला और शरीर शास्त्र है। आलोचक अभिकर्ता न होकर सर्जनात्मक-चेतना सम्पन्न होता है। अपनी चेतना में वह 'कृति' की पुनर्रचना करता है। रचनाकार यथार्थ को अपने ढंग से रचता है, आलोचक उस बिम्ब का मानसिक प्रतिबिम्ब रचता है। सही आलोचना सर्जनात्मक स्तर पर ही लिखी जा सकती है।

समकालीन हिन्दी आलोचना की टकराहट उस रोमानी दृष्टि से हुई जो रचनाकार की निजी जिन्दगी को रचना में खोजने का आग्रह करती रही है। उसने व्यक्ति के स्थान पर उस सामाजिक जीवन की पहचान का आग्रह किया जिस पर कोई रचना संस्थित हुआ करती है। रोमानी तेवरों का सामना करते हुए उसे यथार्थ परक नजरिया अपनाना पड़ा है।

समकालीन आलोचना ने रचना और आलोचना के अलगाव को तोड़ा है। इस अलगाव से उनमें सम्वाद की स्थिति कमजोर पड़ती है। इस दूरी को पाटने में समकालीन आलोचना ने बौद्धिक पहल की और इससे दोनों को लाभ पहुँचा।

बिना नामों की तफसील में जाये, कहा जा सकता है कि समकालीन आलोचना ने अपनी दुनिया का विस्तार किया है। उसने स्वीकारा कि आलोचना को केवल साहित्यिक आलोचना तक सीमित कर देने का मतलब है उसके दायरे को संकुचित कर देना और जीवन-धारा से उसे काट देना। इसलिए हिन्दी की नयी आलोचना ने उस जमीन को पहचानने की पहल की जहाँ से रचना अपनी शुरुआत करती है।

समकालीन हिन्दी आलोचना में मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, शैलीवैज्ञानिक, संरचनावादी, मिथकीय, मार्क्सवादी एवं अस्तित्ववादी अवधारणाओं व पद्धतियों का आग्रह एवं प्रयोग बढ़ा है किन्तु ये सभी पहुँचें अधूरी है। मसलन 'नयी समीक्षा' (न्यू क्रिटीसीज्म) रचना को स्वायत्त मानती है, सामाजिक तथा मूल्यवादी चेतना को नकारती है। रचना के निकटतम अध्ययन और भाषिक संरचना पर अधिक जोर देने से वह रूपवादी बन कर रह जाती है। इसलिए यह अप्रासांगिक हो गई।

रचना, रचनाकार और साहित्य के आपसी सरोकारो को समझने के लिए समाजशास्त्रीय पद्धति अपरिहार्य मानी जा सकती है। वह सामाजिक रिश्तों का, स्थिति और गति के रिश्तों का, मनुष्य और मूल्यों के रिश्तों का, परिवर्तन के रिश्तों का, लेखक का समाज के साथ व्यक्ति और प्रतिबद्ध रचनाकार के रूप में दोहरे रिश्तों का परीक्षण है किन्तु इसके मूल्यांकन की प्रक्रिया में समाज एक निरीह वस्तु रह जाता है। समाज के साथ उसका रागात्मक रिश्ता कायम नहीं हो पाता। प्रायः व्यक्तिगत वैशिष्ट्य भी उपेक्षित हो जाता है। इसी प्रकार शैलीविज्ञान भाषा गत विचलनों पर अधिक बल देता रहा है जबकि रचना में भाषा ही सब कुछ नही होती, उसमें भाव, विचार, संवेदना और कल्पना आदि सभी तत्वो की संगति होती है, शुद्ध आलोचना उसी संगति को खोजती है।

मिथकीय आलोचना मिथकीय संरचनाओं को खोलने में सहायता तो करती है किन्तु आलोचना की समग्रता को समेट नहीं पाती।

मार्क्सवादी की विश्लेषण-पद्धति को वस्तु परक और वैज्ञानिक माना गया है। वह द्वन्द्व न्याय के आधार पर तथ्यों, शक्तियों और परिवेश का विश्लेषण करती है। वह स्वाधीनता और समता का दर्शन है जो मानव मुक्ति के बारे में सोचता है। व्यवस्था के विरोध में साहित्य के प्रतिवादी स्वर मार्क्स की देन है किन्तु इस पद्धति में वस्तु (कन्टेंट) पर अधिक बल तथा रचना और उसके रूप (स्टाइल) का नकार होता है। जबकि इन दोनों का संतुलित विवेचन ही सही तौर पर रचना के

मर्म तक पहुँच सकता है। वस्तु और रूप में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। लिखते सम
रूप के प्रति सजगता लेखक के मन में अवश्य रहती है।

मूल्यांकन गत्यात्मक विधा है। वह रचना के अवयवों की स्वायत्तता प
निर्भर है। उसे इकहरे या सीमित बोध के तहत प्रयोग में नहीं लाया जा सकत
विवेचन में आधुनिक प्रणालियों का ज्ञान आवश्यक है, उनके अलग-अलग बोध का
अपने-अपने 'फ्रेमवर्क' (चौखटे) में समाहित करना ही बेहतर है जैसे मार्क्सवाद के
'फ्रेमवर्क' में शैली विज्ञान व संरचनावाद आदि का प्रयोग एक नया रूप सामाजिक
शैलीविज्ञान (Socio stylistic) के रूप में हो सकता है।

समकालीन आलोचना की सबसे बड़ी उपलब्धि उसका नया मुहावरा है
जो उसने आज के सन्दर्भ में निर्मित किया है। आलोचना को अपने समय की रचना
के साथ न्याय कर सकने के लिए एक नया मुहावरा तलाशना पड़ा। इससे उसे
स्वतन्त्र व्यक्तित्व मिला।

आलोचना आज पण्डिताई का पर्याय नहीं है और न वह विवशता की
स्थिति है। समकालीन आलोचकों ने उसे रचना के काफी पास ला दिया है।
आज आलोचना के क्षेत्र में कई प्रकार की विचार धाराएँ सक्रिय हैं किन्तु इनके
बावजूद आलोचना की भूमि व्यापक हुई है और सामाजिक सरोकार और गहरा
हुआ है।

—डॉ. रणजीत

अपने काव्य सृजन के प्रति आलोचकों के आम व्यवहार से बात शुरू करूँ, तो कुल मिलाकर मुझे उससे बिल्कुल असंतोष नहीं है। मेरा पहला कविता संग्रह 'ये सपने : ये प्रेत' 1964 में प्रकाशित हुआ था, पुस्तक मैंने हिन्दी में प्रतिष्ठित प्रगतिशील आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान, डॉ. प्रकाशचन्द्र गुप्त के पास भेजी थी। दोनों ने बड़े जोरदार अनुशंसात्मक पत्र लिखे। श्री शिवदानसिंह चौहान ने जहाँ गाँधीजी और नेहरूजी के नाम राजनीतिक अवमानना के स्वर में उल्लेख पर आपत्ति की वहीं कहा : 'रणजीत एक अनुभूतिप्रवण कवि हैं ' उनकी अनुभूतियां मात्र वैयक्तिक नहीं, बल्कि एक मानी में देश और विदेश के हर पीड़ित, उपेक्षित और आक्रांत व्यक्ति के साथ वह अपनापा महसूस करते थे और उसके साथ वे स्वयं भी पीड़ा भोगते हैं। यह उनके सच्चे मानववाद का प्रमाण है। 'टोकियों में मजबूरन टूटी हुई एक हड़ताल' और "लियोपोल्डविलमें एक गिरफ्तारी के प्रति"। उनका हृयय उतना ही संवेदनशील है, जितना 'एक हिन्दुस्तानी लड़की' की मजबूरी के प्रति अन्याय को देख कर उनके मन में आदि-विद्रोही स्पार्टकस की याद ताज़ा हो जाती है—प्रगतिशील काव्यधारा में रणजीत ने जो तरुण और सशक्त हस्ताक्षर जोड़ा है, वह अभिनन्दनीय है।" डॉ. प्रकाशचंद्र गुप्त ने तो और भी अधिक ऊर्जवसित स्वर में कहा : 'इधर जब कुछेक तथाकथित क्रांतिकारी लेखक भी कुंठित और आत्मलीन हो रहे हैं, आपकी रणभेरी सुनकर शान्ति का अनुभव हुआ। आपकी विद्रोही प्रेरणा को मेरा नमस्कार। आपके मुक्त छन्द में बल है। भैरव नाद है, आपके शब्द चित्र मार्मिक हैं, आपकी भाषा सरल सहज और लोकमुखी है। जन जन के संघर्षों को आपका स्वर बल देगा।

एक ऐसे तरुण कवि को, जिसे गंभीरतापूर्वक लिखते हुए सात ही साल हुए हों, ऐसी अनुशंसात्मक समीक्षा कैसी लगी होगी, इसकी आप कल्पना कर सकते हैं। अन्य समीक्षकों ने आम तौर पर मेरी दृष्टि और मेरे स्वर को समझ कर ही, सहानुभूति से ही मेरे काव्य की समीक्षा की। ऐसे समीक्षकों में राजीव सक्सेना,

डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ. प्रेमचन्द विजयवर्गीय, प्रो. घनश्याम शलभ, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. नवलकिशोर, डॉ. रमाकांत शर्मा और प्रकाश ग्रातुर का नाम ले सकता हूँ। इनमें से डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ. नवलकिशोर और प्रो. घनश्याम शलभ ने अपनी दृष्टि से मेरी कविताओं की कुछ कमजोरियों की ओर भी ध्यान दिलवाया, पर कुल मिलाकर उनकी समीक्षा धनात्मक और पूर्वाग्रह-मुक्त थी, इसलिए उनकी आलोचनात्मक बातों को मैंने भी ध्यानपूर्वक पढ़ा और सम्भव है चेतन तथा या अचेतनतः उनका मेरे आगामी काव्य सृजन पर प्रभाव भी पड़ा हो।

यह नहीं, कि किसी भी आलोचक ने मेरी रचनाओं की पूर्वाग्रह या द्वेषग्रस्त आलोचना ही नहीं की। यह सौभाग्य भी मुझे मिला, एक साम्यवादी और एक इन्दिरा कांग्रेसी समीक्षक साम्यवादी है नन्दकिशोर नवल और इन्दिरा कांग्रेसी हैं श्रीकांत वर्मा। श्रीकांत वर्मा ने 'आलोचना में मूल्यांकन' शीर्षक देकर मेरे काव्य संकलन 'इतिहास का दर्द' के बारे में जो कुछ लिखा' उससे पहले मैं आश्चर्यचकित रहा। कविता का कोई पढ़ा-लिखा पाठक कविता के बारे में ऐसी गज़ब की नासमझी भी दिखा सकता है, यह बात मेरे ज़ेहन में ही नहीं उतर रही थी। बाद में मैंने अपने आप को इस तरह समझाया कि शायद कविता की दो या ज्यादा अलग अलग दुनियाएं हैं। जैसे मुझे श्रीकांत वर्मा की कविता पसन्द नहीं आती, वैसे उन्हें भी मेरे जैसी कविता पसन्द नहीं आती होगी। पर मैं उनकी कविता पर समीक्षा लिखना ही नहीं चाहूँगा, जबकि उन्होंने मेरी कविता का 'मूल्याकन' करने का दायित्व अपने पर लिया, और पूरा किया।

मेरे शोध प्रबन्ध 'हिन्दी की प्रगतिशील कविता' के प्रति आलोचकों का व्यवहार भी मोटे तौर पर वैसा ही रहा, जैसा मेरी कविता के प्रति। जहाँ श्री मन्मथ नाथ गुप्त, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, अमृतराय, डॉ॰ रामदरश मिश्र, डॉ. मधुरेश आदि ने उस पर सम्यक् टिप्पणियां कीं वहाँ श्री आनन्दप्रकाश ने उसकी अच्छी खिचाई की। लेकिन वह खिचाई उन्होने मूलतः इसलिए की कि वे सी. पी. एम. की साहित्यिक लाइन से मुझे सी.पी.आई. के नजदीक समझ कर मेरी राजनीतिक आलोचना कर रहे थे–मेरे 'उदारतावाद' पर प्रहार कर रहे थे–इसलिए मैं इस आलोचना को गलत तो मानूंगा, पर द्वेषपूर्ण नहीं कहूँगा, इसके पीछे 'सदाशयता' शायद यह है कि मैं तथाकथित सी. पी. आई. लाइन छोड़कर सी. पी. एम लाइन स्वीकर कर लूं। पर एक दूसरे 'प्रगतिशील' आलोचक श्री नन्द किशोर नवल ने तो गज़ब ही कर दिया। न उन्होने विषय को समझा, न मेरे ट्रीटमेंट को। राजस्थान की प्रतिष्ठित' साहित्यिक पत्रिका 'ओर' में लिखते हुए उन्होंने सुना कि मुझे इस पुस्तक के कारण 'सोवियत लैण्ड नेहरू अवार्ड' मिला है, मेरी भूमिका पढ़ी और पिल पड़े

मुझ पर। विशुद्ध ईर्ष्या या द्वेष से प्रेरित समीक्षा का इससे अच्छा उदाहरण मेरे अनुभव में नहीं आया। और मजे की बात यह है कि तब तक न मैंने कभी नन्द किशोर नवल को देखा-जाना, न उन्होंने मुझे। इस द्वेष को वैयक्तिक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यक्ति तो एक दूसरे से परिचित भी नहीं हैं, हां संस्थानिक द्वेष जरूर कहा जा सकता है कि हमारी सी. पी. आई. के द्वारा संचालित, हमारी पितृभूमि द्वारा निर्देशित पुरस्कार तुम्हें कैसे मिल गया-तुम, जिसका पार्टी से कोई सम्बन्ध, पार्टी में कोई स्थान नहीं है। उनके लिए 'हिन्दी की प्रगतिशील कविता' की समीक्षा का मुख्य सवाल यह बन गया कि इसे नेहरू अवार्ड क्यों और कैसे मिला,

उल्लेखों की राजनीति का आपने अच्छा मुद्दा उठाया। कुछ बरस पहले तक जब तक डॉ. नामवरसिंह हावी थे, अवश्य उल्लेखों के पीछे सिर्फ व्यक्तिगत पूर्वाग्रह मैत्री या अमैत्री अधिक होते थे, अब तो सीधी सादी राजनीति है। जनवादियों की अपनी सूची है, प्रगतिवादियों की अपनी और उस सूची में से 'लेखकों' के राजनीतिक व्यवहार के आधार पर दाखिल-खारिज चलता रहता है। पर उल्लेखों की राजनीति में भी ऊंची राजनीति है चुप्पी की। उपेक्षा की। दूसरा नाम ही मत लो। पता नहीं किसके साथ है? अच्छा लिखा होगा, हमारी पत्रिकाओं में तो नहीं छपा-फिर हमें उससे क्या मतलब ?

जैसे हर रचनाकार यह चाहता है कि उसकी रचना प्रकाशित हो-इस ढंग से, ऐसी जगह प्रकाशित हो कि लोगों का उस पर ध्यान जाय, वैसे ही उसकी यह इच्छा भी स्वाभाविक है कि उसे सही समझा जाए-कोई समीक्षक उसकी रचना की गुणवत्ता को पहचाने, विश्लेपित करे-इस चाह में कुछ बेजा नहीं है। पर आलोचक को मूलतः कृति के आधार पर ही समीक्षा करनी चाहिए-चाहे इसे कृतीक्षा कह लें। रचनाकार के उसी व्यक्तित्व से समीक्षक का सम्बन्ध है जो उसकी रचनाओं के आइने में से उभर कर सामने आता है-वह उसके व्यक्तिगत जीवन के गोपन-अगोपन प्रसंगों के चक्कर में पड़ेगा तो उसकी समीक्षा दुराग्रहग्रस्त हो जायगी। केवल अपवादक स्थितियों में जहाँ किसी का पूरा लेखन ही एक छल हो वहां सत्य के उद्घाटन के लिए अवश्य लेखक का व्यक्तिगत जीवन विचारणीय है। परिप्रेक्ष्य परक आलोचना भी यदि सही ढंग से और उसकी सीमाओं के भीतर रहते हुए की जाये तो लेखक को आत्म-विश्लेषण के लिए प्रेरित करती है और उसकी रचनाकार समृद्धि का कारण बन सकती है। पर, पूर्व [illegible]

आलोचना के नाम पर सूरदास से रामचरित मानस लिखने की मांग करने लगे या न लिखने के कारण उसे लताड़ने लगें तो यह आपकी ज्यादती है और खामखा की है। इसलिए परिप्रेक्ष्यपरक समीक्षा बहुत संवेदनशील समीक्षक के ही हाथों का औज़ार है—अनाड़ी उसे लाठी की तरह भांज भी दूसरों का और अपना भी माथा फोड़ सकता है।

समकालीन आलोचकों में से नवलकिशोर को डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय को, डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव को, मधुरेश को गम्भीरतापूर्वक पढ़ने और समझने की कोशिश करता हूँ—इनके दृष्टिकोण से सहमत होऊँ या नहीं, इनकी बात को वज़न देता हूँ।

लेखन और समीक्षा के बीच बिचौलिये कौन ?

—राजेन्द्र प्रसाद सिंह

27 मई 1984 के 'जनसत्ता' में अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'समर शेष है' की एक समीक्षा छपी है, जिसमें 'फिल्मी कलियाँ' नामक पत्रिका का सम्पादन कार्य करने वाले बृजेश्वर मदान एक स्वनामधन्य समीक्षक ने रहस्योद्घाटन किया है कि इलाहाबाद और मिर्जापुर जिले मध्य प्रदेश में हैं न कि उत्तर प्रदेश में। दरअसल 'समर शेष है' उपन्यास की कथा भूमि इलाहाबाद और मिर्जापुर जिले के के आसपास फैली हुई है, लेकिन विद्वान (?) समीक्षक महोदय ने अपनी समीक्षा में लिखा है कि 'इस उपन्यास की पृष्ठ भूमि मध्य-प्रदेश है। और समीक्षक महोदय के अनुसार लेखक ने वहाँ के गांवों-कस्बों का चित्रण अजनबीपन के साथ किया।

अपनी बात मैं इस उदाहरण से इसलिए आरम्भ कर रहा हूँ कि आप हिन्दी में समीक्षा के वर्तमान स्तर से भलीभांति परिचित हो जायें। निश्चित रूप से ऐसी समीक्षाएँ कृति को गम्भीरतापूर्वक पढ़े बगैर ही लिखी जाती हैं।

दरअसल पिछले दस सालों में समीक्षा और मूल्यांकन की जो दुर्दशा हुई है, शायद वैसी दुर्दशा कभी नहीं हुई है। हालांकि डॉ. श्रीमती संतोष संघी की पुस्तक 'पुस्तक समीक्षा का इतिहास' पढ़ कर यह ज्ञात होता है कि पहले कोई अच्छी स्थिति नहीं थी। लेकिन अब तो समीक्षा और मूल्यांकन की सारहीनता का भी कोई चरित्र नहीं रह गया है।

सवाल इस बात का है कि ऐसी समीक्षा क्यों लिखी जा रही हैं? और इन्हें लिखने वाले लोग कौन हैं? अगर यह कहा जाय कि इन समीक्षकों के पीछे एक पूरा का पूरा खेमा है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कुछ वर्ष पहले यही कार्य कमलेश्वर किया करते थे। कमलेश्वर का पूरा खेमा इस समय कहाँ है यह हिन्दी साहित्य में लोगों के सामने आज भी सवाल के रूप में खड़ा है? हिन्दी के वर्तमान समीक्षकों को हम निहायत सरलीकृत ढंग से निम्नलिखित कोटियों में रख सकते हैं—

(1) ऐसे नवयुवक जो विश्वविद्यालय के छात्र हैं अथवा रह चुके हैं और आर्थिक तंगी से गुज़र रहे हैं। ये लोग अपने खाली वक्त में समीक्षा का काम ढूंढते रहते हैं और कुछ सम्पादकों की कृपा से इन्हें यह काम उपलब्ध हो जाता है।

(2) ऐसे अध्येता जो पुस्तक खरीदना नही चाहते और पढ़ना चाहते हैं। ये लोग समीक्षा के नाम पर ढेर सारी पुस्तकें और धन बटोर लेते हैं।

(3) ऐसे लोग, जिनके कुछ मित्र सौभाग्यवश पत्र-पत्रिकाओं में भी कार्य रत हैं।
ये लोग प्रायः उन्हीं मित्रों या मित्रों के मित्रों का गुणगान करने के लिए समीक्षाएँ लिखते हैं।

(4) ऐसे रचनाकार, जो अपने वर्गीय रचनाकारों को चर्चित और स्थापित करने का सुख लूटना चाहते हैं।
ये लोग जब समीक्षात्मक लेख लिखेंगे तो अपने ग्रुप के लोगों की चर्चा और प्रशंसा करेंगे, अन्य लेखक इनकी दृष्टि में या तो लेखक ही नहीं है या उनकी चर्चा करना उन्हें फिजूल लगता है।

यह तो समीक्षा के उदाहरण का मात्र एक खाका हुआ। अगर बारीकी से विचार किया जाय तो सम्भव है और भी कोटियों के समीक्षक प्रकाश में आएँ।

ऐसी समीक्षाओं का एक उदाहरण पिछले दिनों देखने को मिला। जिसका रेखांकन यहाँ जरूरी है। पिछले दिनों 'रविवार' में एक लेखमाला प्रकाशित हुई थी : (अफ़सोस है आज तक कविता पर उक्त पत्रिका ने कोई लेखमाला नहीं प्रकाशित की) 'समकालीन कहानी का सफ़र'। लेखक थे श्री बलराम। (जिनकी नियति है बदनाम हुए तो क्या, नाम तो हुआ) इस लिए उनके नाम के आगे मैं 'सारिका' का उप-सम्पादक या अमुक पुरस्कार-प्राप्त आदि विशेषण नही जोड़ रहा हूँ। दरअस्ल वह लेखमाला कई कहानी-संग्रहों की समीक्षाओं के रूप में तैयार की गयी थी और उसी बहाने से समकालीन कहानी के मूल्यांकन की चेष्टा की गई थी। हालांकि समकालीन कहानी को लेकर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर अनेक फुटकर लेख प्रकाशित होते रहे हैं, लेकिन श्री बलराम का कार्य इसलिए बड़ा था कि उन्होने एक बड़ी लेखमाला लिखी थी।

इस लेखमाला का जो प्रमुख निष्कर्ष था वह यह था कि समकालीन कथा साहित्य को (स्वयं बलराम के अलावा) निम्नलिखित कथाकारों ने ही नयी दिशा दी हैं :

धीरेन्द्र अस्थाना, राजकुमार गौतम, केशव, मनीपराय, नरेन्द्र मौर्य, शिव मूर्ति और संजीव।

इनके अलावा अन्य जितने भी कथाकार हैं–वे चाहे भीष्म साहनी, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित या ज्ञानरञ्जन हों चाहे–कोई और 'उनकी कहानी अच्छी तो हैं पर वो बात नहीं है, जो इनमे (अर्थात् उपर्युक्त लेखकों में) हैं।

अब आप जरा संजीव और शिवमूर्ति को उक्त सूची में से निकाल कर देखिए और अनुमान लगाइए कि इन महानुभावों ने (बगैर किसी बात नामवरसिंह को गाली देने के सिवाय) हिन्दी कथा साहित्य को कौन सी दिशा दी है। संजीव और शिवमूर्ति के बारे में कहा जाता है कि ये दोनों ग्लैमर के दीवाने होकर कुछ तथा-कथित लोगों के साथ मिलकर अपनी संघर्षशील रचनाधर्मिता को समाप्त कर रहे हैं। लोगों को अफसोस होता है कि कहीं इनका भी हश्र वही न हो जाय जो कमलेश्वर के साथ के लोगों का हो गया। इन दो रचनाकारों को कम से कम अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बना लेना चाहिए।

इस पूरे कालखंड में कई ऐसे कथाकार भी उभर कर आये जिनकी रचनात्मक क्षमता काफी तीव्र और प्रखर दिखायी पड़ती है। जबकि अनेक महत्त्वपूर्ण कारणों से उनकी वैसी चर्चा नहीं हो सकी जैसी होनी चाहिए थी।

पिछले दिनों 'लहर' पत्रिका से किन्हीं अवधेश श्रीवास्तव जी की समकालीन कहानी पर टिप्पणी छपी थी जिसमें कहानी का विवेचन तो कहीं नजर नहीं आया हां कुछ लोगों के नामों की एक लम्बी सूची जरूर नजर आयी, जिसके बारे में यह कहना कठिन है कि ऐसी सूच्यात्मक आलोचना की जरूरत क्यों पड़ती है और ऐसी सूचियाँ किस आधार पर तैयार की जाती हैं?

ठीक इसी तरह 'अभिप्राय' (इलाहाबाद) के एक अङ्क में श्री चंचल चौहान जी का समकालीन कहानी को लेकर जो लेख छपा उसमें सिर्फ साल भर पहले आरम्भ हुयी 'कथन' नामक पत्रिका में प्रकाशित कहानियों के आधार पर ही सम्पूर्ण समकालीन कहानी का विवेचन कर दिया गया था।

ये तो कुछेक नमूने हैं। अगर आप गौर करेंगे तो शायद ही कोई खास खाली नजर आये। यह सभी बातें सिर्फ हिन्दी कथा साहित्य पर ही लागू नहीं होती हैं बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य पर लागू होती हैं। किसी विधा का कोई भी लेखक हो उसे ऐसी कितनी ही प्रतिक्रियावादी समीक्षाओं को झेलना पड़ रहा है। क्योंकि हिन्दी के जो बड़े समीक्षक हैं वे छोटे रचनाकारों पर लिखना नहीं चाहते और जो छोटे (विशेष रूप से छोटे) रचनाकार हैं वे कमलेश्वरनुमा अपना खेमा बनाने में ही इतने व्यस्त हैं कि लेखन उनके लिए कोई महत्त्व ही नहीं रखता। वे बगैर कुछ लिखे ही महान हो जाना चाहते हैं। इस महानता की निशानी ऊपर दिए गए

समीक्षा के कुछ उदाहरण हैं। हम लेखक मित्रों को जान लेना चाहिए कि ऐसी समीक्षा से संघर्परत लेखकों का तो कुछ नहीं बिगड़ेगा लेकिन हिन्दी साहित्य का भविष्य दिन-ब-दिन खराब होता जायगा। और अच्छे और बड़े समीक्षकों के लिए समीक्षा लेखन के लिए एक दीवार खड़ी हो जायगी। क्योंकि हिन्दी साहित्य में समीक्षा लिखवाने वाले जो बिचौलिए हैं, वे जो कुछ कर रहे हैं बहुत ही घातक हैं।

अतः अब, जबकि सन् 70 और 84 के बीच हिन्दी लेखन ने अपने विशेष स्वर को प्रायः स्थापित कर लिया है, इस बात की बेहद जरूरत है कि समकालीन लेखन पर गम्भीरतापूर्वक सम्यक् विवेचन हो—पूर्वाग्रह और गुटबन्दी की दलदल से ऊपर उठकर, सिर्फ रचना के स्तर पर।

मैंने यह लेख इसी उद्देश्य के तहत शुरू किया ताकि इसकी आगामी लड़ियों में पिछले पन्द्रह वर्षों के हिन्दी लेखन पर एक ऐसी बहस हो जिसमें साहित्यिक और समीक्षा के अन्तः सम्बन्ध का सही रूप उभर सके। तथा समकालीन लेखन के वर्तमान चरित्र और उसकी विकासशील परम्परा की यथासाध्य युक्ति-युक्त समीक्षा हो।

समकालीन साहित्य और उसके मूल्यांकन का जो अन्तरसम्बन्ध है वह मात्र चन्द रचनाकारों और उनकी चन्द रचनाओं को श्रेष्ठ घोषित करने तक ही सीमित रह गया है, जरूरत इस बात की है कि साहित्य में पिछले दिनों में जो बदलाव आया है, साथ ही उसकी प्रभावान्विति में जो क्रमशः गिरावट आयी है तथा साहित्य का जो स्तर गिरता चला गया है, उसका कारण सहित विवेचन किया जाय। रचनाओं के विविध विशेषज्ञों के साथ जोड़कर देखने की जो पुरानी परिपाटी रही है, मसलन् ग्रामीण जीवन की रचनाएं, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की रचनाएं, जनवादी तेवर की रचनाएं, प्रगतिशील विचारों की रचनाएं, रोमैन्टिक रचना मसलन् फूल, पत्ती, पेड़ चिड़िया आदि...आदि—(नामवरसिंह के अनुसार इसी में क्रांति भी) ऐसी स्थिति में यह विचार करना बेहद जरूरी लगता है कि किस प्रकार हिन्दी साहित्य अपने विविध रूपों में भी अपना ऐकिक स्वरूप बनाए रख सकने में सफल हैं अथवा असफल है?

इन तमाम सवालों से जूझते हुए समकालीन साहित्य को उसके पूरे परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न होना चाहिए। और यह प्रयत्न इस तरह होना चाहिए कि हिन्दी समीक्षा के बिचौलिए समाप्त हों, हिन्दी समीक्षा के स्वास्थ्य में भी थोड़ा थोड़ा सुधार हो और साहित्य का मिजाज भी कुछ ठीक हो।

मेरी आलोचना—विभिन्न सरोकारों की जैविक दृष्टि

—डॉ० वीरेन्द्रसिंह

अपने आलोचना-कर्म के बारे में पूर्णरूप से तटस्थ होकर कहना शायद एक कठिन एवं दुष्कर कार्य है, फिर भी मैं आत्ममूल्यांकन के दौरान अधिक से अधिक तटस्थ होने का प्रयत्न करूंगा, केवल अपने ही बारे में नहीं, पर अन्य आलोचकों एवं पद्धतियों के बारे में भी। समकालीन आलोचना का परिदृश्य इतना व्यापक है कि अपने को तथा अन्य आलोचक बन्धुओं को ठीक स्थान पर लोकेट करना भी एक अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है। इस 'अन्तर्दृष्टि' की आवश्यकता इसलिए भी है कि आज आलोचना के क्षेत्र में 'विवादों एवं प्रतिवादों' एक ऐसा 'द्वन्द्व' है जिसमें से तटस्थ रूप से गुजर कर कुछ 'सार' ग्रहण करना-शायद अन्तर्दृष्टि की अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में मैं अपने से ही बात आरम्भ करूंगा क्योंकि इसी बिन्दु से मैं समकालीन आलोचना को भी ले सकूंगा तथा आलोचकों की मनोवृत्तियों तथा अभिव्यक्तियों को भी यदा कदा रेखांकित करूंगा। मैं लगातार 20-25 वर्षों से आलोचनात्मक-लेखन कर रहा हूँ और साथ ही साहित्येतर अनुशासनों में भी लिखता और पढ़ता रहा हूँ। इसका फल यह हुआ कि मैंने साहित्य जो एक सशक्त अनुशासन एवं जन माध्यम है, उसे 'ज्ञान-संवेदन' के विविध आयामों से विवेचित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से, मैंने कविता को ही अपना विषय बनाया और उसके अन्तर-अनुशासनीय रूप को, राग और संवेदना के धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अतः मेरे लिए कोई भी विचारधारा या दर्शन 'कटघरे' से आगे की वस्तु है—वह असल में, 'विचार' की गत्यात्मकता को रेखांकित करती और उसे सामाजिक वैयक्तिक और ब्रह्मांडीय सरोकारों से जोड़ने का प्रयत्न करती है। इस दृष्टि से, यथार्थ का रूप एकांगी नहीं होता। 'वह' न मात्र सामाजिक होता है, न वैयक्तिक, न मात्र आंतरिक होता है, न मात्र बाह्य, न वह मात्र ज्ञानात्मक होता है और न संवेदनात्मक पर यथार्थ मूलतः एक द्वन्द्वात्मक एवं बहु-आयामी प्रत्यय है। समकालीन आलोचना में यह 'द्वन्द्व' प्राप्त होता है, पर इसके

साथ यह भी सत्य है कि यथार्थवादी आलोचना का सामान्यतः यही अर्थ लिया जाता है, कि वह सामाजिक यथार्थ पर ही 'कृति' को मूल्यांकित करे–इससे बाहर की वस्तुओं से उसे क्या लेना देना ? यह प्रवृत्ति आज के अनेक आलोचकों में देखी जा सकती हैं। डॉ. शिवकुमार मिश्र जैसे मार्क्सवादी आलोचक (और भी अनेक) कबीर, तुलसी तथा निराला को इसलिए महत्त्व देते हैं कि उनमें यदा कदा वे तत्त्व मिल जाते हैं, जो उनके काम के हैं, और उन तत्त्वों को नकार दिया जाता है जो उनके 'फ्रेमवर्क' में नहीं आते हैं (जैसे रहस्य, वैयक्तिकता, तांत्रिक प्रभाव, प्रेम, और भक्ति) इस प्रकार की आलोचना एकांगी ही रही जाएगी क्योंकि वह यथार्थ के एक पक्ष को ही नजर में रख रही है जबकि सत्य यह है कि इन कवियों में दूसरा पक्ष भी उतना ही प्रबल है जितना पहला। क्या इस प्रकार की एकांगी आलोचना कवि के समग्र-भाव बोध के प्रति न्याय कर सकेगी ? इसी सन्दर्भ में आलोचकों का एक वर्ग ऐसा है जो यथार्थ के इस बहुआयामी पक्ष को अपने 'फ्रेमवर्क' में लाने का प्रयत्न कर रहे हैं–वे क्रमशः यह समझ रहे हैं कि यथार्थवादी आलोचना मात्र वास्तुपरक ही नहीं है पर वह 'आंतरिकता' को भी ग्रहण करती है। डॉ. राम विलास शर्मा, डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, डॉ. मेघ तथा नन्द किशोर नवल आदि कुछ ऐसे आलोचक हैं जो सामाजिकता के बहुआयामी पक्षों और साथ ही 'आंतरिकता' को उससे सम्बन्धित कर रहे है और दूसरी ओर ये आलोचक परम्परा को उसकी गतिशीलता में पुर्नमूल्यांकित कर रहे हैं। उपाध्याय जी का नया उपन्यास 'जाग मछंदर गोरख आया' में इस परम्परा को नया आयाम दिया गया है जो मार्क्सवादी 'गुरुओं' की जकड़न को तोड़ने का एक सांकेतिक प्रयास है। इसी प्रकार डॉ.रामविलास शर्मा तथा डॉ.नन्दकिशोर नवल में तुलसी, जायसी तथा निराला के प्रति एक जैविक दृष्टि है जो वादों या मतों का 'मंथन' करते हुए आलोचना की द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति को रेखांकित करती है। इसी सन्दर्भ में, यह भी ध्यान देने योग्य है कि यथार्थ के किसी न किसी पक्ष को शैलीवैज्ञानिक, भाषिक और मिथकीय विवेचना अवश्य उद्घाटित करती है, पर इनकी अपनी सीमाएं हैं। यह अवश्य है कि वैचारिक द्वन्द्व की आलोचना में इनका स्थान अवश्य है जहां तक वे 'कृति' की सही पहचान में सहायक हो सके।

डॉ. सुमन राजे ने मेरी आलोचना को 'वाद मुक्त' कहा है (प्रतिशीर्षक जून 1984) पर मैं वाद मुक्त पूर्णरुपेण नहीं हूं। और शायद कोई भी आलोचक हो ही नहीं सकता, हाँ यह अवश्य है कि मैं 'वादबद्ध' आलोचक नहीं हूँ, पर इसका

यह भी अर्थ नहीं कि वादों या विचारधाराओं से मैं परहेज करता हूँ। आलोचक-कर्म एक वैचारिक द्वन्द्व की प्रक्रिया है और उसमें 'विचार की जैविकता' अपेक्षित है। इसी से मेरी आलोचना मिथक, यथार्थ, व्यक्ति, इतिहास, विज्ञान, दर्शन, मार्क्सवाद सभी को उचित स्थान देने का प्रयत्न करती है। इसी का फल है कि जहाँ एक ओर आज की कविता को मैंने 'विज्ञान बोध' के परिपेक्ष्य में विवेचित करने का प्रयत्न किया है, वहीं उसके मिथकीय, जनवादी एवं ऐतिहासिक परिपेक्ष्य को भी स्वीकार किया है। इस दृष्टि से मेरी अच्छी पुस्तक 'मुक्तिबोध-काव्य बोध का नया परिपेक्ष्य' है जिसमें उपर्युक्त 'वैचारिक जैविकता' प्राप्त होती है। 'आधुनिक कविता–नए संदर्भ' तथा 'बिम्बों से झांकता कवि-शमशेर' में भी यही 'दृष्टि' अपनायी गयी है। डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल तथा डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने विज्ञान-बोध से सम्बन्धित मेरी आलोचना को 'आदर्शमूलक' अधिक कहा है जो एक सीमा तक सही है, पर यह भी सही है कि विज्ञान-दर्शन का क्षेत्र यथार्थ और आदर्श दोनों ओर गतिशील है केवल एक ही पक्ष एकांगी है और दोनों की द्वन्द्वात्मक संगति अपेक्षित है। अतः, आलोचना मेरे लिए एक 'वैचारिक सृजन' है, मात्र बौद्धिक 'जार्गन' नहीं जो आज के अनेक आलोचकों में देखा जा सकता है। इस वैचारिक सृजन में विश्लेषण एवं संश्लेषण अपेक्षित है, और वह भी संवेदना के धरातल पर।

मेरे लिए आलोचना उखाड़ पछाड़ का विषय नहीं है जो आज की आलोचना में प्रायः देखा जाता है। स्वस्थ विरोध 'विचार' को गति देता है, और पूर्वाग्रही विरोध, विचार और 'दृष्टि' को खण्डित और सीमित करता है, दूसरे शब्दों में यथार्थ की 'पहचान' में बाधक होता है। यहाँ पर मैं कहना चाहूँगा कि डॉ. नामवर सिंह या अज्ञेय या निर्मल वर्मा का बहुत कुछ विरोध इसी पूर्वाग्रह के आधार पर किया गया है, मात्र मार्क्सवादी औज़ारों को लेकर। यह सही है कि इनमें प्रतिगामिता के तत्त्व हैं, पर सब कुछ को हम प्रतिगामी या शुद्ध कलावादी कह कर उसे बहिष्कृत कर दें यह कहाँ तक उचित है? इनमें जो 'स्थापत्य' का गुण है, रिफाइनमेंट' है, एक गहरी अनुभूति है (चाहे वह व्यक्तिपरक अधिक हो) ये सभी तत्त्व सार्वकालिक हैं, इन्हें स्वीकार न करना आलोचना के सृजनात्मक स्वरूप के प्रति अन्याय करना है। अतः आवश्यक है आलोचना की वह परम्परा, जिसे आचार्य शुक्ल या हजारी प्रसाद द्विवेदी या रामविलास शर्मा ने प्रारम्भ किया। क्योंकि इनके पास एक 'मूल्य-दृष्टि' है जो गहन अन्तर् अनुशासकीय अध्ययन एवं परिवेशजन्य निरीक्षण से उद्भूत हुई है। यह एक सत्य है कि बिना इस 'मूल्य-दृष्टि' के कोई भी

आलोचना मानवीय सरोकारों को ग्रहण नहीं कर सकती है, वह धरातल का स्पर्श कर निकल जाएगी।

इसी सन्दर्भ में प्रतिबद्धता का प्रश्न भी आता है। मेरा यह मानना है कि आलोचना की प्रतिबद्धता दो स्तरों पर होती है—एक कृति की जैविकता पर और दूसरे, उसकी वैचारिक एवं संवेदनात्मक सामाजिक प्रतिबद्धता पर। मेरी आलोचना मूलतः ऐसी ही प्रतिबद्धता को पकड़ने का प्रयत्न करती है, पर अभी तक मैं उस 'दृष्टि' से सम्पन्न नहीं हुआ हूँ जो इस प्रतिबद्धता को सही एवं व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान कर सके। कह नहीं सकता कि इसमें मैं कहाँ तक सफल होऊंगा?

रचना और आलोचना

—राजीव सक्सेना

मैं चालीस वर्षों से कविता लिख रहा हूँ। प्रारम्भ छायावादी कविता से शुरू किया था। बाद में मुझे हर बार नये शिल्प और भाषागत उन्मेष में अधिक आनन्द आने लगा और मैं सन्तुष्ट हूँ कि मुझको हर नयी पीढ़ी ने अपना साथी माना और आलोचकों की नयी पीढ़ी ने मुझे नया रचनाकार बताया। चूँकि मैंने कविता बहुत नहीं लिखी, इसलिए आलोचकों ने उपेक्षा की तो मुझे कोई खास शिकायत नहीं। मुझे अपने समय की रचनाधारा को प्रभावित करने में जितना आनन्द आता है, उतनी शायद अपनी प्रशंसा सुनकर नहीं। इस क्रम में मैंने लेख भी लिखे, आलोचना भी लिखी, लेकिन उनको शायद आलोचना की श्रेणी में रखना उचित नहीं है। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी समीक्षाओं से अनेक नये रचनाकारों का उत्साह वर्द्धन हुआ है। इससे स्पष्ट है कि रचना के लिए उसकी आलोचना, सराहना और परीक्षा भी आवश्यक है। आलोचना बाधक हो सकती है, अगर वह अपने को कुछ बड़े नामों तक सीमित रखती है और नयी रचनाओं तथा नये रचनाकारों पर मौन साध लेती है। प्रस्थापित रचनाकारों पर बड़े-बड़े शोध ग्रन्थ लिखे जायेंगे, किन्तु अपने समय में रचना को नयी दिशा देने का काम नये रचनाकारों के कृतित्व का अध्ययन कर पाठकों का ध्यानाकर्षण करते हुए ही सम्भव है। अक्सर बड़े आलोचक यह काम करने से इन्कार करते हैं और साहित्य की प्रगति में बाधक बन जाते हैं। ऐसे आलोचकों को अपने विरुद्ध विद्रोह सहना पड़ता है।

2. जहाँ तक मेरी अपनी रचनाओं की समीक्षा का प्रश्न है। मेरा ख्याल है कि मेरे उपन्यास 'पणिपुनी सोमा' के मूल्यांकन में स्वर्गीय डॉ. भगवतशरण उपाध्याय तथा डॉ. नत्यनसिंह ने काफी न्याय किया। डॉ. उपाध्याय उसके अनेक पहलुओं से सहमत नहीं थे, किन्तु इस मतभेदवश उन्होंने उसके कलात्मक पक्ष की सराहना से मुँह नहीं मोड़ा। और भी समीक्षायें प्रकाशित हुईं, किन्तु यही दो

दो समीक्षायें प्रकाशित होतीं, तब भी मैं सन्तुष्ट होता क्योंकि वे विषय के यथायोग्य ग्रालोचक हैं। मेरी कविताओं की आलोचना शायद सन्तोषजनक नहीं हुई। अजित कुमार और विष्णु खरे ने सही मूल्यांकन किया है। शेष प्रतिष्ठित समीक्षक मौन ही रहे। इधर नया कविता संग्रह 'कविता-कवितान्तर' हमारे गणमान्य आलोचकों का ध्यान आकर्षित कर रहा है, वह मेरे लिए हर्ष की बात है।

3. रचनाकार की यह चाह स्वाभाविक है कि उसको आलोचक भी मिले। हर लेखक 'महान्' रचनाकार बनने की चाह लेकर साहित्य क्षेत्र मे पदार्पण करता है। इस 'महानता' को स्वीकार करने वाला कोई व्यक्ति मिले और वह साहित्य का पण्डित भी हो, तो रचनाकार के लिए इससे बड़े आनन्द और गौरव की कोई बात नहीं है। किन्तु आलोचक का काम रचनाकार का उत्साहवर्द्धन मात्र नहीं है। उसे कृति का सन्तुलन मूल्यांकन करते हुए साहित्य सम्बन्धी कुछ तत्वों के उद्‌घाटन का काम भी करना चाहिए ताकि पाठकों के अतिरिक्त अन्य रचनाकार भी उससे कुछ सीख सके। कृति का महत्व या महत्वहीनता रेखांकित करने के लिए उसके उचित परिप्रेक्ष्य में भी रखना पड़ता है जो रचनाकारों और पाठकों दोनों के लिए समान महत्व का तत्व है। इसलिए यह कहना सही होगा कि समीक्षा, कृतीक्षा या परिप्रेक्ष्यपरक आलोचना ये सब कार्य आवश्यक हैं।

4. नामोल्लेखों की अपनी 'राजनीति' आवश्यक है (राजनीति शब्द यहाँ अंग्रेजी के 'पालिटिक्स' शब्द के भाषान्तर के रूप में नहीं है, 'पालिटिकिंग' के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है) उतनी ही उल्लेख न करने की 'राजनीति' भी महत्वपूर्ण है। इसको आलोचक और रचनाकार भी जब मात्र अपने गुट को बढाने की दृष्टि से करता है (संख्या की दृष्टि से और प्रस्थापना की दृष्टि से भी) तब उद्देश्य कोई शुभ नहीं है। जब इस प्रकार दृष्टिकोण सम्बन्धी समानता या एक विशेष वैचारिक तथा कलापरक 'स्कूल' को रेखांकित किया जाता है, तो वह स्वागत योग्य है। इसके विपरीत, उक्त 'राजनीति' सिद्धान्तहीन और अवसरवादी हो सकती है जो अवश्य ही निन्दनीय है और अक्सर कारगर सिद्ध नहीं होगी। मतवाद या महानता पर आधारित लेखकीय 'राजनीति' का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि कला का विकास मतवाद की सीमाएं तोड़े बिना सम्भव नहीं। विचारधारा में एकात्मकता होते हुए भी कला-रूपों की भिन्नता से साहित्य का विकास होता है।

5. रचनाकार और आलोचक में द्वेष आवश्यक नहीं है, मगर द्वन्द्व अनिवार्य है। इन दोनों में घात-प्रतिघात की प्रक्रिया के बाद ही एक संश्लेषित दृष्टि उत्पन्न होती है। कोई आवश्यक नहीं है कि एक समय विशेष में दोनों एक समान स्तर पर

हों। अक्सर रचना और आलोचना पुरानी रूढ़ि तोड़ने के बाद अपनी ही रूढ़ि से ग्रस्त हो जाती है और तब घात-प्रतिघात से, क्रिया-प्रक्रिया से, द्वन्द्वात्मक संघर्ष से, यह रूढ़ि तोड़नी पड़ती है। स्मरण कीजिए रामचन्द्र शुक्ल को जिन्होंने रीति शास्त्रीय आलोचना की रूढ़ि को तोड़कर आलोचना को समाज-कल्याण-परक परिप्रेक्ष्य दिया, किन्तु छायावाद के उदय को वह स्वीकार नहीं कर सके। इस द्वन्द्व में नयी समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ जिसमें भावलोक पर बल दिया गया और छायावाद की समुचित समीक्षा और सराहना का द्वार खुल गया। आलोचना का विकास रचना और आलोचना के द्वन्द्व से तीव्र होता है। इस द्वन्द्व में द्वेष-भावना एक विकृति है जो वास्तव में बाधक होती है। अतः यह द्वन्द्व इसी समझ के साथ मैत्रीपूर्ण हो तो रचना और आलोचना दोनों का उससे लाभ हो सकता है।

यह ठीक है कि किसी उत्कृष्ट कृति का उचित मूल्यांकन नहीं किया गया तो यह आलोचकों की असफलता है और किसी अनुत्कृष्ट रचना को उत्कृष्ठ सिद्ध कर प्रसिद्धि दी गयी है तो इसको आलोचक की अधमता तो नहीं कहूंगा, एक समय विशेष की विडम्बना कहूंगा और आवश्यक सामाजिक और सौन्दर्य शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन करने पर बल दूंगा। उदाहरण के लिए, मुक्तिबोध के कृतित्व को उनके जीवनकाल में उचित सम्मान नहीं मिला और निधन के बाद प्राप्त हुआ। इसका उनकी जीवित या मृतक अवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं था। आलोचक अधम भी नहीं थे बड़े नेक नीयत थे, और किसी हद तक उनके मित्र भी थे। विडम्बना थी उस समय विशेष की जिसमें शोषित-पीड़ित जनता के महत्व पर ठीक ही बल दिया जा रहा था, मगर साहित्य में उसको यांत्रिक रूप से लागू किया जा रहा था। इस समझ को 'नयी कविता' आन्दोलन के द्वन्द्व ने धूल-धूसरित कर दिया है और नयी पीढ़ी ने आकर मुक्तिबोध के महत्व को रेखांकित किया। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि छठवें दशक तक साहित्यालोचन के एक काल विशेष में एक आलोचक विशेष का प्राधान्य रहा है। यह रूढ़ि सातवें दशक में टूटी और आज किसी एक आलोचक की इजारेदारी नहीं कि वह किसी रचना को उत्कृष्ट या अनुत्कृष्ट कहें तो सर्वमान्य हो। साहित्य के लिए यह बड़ा शुभ है।

आज विचार वैभिन्नय के बावजूद जिन समीक्षकों और आलोचकों को मैं सुनना या पढ़ना पसन्द करूंगा, वे हैं डॉ. नामवरसिंह, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ. रमेश कुन्तल मेघ, शिवकुमार मिश्र, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, डॉ. कमला प्रसाद, डॉ. धनंजय वर्मा, डॉ. नन्दकिशोर नवल आदि। डॉ. रामविलास शर्मा को सुनना या पढ़ना सदा बड़ा प्रिय लगा है मगर अब उन्होंने समसामयिक साहित्य पर पढ़ना लिखना लगभग बन्द कर दिया है। पिछड़ी पीढ़ी के कृतित्व और हिन्दी प्रदेश के नवजागरण में साहित्य के योगदान पर उनकी रचनाओं को अवश्य पढ़ा जाना चाहिए, यह याद रखते हुए कि इस नवजागरण में उर्दू लेखन का बड़ा योगदान है जिसका उल्लेख उनकी कृतियों में नहीं मिलता।

आलोचना की यात्रा

—डॉ० प्रेमशंकर

आत्मालोचन हर व्यक्ति के लिए आवश्यक है, क्योंकि इसी माध्यम से हम विकास की सही दिशा में आगे बढ़ते हुए, अपने गन्तव्य पर पहुँच सकते हैं। आत्मालोचन की, मार्क्सवाद में तो महत्त्वपूर्ण भूमिका है ही, टी. एस. इलियट भी उसे प्रकारान्तर से स्वीकार करते हैं जब रचना की वृहत्तर ऊंचाईयों पर जाने के लिए वे 'आत्मानुशासन' की बात करते हैं, भारतीय 'काव्यानुशासन' की तरह। यहीं एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि रचना-सार्थक रचना जानती है कि वह किन प्रेरणाओं से सृजन में नियोजित हुई है—जीवन को प्रक्षेपित करने के लिए, जीवन, जिसमें वह भी एक 'सामाजिक' की तरह सम्मिलित है। पर इस प्रस्थानबिंदु की सामान्य स्वीकृति के बाद दिशाएं अलग-अलग हो जाती हैं। धर्म विभिन्न सरणियों से होकर किसी एक आध्यात्मिक बिन्दु पर पहुंचने का प्रयत्न करता रहा है, जो 'पुरोहितवाद' के दबाव में बार-बार लड़खड़ाया है। पर रचना, कई बार प्रस्थान-बिन्दु के समान होते हुए भी, अपने दृष्टि-भेद के कारण अलग-अलग गन्तव्यों पर पहुंचती है। और आज हम उस दौर से गुजर रहे हैं जब रचना के पुराने, प्रचलित सौन्दर्यशास्त्र को सिर्फ चुनौती नहीं दी गई है, बल्कि उसे अपने समय के लिए अक्षम मानकर नये सौन्दर्यशास्त्र की बात की जा रही है, जिसमें समाजशास्त्र की अहमियत भरपूर स्वीकार की गई है। गजानन माधव मुक्तिबोध ने इस दिशा में कुछ विचारोत्तेजक सूत्र हमें दिए हैं, जिन्हें आरम्भिक प्रस्थान समझकर हम बढ़ सकते हैं, बढ़े भी हैं।

हिन्दी में कठिनाई यह है कि रचना और आलोचना को अलग-अलग इकाई माना गया, इसीलिए उनमें कोई सही संवाद विकसित नहीं हो सका। जबकि सचाई यह है कि जो मांग हम रचना-सार्थक रचना से करते हैं, वही कमोबेश रूप में हमें आलोचना से भी करनी चाहिए। हिन्दी में आलोचना की वयस्कता कुछ देर से आई और जैसे कथासाहित्य में प्रेमचंद ने कथा को जीवन साक्षात्कार के

रूप में स्वीकार किया, उसी प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पहले आलोचक हैं जिन्होंने आलोचना को उसकी प्रभाववादी भूमि से बाहर निकाला, जिसमें भावात्मक विश्लेषण भर होता था। आचार्य शुक्ल ने जब 'काव्य में लोकमंगल' पर बल दिया तब वे रचना की लोकवादी भूमि का आग्रह तो करते ही हैं, आलोचक से भी यह मांग करते हैं कि वह सही दिशा में अग्रसर होने में रचना की सहायता करे। कभी कहा गया था कि आचार्य शुक्ल ने, अपने समय में स्वच्छन्दतावाद: छायावाद को अपनी सहानुभूति नहीं दी। पर उन्होंने अपनी समीक्षा के लिए जो लोकवादी प्रतिमान बताऐ थे, और जिस आधार पर उन्होंने तुलसी को सर्वोपरि घोषित किया था, उसे देखते हुए उनकी टिप्पणियां अधिक असंगत नहीं लगतीं। पर एक अन्तर्विरोध है कि यदि जीवनानुभूति के वैविध्य की कमी के कारण आचार्य जी छायावाद के किन्हीं पक्षों पर तीखी टिप्पणी करते हैं, तो फिर उन्हें लोकतत्व से सम्पन्न संतसाहित्य को स्वीकृति देनी चाहिए थी। पर इसकी 'क्रान्तिधर्मिता' को स्वीकारते हुए भी उसे वे कला और अभिव्यक्ति के स्तर पर महान रचना नहीं मानते। ऐसा क्यों हुआ? मेरा विचार है कि आचार्य शुक्ल रचना की लोकधर्मिता के साथ, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति का भी आग्रह करते हैं। उनका एक विरोध रचना को मनोरंजन स्वीकारने वालों से है, तो दूसरा उनसे भी जो उसे 'कलाकृति' नहीं मानना चाहते। ध्यान से देखें तो आचार्य शुक्ल ने रचना को सामाजिक संदर्भों में देखा-परखा, उसके समाजशास्त्र का संकेत किया और उसके कलारूप की बात की, उसका सौंदर्यशास्त्र तलाशा। उसके लिए वे पश्चिम और भारत दोनों के साहित्यशास्त्रियों के पास गए। पर उनकी आलोचना का चरित्र देशज है।

आलोचना एक कठिन कर्म है, विशेषतया इस संक्रमणकाल में जबकि स्थितियां स्पष्ट नहीं हैं। कभी कहा गया था कि असफल कवि आलोचक हो जाता है। सही आलोचक न पाकर पश्चिम के रोमांटिक कवियों ने 'पोयट्स डिफेन्स' के रूप में अपनी काव्य-कृतियों की लम्बी भूमिकाएं लिखीं। 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका आई और शेली द्वारा भावुक भाषा में 'कवि को बेताज का बादशाह' तक कहा गया। आधुनिकता के दौर में कवि अपना समीक्षक बना पर अधिक बौद्धिक-तार्किक ढंग से। यह बात की गई कि रचना और समीक्षा को एक साथ लेकर चलने की अपनी कठिनाइयां हैं। पर समर्थ रचनाकार वे विचारसूत्र हमें देते हैं, जो हमारे लिए किसी लम्बी यात्रा की शुरुआत बन सकते हैं। प्रेमचन्द का प्रगतिशील लेखक संघ में भाषण अथवा निराला की 'परिमल' की भूमिका हिन्दी में इसके उदाहरण हैं। इस दिशा में पंत के 'पल्लव' की भूमिका हिन्दी स्वच्छन्दतावाद के घोषणापत्र के

रूप में स्वीकार की गई है। रचनाकार अपना मन्तव्य प्रकाशित करते हुए, जिस
आत्मालोचन से गुजरते हैं, उसे कोई समीक्षाशास्त्र बनाने के प्रयत्न रूप में नहीं
देखना चाहिए, बल्कि इससे उनकी विचारणा के संकेत मिलते हैं। यही उनकी
सीमा भी है।

अपने विषय मे लम्बे-चौड़े दावे करना खोखला अहंकार हो सकता है।
काशी में जब विद्यार्थी के रूप मे लेखन की शुरुआत हुई तो कई धाराएं एक साथ
टकरा रही थीं। साहित्यशास्त्र के समर्थक थे, जो उस पंडितनगरी में बार-बार
भारतीय परम्परा की दुहाई देते थे। हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य का प्रभाव
गहरा था, और उसी के बीच से अपने को वृहत्तर भूमियों से जोड़ते हुए निराला
सामाजिक यथार्थ और प्रगतिशील अवधारणाओं का आरम्भ कर चुके थे। आचार्य
नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद और प्रगतिवाद दोनों से जुड़े, एक को उन्होंने चेतना
के स्तर पर स्वीकारा पर दूसरे को समय-समाज की अनिवार्यता के रूप मे।
मैं मूलतः कविता का पाठक रहा, पर चेष्टा यह कि इस क्षेत्र में जाऊं कि विश्व
का सर्वोत्तम क्या है? जिन्हें हम कालजयी कृतियां कहते हैं, और जो समय के
प्रवाह को पारकर हम तक पहुँचती है, उनका वैशिष्ट्य क्या है? युवावस्था में
प्रायः हम कृतियों से रसज्ञ पाठक के स्तर पर मिलते हैं—आलोचना दृष्टि कुछ
बाद में विकसित होती है। महान कृतियों से गुजरते हुए उनका आस्वाद लेता
रहा और दुबारा-तिबारा उनसे भेंट करने पर उनके नये आशय पा सका। लगा,
उनमें जीवन का समावेश है और कवि गहरे स्तर पर जाकर जीवन का विश्लेषण
करते हैं। ऐसा वे इसलिए कर सके क्योंकि उनमें एक 'जाग्रत संवेदन' है, एक
सार्वभौम दृष्टि है, जिसे हम 'विज़न' कहते हैं और कला के स्तर पर अपनी बात
कह सकने की क्षमता है। कई बार हम पृष्ठ रंगते हैं, पर व्यापक विज़न के अभाव
में हमारी रचना कोई लम्बी दूरी तय नहीं कर पाती—चूक जाती है, हांफने लगती
है। उसका कोई दूरगामी प्रभाव नहीं होता। जिन्हें हम कालजयी कृतियाँ अथवा
एक सीमित अर्थ में ही सही, 'क्लासिक' कहते हैं, उनमें अपने समय-समाज का
प्रामाणिक बिम्ब तो है ही, वे आगत भविष्य में भी झांकती हैं। उनमें अपने
स्थानीय रंगों के बावजूद, मानवमात्र को सम्बोधित करने की क्षमता है। रामायण,
महाभारत, भारतीय संदर्भ में जो प्रश्न उठाते हैं, उनमें से कुछ समय के बदल जाने
पर भी, अप्रासंगिक नहीं हो गए, जैसे महाभारत का उद्घोष कि मनुष्य सर्वोपरि
है, महान है—मानववादी अवधारणा का जयघोष है।

अध्यापक की अपनी विवशताएं होती हैं, और व्याख्या-विवेचन-विश्लेषण

से गुजरना उसकी नियति है। कक्षाओं में पढ़ाते हुए कई बार पाया कि अमुक रचना विश्व के सर्वोत्तम के निकट नहीं पहुँच पा रही है। एक ईमानदार अध्यापक के रूप में कविता या अन्य किसी भी रचना के निहितार्थ को विद्यार्थी तक पहुँचा दिया, उसके अर्थ-पटल खोलकर रख दिए। कोशिश की कि कविता से विद्यार्थी का निकट साक्षात्कार हो जाय। पर एक सजग अध्यापक की आलोचनात्मक दृष्टि भी सक्रिय रहती है, जिससे यह अहसास भी होता है कि रचना की सीमाएँ/न्यूनताएँ क्या हैं ? हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य मेरे विद्यार्थी जीवन का सर्वोत्तम सृजन था, यद्यपि उसे प्रगतिवाद और 'तारसप्तक' की चुनौतियाँ भी मिल रही थीं। पर आँसू, लहर, कामायनी, परिमल, पल्लव, रंगभूमि, कर्मभूमि, गोदान और प्रेमचंद की कहानियाँ संवेदन के स्तर पर हमारी पीढ़ी के लोगों को प्रभावित करती थीं। कुछ बालिग़ हुए तो छायावाद काव्य की सीमाएँ भी सामने आईं और निराला इसीलिए अधिक प्रभावित करते रहे कि उन्होंने छायावादी सीमाओं का अतिक्रमण किया—प्रगति से जुड़े। इस प्रकार हम लोगों के अध्ययन का एक क्षेत्र था विश्व के सर्वोत्तम से भेंट और दूसरा अपने समय के सार्थक से सम्पर्क। शोधकार्य के लिए जब 'प्रसाद का काव्य' विषय पर कार्य किया तो तुलनात्मक ढंग से भारत और पश्चिम के कुछ शीर्षस्थ कवियों को अपने अध्ययन की परिधि में लिया।

अध्यापक के रूप में विवेचन-विश्लेषण में बराबर रुचि रही और रचना में गहरे उतरकर, उसके मूल आशय तक पहुँचने का निरन्तर प्रयत्न। भाग्य से काशी, लखनऊ, सागर तीनों जगह ऐसे संगी-साथी मिले कि वे रचनाओं के अर्थ/आशय खोलने में रुचि लेते थे, और फिर विभिन्न व्याख्याओं को लेकर विचार-विनिमय होता था। लखनऊ रहते हुए जब 'युगचेतना' का सम्पादन डॉ० देवराज, कुंवर-नारायण आदि के साथ किया, तब नये साहित्य के निकट सम्पर्क में आया, और बहस-मुबाहसों के बीच तार्किक-आलोचनात्मक दृष्टि भी अधिक सजग हुई। व्याख्यात्मक आलोचनात्मकता की ओर बढ़ा। यहीं नये साहित्य के विभिन्न पक्षों पर अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करने की शुरुआत हुई और 'कल्पना' जैसी पत्रिकाओं में छपा। लखनऊ में ही आचार्य नरेन्द्रदेव और प्रो. डी. पी. मुकर्जी के सम्पर्क में आया, जिनसे मार्क्सवाद को रोमांटिक ढंग से भावना के स्तर पर देखा गया था, उसका विधिवत् अध्ययन आरम्भ हुआ। आगे चलकर इस मार्क्सवादी अध्ययन का उपयोग मैंने इतिहास के विश्लेषण में किया और, उस पीठिका पर रचना को देखा-परखा। 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' में भारतीय नवजागरण, पूंजीवादी

समाज ग्रादि की जो भूमिका रही है ग्रौर जिसने रचना को प्रभावित किया, उस पर विचार किया। फिर लगभग दस-बारह वर्ष हिन्दी भक्तिकाव्य के समाजशास्त्रीय ग्रध्ययन को दिए। भारत में सामंतवाद की क्या भूमिका रही है? सामंतवादी ग्रन्तर्विरोधों में कबीर-जायसी-सूर-तुलसी जैसे कवि हुए जिन्होंने समय-समाज को मूल्य-स्तर पर चुनौती दी। पांच पुस्तकों के रूप में यह ग्रध्ययन प्रकाशित होकर, ग्रब ग्रापके सामने है। ग्रब नयी कविता के समाजशास्त्रीय ग्रध्ययन में लगा हूं जिसका भूमिका खण्ड स्वतंत्र पुस्तक के रूप में तैयार है 'नयी कविता की भूमिका'। तीन खण्डों में इसे पूरा करने की योजना है : नयी कविता की भूमिका, नयी कविता का समाजशास्त्र ग्रौर समकालीन कविता। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी ग्रध्ययन से प्रारम्भ कर समाजशास्त्रीय ग्रध्ययन तक ग्राया हूं।

यदि काव्य ग्राधुनिक साहित्य, नयी कविता पर कार्य किया है ग्रौर जैसा कि निवेदित किया 'प्रसाद का काव्य' को सर्वाधिक सम्मान मिला। पर मैं 'हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य' तथा 'भक्ति काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना' को ग्रपनी प्रतिनिधि रचनाएँ मानता हूँ। इधर तीन खण्डों में नयी कविता पर जो कार्य कर रहा हूं, उसके विषय मे ग्रभी से कोई भविष्यवाणी करना उचित नहीं होगा, पर विनयभाव से यही कह सकता हूँ कि यह एक प्रामाणिक कार्य होगा। दरग्रसल ग्रपनी ग्रारम्भिक कृति से ग्रागे बढ़कर, मैं समाजशास्त्रीय ग्रध्ययन की ग्रोर मुड़ा। मेरा निश्चित मत है कि रचना की एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। एक ग्रोर वह ग्रपने समय-समाज का प्रामाणिक दस्तावेज़ होती है, दूसरी ग्रोर यदि वह सार्थक सक्षम रचना है तो ग्रपने समय को ललकारती भी है। इस प्रकार स्वीकृति ग्रौर निषेध में द्वन्द्व से सही रचना ग्रग्रसर होती है। जिस ज़मीन पर हम खड़े है, उसके निश्चित दबाव हम पर होते हैं, पर हम उसे उसी रूप में स्वीकार कर ग्रपनी बात खत्म कर दें तो फिर रचना का रचनाकर्म ग्रधूरा रह जायगा। सही रचना वैकल्पिक मूल्यों की तलाश का नाम है ग्रौर इसीलिए जोर देकर कहा गया कि क्रांतियों के मूल मे कुछ शब्द होते हैं जिन्हें कर्म में रूपान्तरित किया जाता है। इतिहास में मेरी रुचि ग्रारम्भ से हो रही है—ग्रौर यह मेरा प्रिय विषय है। मैंने उसका उपयोग ग्रपने समाजशास्त्रीय ग्रध्ययन में किया है, कर रहा हूँ। हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य, साहित्य की सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना ग्रौर नयी कविता इसी की उपज हैं। मैं स्वभावत: प्रतिक्रियाग्रों मे उग्र नही हुग्रा। हो सका ग्रत: डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के शब्दों में मैं "उदार प्रगतिशील" या "प्रोग्रेसिव-लिबरल" हूँ किन्तु मैंने जो सोचा है, उसे कहा भी है, लिखा भी है।

रचना और आलोचना के रिश्तों पर एक पूरी किताब ही बन रही है जिसके कुछ अंश 'आलोचना' तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। जैसा कि कह आया हूँ, हिन्दी में कठिनाई यह है कि रचना और आलोचना को अलग-अलग दरबों में रखा गया। वास्तविक स्थिति यह है कि सही रचना समाज की आलोचना के साथ आत्मलोचन भी है और सही समीक्षा की रचनायात्रा होती है–आचार्य रामचंद्र शुक्ल उसके प्रमाण हैं। वास्तव में समीक्षक जो तरह-तरह की मांग रचना से करता है, वही मांग आलोचना से भी की जानी चाहिये। रचना की जड़ें यदि जीवन में हैं तो आलोचना जीवनविरहित कैसे होगी? वह किसी जड़ शास्त्र के सहारे कितनी दूरी तक जायगी? गहरे स्तर पर जाकर देखें तो आलोचना की भूमिका दुहरी-तिहरी है। सही आलोचना, अपने समय-समाज के सन्दर्भ में रचना से साक्षात्कार करती है। नयी के साथ पुरानी रचनाओं को भी वह आज के संदर्भ में देखती है–पुनर्मूल्यांकन/नवमूल्यांकन करती है। काल के निकष पर कृतियों की परीक्षा इसी प्रकार होती है–समाज द्वारा स्वीकृति और आलोचकों द्वारा नयी पहचान।

आलोचना का पहला चरण है, किसी कृति से अन्तरंग साक्षात्कार और यह काम निजी अनुभव-स्तर पर नहीं किया जा सकता। कृति को उसके व्यापक सामाजिक संदर्भों में देखना होगा। इस अवसर पर हम सजग आस्वादकर्ता होते है, पर यह समीक्षा का प्रस्थान विन्दु मात्र है और हम यहीं नहीं रुक जाते। कृति से अपने को अलगकर, हम उसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखते है। ध्यान देने की बात यह कि रचना से गुजरते हुए भी हमारी आलोचना-दृष्टि यदि सजग नहीं है तो खतरा यह कि कृति हमें अभिभूत कर दे और हम सही मूल्यांकन न कर पायें। यह सजगता आलोचक के लिए हर बिन्दु पर जरूरी है। कृति के विवेचन, विश्लेषण से आलोचना रचनाकार और पाठक के मध्य एक ईमानदार सेतु-माध्यम का कार्य करता है। इस दृष्टि से समीक्षक 'सजग पाठक' है। मूल्यांकन का भी प्रश्न उठता है, पर यहाँ समझदारी की जरूरत है क्योंकि समीक्षा 'फतवा' नहीं दे सकती और न 'फरमान' जारी करना उसका अर्थ है। इसी प्रकार तुलनात्मक विवेचन में भी सही दृष्टि की जरूरत, है अन्यथा हम कृतियों को पेशेवर परीक्षक की तरह प्रशंसा के आधार पर परखना आरम्भ कर देंगे। हिन्दी में पर्याप्त समय तक तुलसी–सूर को भिड़ाया गया। आलोचना को यदि हम साहित्यिक समीक्षा तक सीमित न कर दें तो आलोचना, विचार दर्शन-प्रकृति-सन्दर्भ आदि की भी होती है। इस प्रकार रचना को हम कहीं अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हैं, और शुद्ध साहित्य

का मिथ टूटता है तथा शास्त्र अपर्याप्त हो जाता है। हिन्दी आलोचना अरसे तक कई प्रभावों से आच्छादित रही है—संस्कृत काव्यशास्त्र अथवा पश्चिम के आलोचना-शास्त्र से। पर कोई भी शास्त्र अपने समय की उपज होता है और उसके वे ही मुद्दे हमारे काम के होते हैं, जो आगे चलकर भी प्रासंगिक हों। इसीलिए हम 'रस सिद्धान्त' की द्वन्द्वात्मक, भौतिकवादी व्याख्या से गुजरते हैं, पश्चिम की तर्ज पर हिन्दी में आधुनिकतावादियों ने कई आयातित नारे लगाए, पर वे यहां की माटी में खप नहीं सके, जल्दी चुक गए। मेरे लिए आलोचना का अर्थ व्यापक है, जिसमें विचारों की आलोचना भी आ जाती है। बराबर खतरा रहा है कि आलोचना गैरप्रासंगिक करार देदी जाय। इसका कारण आलोचना का सिकुड़ना-सिमटना है। सही आलोचना रचना को नयी अर्थदीप्ति देती है और वह अराजक स्थिति में एक सक्षम हस्तक्षेप भी है। इस दृष्टि से रचना-आलोचना में सही-सार्थक संवाद बना रहना चाहिए। इससे दोनों को गुणात्मक विकास मिलता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा को बौद्धिक आधार दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने घोषणा की कि 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है।' आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य की समझ में हमारी सहायता की। समकालीन समीक्षा में डॉ० रामविलास शर्मा ने बड़ी लकीर बनाई है। उनकी समीक्षा की शुरूआत प्रहारात्मक ढंग से हुई और उनकी प्रतिबद्धताओं ने आरम्भ में किसी को नहीं बख्शा। पर उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक जातीय विकासक्रम में रखकर देखा और उसका जो कुछ सर्वोत्तम तथा सार्थक है, उसमें समानताएं पाईं। 'आलोचना' में कालिदास और तुलसी को केन्द्र में रखकर लिखे हुए उनके निबन्ध इस दृष्टि से सही प्रस्थान हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, निराला को उन्होंने अपने जातीय इतिहास के विकासक्रम में देखा। इतना ही नहीं, भाषाविज्ञान की अपनी चार पुस्तकों में भी उन्होंने यही सरणि अपनाई। निराला के तीनों खण्डों से गुजरते हुए आप पाएंगे कि डॉ० रामविलास अपने समाज के देशज विकास को पहचानते हैं। अंग्रेजी के अध्यापक होकर भी, वे बाह्य आतंकों से मुक्त हैं। 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' के दो खण्ड भारतीय समाज के द्वन्द्वात्मक विश्लेषण की दृष्टि से प्रामाणिक हैं और इस पीठिका पर उपजे आधुनिक साहित्य की ठीक समझ में हमारी सहायता करते हैं। उनके निर्णयों को लेकर बहस हो सकती है, जैसे 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' पुस्तक में मुक्तिबोध को लेकर उनकी कुछ टिप्पणियां। डॉ० रामविलास शर्मा का मार्क्सवादी समाजशास्त्र सबसे

अधिक अहमियत उस ज़मीन को देता है, जिसमें कोई रचना उपजती है और लगभग इसी क्रम में आती है—लेखक की प्रतिबद्धता, ईमानदारी, नेकनियती और उसका गन्तव्य। इस मामले में वे अपने सहयात्रियों को भी नहीं बख्शते। रामविलास जी आलोचना (मार्क्सवादी समाजशास्त्र) में सबसे बड़े हस्ताक्षर हैं। नाम गिनाना खतरे से खाली नहीं होता; कई बार गलत इन्दराज़ का भी आरोप लगाया जा सकता है, पर प्रतिबद्ध मार्क्सवादी समीक्षा में मुक्तिबोध, नामवरसिंह, विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, रमेशकुन्तल मेघ, शिवकुमार मिश्र, मैनेजर पाण्डेय, नन्दकिशोर नवल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नाट्य समीक्षा में नेमिचंद्र जैन, सुरेश अवस्थी जैसे नाम हैं। देवीशंकर अवस्थी यदि हमारे बीच आज होते तो निश्चय ही उनकी सक्रियता विचारणीय होती। समीक्षा में विजयदेव नारायण शाही का अपना अलग व्यक्तित्व है। कहानी समीक्षा में राजेन्द्र यादव, धनंजय वर्मा, मधुरेश जैसे नाम हैं। कविता तथा अन्य विधाओं में रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी, परमानन्द श्रीवास्तव, नवलकिशोर आदि उल्लेखनीय हैं। आलोचकों की सूची लम्बी है, पर कई बार समीक्षा अकादमिक कार्य तक सीमित हो जाती है, जबकि उसका प्रमुख कार्य यह है कि वह अपने समय की रचनाशीलता से सीधी मुठभेड़ करे। हम चाहें भी तो अपने समय-समाज को बता नहीं सकते और समीक्षक की सार्थकता के लिए यह अनिवार्य है कि वह आस-पास देखे, उसे ठीक से समझे, उसका जायजा ले और फिर उसके ही काव्यकार विवेचन-विश्लेषण से गुजारते हुए इस निर्णय पर पहुंचे कि रचना के लम्बे इतिहास में उसका स्थान कहाँ और कैसा है।

पत्रालोचन

—डॉ० प्रभाकर माचवे

श्रालोचक रूप :

1. मेरे आलोचनात्मक लेखन की भूमिका स्पष्ट है–मैं मनुष्य को और समाज को बेहतर बनाना चाहता हूँ। साहित्य में जहां-जहां इसका विरोध है, ढोंग है, झूठ है—मैं उसका विरोध करता रहता हूँ।

2. मैं अपने सही मूल्यांकन की प्रतीक्षा नहीं करता। न उसकी परवाह करता हूं। कारण कि यह उपेक्षा निरन्तर होती रही–जिन-जिन पर मैंने उपकार किया उन्होंने की; जिन-जिन की मैंने सेवा-सहायता की उन्होंने की। संस्थाओं ने की, साहित्यिक गुटबाजों ने की। परन्तु उस सबका अब क्या गिला ?

3. मेरी उत्कृष्टतम पुस्तक अभी लिखनी शेप है। अब तक तो सिर्फ खाके बनाते रहे हैं।

4. मैंने किसी को स्थापित नहीं किया। हाँ काटा मैंने अनेक लोगों को है–छद्म छायावादियों को, छद्म प्रगतिवादियों को, छद्म प्रयोगवादियों को। किसी को नहीं बख़्शा है। क्यों ? क्योंकि मैं साहित्य में सत्य–मानवता के सत्य की प्रतिष्ठापना को मानता हूँ। लल्लो-चप्पो और 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम' नहीं मानता।

प्रश्न 5. आलोचना आपके लिए रचना है या विश्लेषण-मूल्यांकन या दोनों रचनाकार रूप ?

5. दोनों।

6. बहुत कम आलोचक पूरी तरह जँचते हैं। ज़िंदा आलोचकों में डा० देवराज, रामविलास शर्मा, नामवरसिंह, और आपके सम्पादक मंडल के सभी मित्र। लोगों की चीज़ें जहां पढ़ने को मिलती हैं, पढ़ता रहता हूं। जो जीवित नहीं हैं उनमें रामचन्द्र शुक्ल के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी को मैं मानता हूं। देवीशंकर अवस्थी में बड़ी प्रतिभा थी।

रचनाकार रूप :

1. बहुत ही खराब। न आवश्यक, बाधक। बहुधा आलोचक रचना को समझते ही नहीं और चाहे जो लिख जाते हैं। पढ़कर मनोरंजन मात्र होता है।

2. शुरू-शुरू में प्रेमचंद, अज्ञेय, निराला, माखन लाल चतुर्वेदी, रामवृक्ष-बेनीपुरी, आचार्य नरेन्द्रदेव, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतराय आदि ने मेरी रचनाएं अपने पत्रों में छापीं। आलोचना भी बड़ी सहानुभूतिपरक और प्रोत्साहक की। पर बाद में, विशेषतः स्वराज्य के बाद, सब लेखक भगदड़ में पड़ गये। मेरे अब 15 उपन्यास छप चुके हैं—किसी ने कुछ भी ढंग से नहीं लिखा। सौ से ऊपर कहानियां पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं—एक भी संग्रह नहीं छपा। 1963 के बाद मेरा एक भी कवितासंग्रह नहीं छपा—यह थोड़े से तथ्य हैं, दुखदायक।

3. मुझमें बिल्कुल नहीं है। तीनों आलोचक के कार्य हैं-परस्पर गुंथे हुए।

4. हां मतलब के सब यार होते हैं। साहित्यिक उल्लेख भी किसी स्वार्थ से ही किये-कराये जाते रहे हैं। 'मत' हो तो भी ठीक पर यहां तो सब 'कीमत' है तेरा नाम देता हूं, तू मुझे कब बुलायेगा, या मुझ पर लिखेगा ?

प्रश्न 5. रचनाकार व आलोचक में द्वेष और द्वन्द्व जरूरी है ?

5. बिल्कुल नहीं।

6. दोनों के अनंत उदाहरण मैंने झेले और पढ़े हैं। पर नाम ले लेकर किस-किस को याद करूं ? डा० नगेन्द्र, 'अज्ञेय' और इलाहाबाद के प्रायः सभी लेखकों-प्राध्यापकों ने अनेक 'मन्दयशः प्रार्थी' लोगों को बहुत चढ़ाया, पर आज वे सब कहां हैं ?

7. मैं एक भी आलोचक को 'सुनना' पसन्द नहीं करता—(वैसे नामवरसिंह अच्छा व्याख्यान देते हैं, श्रवणीय) न रेडियो पर न सभा-समाजों में। हां पढ़ता जरूर रहता हूं—अच्छा-बुरा जो भी हाथ लगता है। बुरा अधिक पढ़ने को मिलता है। मनोरंजन होता रहता है। पुरानी पीढ़ी में अच्छे वक्ता, विद्वान, सुधी समालोचक होते थे, जिनको सुनने से ज्ञान मिलता था। संतोष होता था-वासुदेव अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नलिन-विलोचन शर्मा, किशोरी दास वाजपेयी, कैसे-कैसे शानदार लोग थे। अब तो सब साहित्यिक ऐसे लगते हैं, जैसे नाटक कर रहे हों। ईमानदारी अब जीवन के सभी क्षेत्रों में कम हो गयी।

आलोचना कटघरे में

—चन्द्र कान्ता

सृजन के मूल्यांकन के लिए समालोचना का जन्म हुआ है, इसमें दो राय नहीं हो सकतीं। आलोचक, कृतिकार की भांति साहित्य-सर्जना नहीं करता परन्तु साहित्य सम्बन्धी अध्ययन-मनन-संवेदनशीलता, एवं समसामयिक परिप्रेक्ष्य की जानकारी उसके लिए भी उतनी ही जरूरी है जितनी कि सर्जक साहित्यकार के लिए। और साहित्य में उसका स्थान भी महत्वपूर्ण है।

कोई भी समालोचक जब तक पूर्वग्रहों को त्याग कर ग्रहणशीलता एवं खुलेपन से किसी रचना का अध्ययन न करे तब तक उस रचना पर अपनी राय देने का उसे कोई अधिकार नहीं होता, किसी भी रचना को बिना पढ़े, या रचनाकार की पूर्व प्रकाशित कृतियों को आधार बनाकर या रचनाकार के नाममात्र से ही बिदक कर फतवे देना आलोचक के लिए बेहद शर्मनाक बात है।

कुछ आलोचक जो स्वयं वादों और खानों में बंटे हैं, किसी विशिष्ट आइडियोलोजी का प्रचार-प्रसार करते हैं, किसी भी कृति का, उस विशिष्ट विचारधारा के अन्तर्गत स्वीकृत मानदण्डों के आधार पर ही मूल्यांकन करते हैं. अपने निष्कर्ष देते हैं, जो बिल्कुल गलत तरीका है। इस प्रकार के आलोचक न रचना के साथ न्याय कर पाते हैं और न आलोचक के धर्म को ही सही तरीके से निभाते हैं, दुर्भाग्य से आजकल ऐसा बहुत होता है। एक तरह की आपाधापी है, एक दूसरे को कठघरों में कैद कर मिथ्या अभियोग लगाने की नीति और भाई-भतीजावाद की संस्कृति का पोषण करने वाले भी बहुत हैं। और यह बात पूरे साहित्य जगत के लिए चिन्ता का विषय है। चिन्ता इसलिए कि आलोचना सही साहित्य के प्रसार-प्रचार में सहायक होती है, जबकि इस प्रकार की कूटनीतियों से सतही लेखन उभर कर आता है और साहित्य कुछ काल के लिए ही सही पर दफन हो जाता है।

प्रत्येक आलोचक को यह अधिकार है—कि वह रचना में वर्णित विचारों या मूल्य, सत्यों की जांच अपने ढंग से करे, कृति से असहमति भी अस्वाभाविक

नहीं है, बल्कि मैं समझती हूं कि हर लेखक को थोड़ी चीर-फाड़ के लिए तैयार रहना चाहिए। पर दिक्कत वहां होती है जहां पर एक जेनुइन रचनाकार को विशिष्ट राजनीतिक-साम्प्रदायिक कठघरों में कैद करके, उसे उन कार्यों के लिए जवाबदेह ठहराया जाता है जो उसने नहीं किए हैं।

यह भी सच है कि आज भी आन्दोलनों के साथ जुड़ा लेखन आलोचकों को ज्यादा आकृष्ट करता है। ऐसा लेखन, सही-गलत जो भी हो, उसकी सामयिक उपयोगिता में भी संदेह नहीं, पर मानवीय मूल्यों की वृहत्तर जमीन पर रची गई अनुभूतिजन्य रचना, जिसमें जीवन के विविध पहलुओं पर पुनर्विचार करने की ललक है, सत्य के विविध आयामों को निजी दृष्टि से परखने-दिखाने की आकांक्षा है, उसका कुछ संकीर्ण विचारों या मानदण्डों के आधार पर खंडन-मंडन करना, रचना और रचनाकार दोनों के साथ अन्याय है। कुछ आलोचक तो यह भी कहते हैं कि अमुक विचारधारा से सम्बन्धित न होने के कारण यह कृति साहित्य के अन्तर्गत आ ही नहीं सकती।

ज़ाहिर है इस युक्ति को कोई भी जेनुइन रचनाकार स्वीकार नहीं करेगा। और न ही इस तरह के रवैये से आलोचक साहित्य के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर पायेगा।

ऐसा होने पर भी यह प्रसन्नता की बात है कि स्थिति बिल्कुल निराशाजनक नहीं है। गुटों में बंधे बिना भी कई आलोचक सामने आ रहे हैं जो लेखन को आंख-कान खोले, पूर्वग्रहों से मुक्त होकर सही परिप्रेक्ष्य में आंकते हैं और उस पर अपना महत्त्वपूर्ण अभिमत देते हैं, ऐसे आलोचक साहित्य में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका तो निभाते ही हैं, नए-पुराने लेखकों की कालजयी रचनाओं से पाठक को परिचित कराके साहित्य में फैला कूड़ा-कचरा भी साफ कर देते है और अनायास ही लोकरुचि का परिमार्जन करने में साहित्यकार की मदद भी कर देते हैं।

यों यह भी सच है कि अनुभूतिसम्पन्न एवं वैचारिक शक्ति से भरपूर, संवेदनशील लेखक यदि जीवन के विविध सत्यों पर कलम उठायेगा तो आलोचक की कृपादृष्टि न पड़ने के बावजूद, उसकी रचना साहित्यिक धरातल पर टिकेगी जरूर। तब शायद एक दिन आलोचक भी यह देखने पर मजबूर होगा कि अमुक रचना यदि जिन्दा रही है, तो उसका क्या कारण है?

अपने लेखन के विषय में कहूं तो सच यह है कि अभी मेरी रचनाओं का मूल्यांकन बहुत कम हो पाया है, मैं आलोचकों को भी दोष नहीं देती, हमारे

साहित्यिक क्षेत्र में कुछ रीति-नीतियां गहरी जड़ पकड़ गई हैं, उनसे मुक्त होने में समय तो लगता ही है, फिर मैं किसी वाद के साथ कभी नहीं जुड़ी, यह भी एक कारण हो सकता है, बल्कि है। जिस स्थिति ने प्रभावित किया उसका सत्य जानने-तलाशने की कोशिश की, कुछ साम्प्रदायिक रिव्यूवर (आलोचक नहीं कहूंगी) मेरी कुछ अच्छी रचनाओं को अपने गढ़े मानदण्डों, अपनी बनाई श्रेणियों के आधार पर खंडित-मंडित भी कर गए, पर जेनुइन आलोचकों ने मुझे कभी निराश नहीं किया। शायद इसलिए कि मैं जानती हूं, आलोचक हों या रचनाकार दोनों के विस्तार की, ताउम्र, गुंजाइश रहती है।

मेरा विश्वास है, जेनुइन साहित्य और प्रचार-लेखन में फर्क होता है, एक कालजयी होता है दूसरा सामयिक समाचार मात्र बनकर दूसरे दिन भुला दिया जाता है।

यह भी मैं जानती हूं कि जब गुटबन्दी के शिकार आलोचक आपस में 'मैं सही, तू गलत' करते भाई-बन्दों के गुणगान और खेमों से अलग लेखकों को नज़र अन्दाज़ करने में व्यस्त होते हैं, आम पाठक सही राय से कृतिकार को सम्मान, स्नेह, आत्मीयता सभी कुछ देते हैं। यह मेरा निजी अनुभव है और मेरे विचार में, (आलोचकों को पूरा सम्मान देते हुए) सही आलोचक वही, आम पाठक ही होता है।

आलोचक डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

—डॉ. श्याम सुन्दर घोष

जैसे व्यक्ति की शक्ति और सार्थकता उसकी अतिक्रमण-क्षमता में होती है उसी प्रकार विधाकार की विशिष्टता इससे प्रत्यक्ष होती है कि वह अपनी विधा परिधि का अतिक्रमण किस सीमा तक, कितनी निपुणता से कर सकता है ? ऐसा करके भी फिर उसी विधा-वृत्त में वापस आ जाना उसका अतिरिक्त कौशल माना जा सकता है जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'विरुद्धों का सामंजस्य' कहा है। वह नाना रूपों में, नाना प्रकार से, नाना शब्दावलियों में, नाना परिस्थितियों और युगों में सम्मुख आता रहा है। वास्तव में जैसे यह विश्व विरुद्धों का सामंजस्य है, और इसी धुरी पर निरन्तर चलायमान है, उसी प्रकार व्यक्ति, रचनाकार और विधाकार भी इसी न्याय से चालित हैं। यदि सृष्टि में यह द्वन्द्व न हो, तो उसमें एक अजीब इकहरापन आ जायगा। ठीक इसी प्रकार यदि रचनाकार में भी द्वन्द्व न हो तो वह नितान्त अनाकर्षक, इकहरा और अप्रासंगिक हो जायगा। जिन्होंने डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की प्रारम्भिक आलोचनाएँ पढ़ी हैं, और यदि नहीं पढ़ी हैं, तो कोई बात नहीं केवल उनके आलोचना ग्रन्थों के नाम ही यदि उनके जेहन में हैं यथा' निराला की साहित्य-साधना', 'पंत जी का नूतन काव्य और दर्शन, 'आधुनिक कविता सिद्धांत और समीक्षा' 'सूरदास का भ्रमर गीत', 'संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव', 'हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठ भूमि' 'समकालीन कहानियाँ,' 'समकालीन सिद्धांत और साहित्य' आदि वे मानेंगे इन ग्रन्थों से डॉ. उपाध्याय का पारम्परिक आलोचक रूप ही प्रकट होता है। लेकिन उनकी बाद की दो आलोचना पुस्तकें, या उनके नाम, यथा 'जलते और उबलते प्रश्न' और 'बिन्दु प्रति बिन्दु', स्पष्ट करते हैं कि अब उपाध्याय निरे साहित्यालोचक या समीक्षक न रह कर कुछ और हो गये हैं। मेरे मत से डॉ. उपाध्याय के संपूर्ण आलोचना लेखन को पूर्ववर्ती और परवर्ती भाग में दो पुस्तकों से विभाजित कर उक्त उनके परवर्ती लेखन की शुरूआत मानी जा सकती है। यहीं से उनकी विधागत संक्रमण क्षमता या दक्षता का आभास मिलने लगता है।

किसी भी लेखक या विधाकार की प्रौढ़ता-परिपक्वता बहुधा इस बात से लक्षित होती है कि उसका विषय या विधा पर कितना और कैसा अधिकार है। उसका यह अधिकार इससे सूचित होता है कि वह विषय और विधा के घेरे तक ही सीमित रहता है या घेरे को अपने व्यक्तित्व के अनुसार तानता और फैलाता है। कीट्स की एक उक्ति है कि कवि सबसे ज्यादा अकवि होता है (पोयट इज मोस्ट अनपोयटीकल ऑफ वीग्स) इसका मतलब ही है कि जो व्यक्ति या रचनाकार वास्तव में जो होता है, उसके लिए वह जरा भी चिंतित और सतर्क नहीं होता। उस पर उसका इतना विश्वास रहता है कि वह उससे भिन्न और अलग हो कर भी वही रहता है वह रूप पाकर है रूप को तोड़ना या उसको अतिक्रमित करना है। ऐसा होने पर ही रूप की जड़ता समाप्त होती है और इसे ही वास्तव में रूप या व्यक्तित्व पाना कहते हैं। डॉ. उपाध्याय के परवर्ती आलोचना लेखन को मैं इसी दूसरे दौर की शुरुआत मानता हूँ और उनका स्वागत और अभिनन्दन करता हूँ।

आइये, हम देखें कि इस दूसरे दौर की शुरुआत वे किस रूप में कैसे करते हैं। कहावत है कि नया मुल्ला प्याज अधिक खाता है। यह बात प्रतिबद्ध लेखकों पर-और आलोचकों पर तो और भी, क्योंकि वह प्रतिबद्धता का दारोमदार अपने ऊपर ही मानता है—लागू होती है उनकी। इसलिए यदि पक्षधर लेखक वैचारिक विकास नहीं करता तो उसमें अजीब प्रकार की जकड़बन्दी उसके पूरे रचनात्मक व्यक्तित्व से ग्रस होती है। तब वह अजूबा और हास्यास्पद होकर रह जाता है। ऐसे लेखक ऐसे लेखन का हुलिया तो बिगाड़ते हैं, पाठकों को भी कम त्रस्त और आतंकित नहीं करते। ऐसे में उनकी पाठक संख्या दिनानुदिन कम होती जाती है और ये किसी खास शिविर या खेमे के लेखक हो कर रह जाते हैं। जन गण के विशाल समुदाय से इनका रिश्ता क्रमशः टूटता चला जाता है। इस स्थिति को अपने अनुकूल न पाकर ये खीझते रहते हैं या पाठकों की नासमझी का रोना रोते हैं। लेकिन जो लेखक निरन्तर विकास करते हैं वे अपनी वैचारिक विशदता और उदारता से न केवल अपने पाठकों की संख्या बढ़ाते चलते हैं वरन् विशाल जन गण से उनके सरोकार भी गहरे और मजबूत होते जाते हैं। तो वे अपने लेखन को नित नवीन आयाम देकर उसे रंगारंग, लोकानुरंजक, गतिशील और चटख बनाते जाते हैं। ये न केवल अपने सृजन-वृत्त का अतिक्रमण करते हैं। वरन् उसे मानवीय करुणा, सद्भावना और समझ से इतना विस्तृत कर लेते हैं कि वृहत्तर मानव समुदाय को अपना आत्मीय बना लेते हैं। तब इनकी वैचारिकता में इतना लचीलापन आ जाता है कि इनकी पक्षधरता चटकने वाली न होकर ज्यादा असरकारक होती है। वास्तव में

ुष्य स्वभावतः ही रीढ़धर्मी होता है इसलिए वैचारिक लिज़लिजापन किसी-को अभिप्रेत नहीं होता। बहुधा अधिकतर लोग वैचारिक उग्रता के कारण ही ाचार-विरोधी हो जाते हैं। इस बात को जो पक्षधर लेखक जितना ही जल्द समझ ता है वह उतना ही शीघ्र अपना और दूसरों का कल्याण करता है। डॉ. उपाध्याय का यह वैचारिक विकास न केवल उनके आलोचनात्मक लेखन से स्पष्ट हुआ वरन् उनका औपन्यासिक लेखन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। मैंने उनके उपन्यास 'जाग मछन्दर गोरख आया' की समीक्षा करते हुए इसे स्पष्ट किया है लेकिन यहाँ मुख्यतः उनके परवर्ती आलोचना लेखन को ध्यान में रखकर ही अपनी बात स्पष्ट करना चाहता हूँ।

अधिकतर प्रतिबद्ध लेखकों के साथ कठिनाई यह रहती है कि वे दृष्टिकोण सामने रखना चाहते हैं। दूसरों की भी कोई प्रतिदृष्टि हो सकती है, इस पर सोचना उन्हें गवारा ही नहीं होता, उस पर भली भांति विचार कर उनके धनात्मक और ऋणात्मक पक्ष को सामने लाने का तो सवाल ही नहीं उठता। वाद-विवाद से तथ्य-बोध होता है, वे यह मानते ही नहीं, वे उसे विशुद्ध विवाद के रूप में लेते हैं। लेकिन डॉ. उपाध्याय ने अपनी पुस्तक का नाम 'बिन्दु-प्रति बिन्दु' रखा है जिसे उन्होंने Point counter point का पर्याय माना है। इसी से उनके आलोचक के समावेशी चरित्र का पता लगता है। लेकिन अपने बिन्दु के समक्ष दूसरे पक्ष के प्रति बिन्दुओं को रखते हुए, उसकी परीक्षा करते हुए वे अपने बिन्दुओं की विशेषताओं को कभी भी विस्मृत नहीं करते। इससे उनकी अनूठी वैचारिक अडिगता सूचित होती है। निर्मल, विवेक, अदम्य साहस और वैचारिक निष्ठा डॉ. उपाध्याय के आलोचक की अनन्य विशेषताएँ हैं जो उनकी अनेक पंक्तियों से स्पष्ट हैं। यहाँ कुछ थोड़े उदाहरणों से हम अपनी बात स्पष्ट करना चाहेंगे। अपने एक निबन्ध 'साहित्य दर्शन की रचनाएँ' में डॉ. उपाध्याय ने एक जगह लिखा है—'मतों की अंधता वामपंथ में भी है और दक्षिणपंथ में भी। इस मतांधताजन्य मूढ़ता के आवेग में 'विश्व इतिहास' तक लिख डाले गये हैं पर उनमें अंधमतवाद के कारण अथवा राजनैतिक अनिवार्यताओं के कारण पिछड़े हुए मगर बहुसंख्यक देशों के साथ अन्याय हुआ है। अब वे इसका बदला प्रतिपक्ष को नकार कर ले रहे हैं। दोनों तरफ इतिहास विकृत हो रहा है।

ऐसी स्पष्ट स्वीकारोक्ति का साहस बिरलों में ही होता है। अपने एक दूसरे निबन्ध 'ऐतिहासिक दृष्टि और हिन्दी साहित्य का इतिहास' में वे एक जगह लिखते हैं—'एक विचार यह भी है कि साहित्य के इतिहास सिर्फ कलात्मकता विभिन्नता के आधार पर लिखे जाएँ, शैलियों के वैभिन्नय के अनुसार संकलित किए जाएँ। यह

होना चाहिए। ऐसे इतिहास, वास्तविक इतिहास के लिए अमूल्य सामग्री देंगे। उदाहरणतः अमूर्त कला और साहित्यिक रचनाओं का एक जगह एकत्र विवरण, इतिहासकार को कलाबोध देकर वास्तविकता के साथ उसके सम्बन्ध को खोजने के लिए उसे मुक्त कर देगा अतएव पूरक इतिहासों, तथ्यों के संकलन-आकलन और कृतियों की सूचियों-संग्रहों का आधारभूत महत्त्व है।" (पृ. 20) इस कथन में डॉ. उपाध्याय ने कथित विचार की सीमा का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है अपने एक और निबन्ध "समकालीन काव्यगत धारणायें' में डॉ. उपाध्याय ने एक जगह लिखा है–'यह न कहना न्यायहीनता होगी कि अकवियों ने काव्यात्मक विरोध द्वारा, व्यवस्था के औचित्य के आगे प्रश्न चिन्ह अवश्य लगाया है। सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली' में भारतीय-समाज और राजनीति की स्थितियों का जो सवाक् चित्र है, वह कम्यूनिस्ट कवियों में भी दुर्लभ है।' (पृष्ठ 47) कारणों पर प्रकाश डालते हुए डॉ. उपाध्याय का कहना है–'जहाँ दलबद्ध लेखक, दल की कार्यनीति को साहित्य में लाता है और उस घेरे में घिर जाता है, वहाँ मुक्त-विरोधी लेखक अपनी काव्यात्मक प्रतिक्रिया में स्थिति के पूरे बिगड़ाव को फतासियों में बांधता है। वह किसी का लिहाज नहीं करता। अतः उसके सर्व-संहारक स्वर के बावजूद मानव-वास्तविकता की विकृति का नक्शा 'लुकमान अली' में पूरे असंयम के साथ उभरता है। अकवि, अति पर पहुंची हुई विकृति या वैषम्य को अतिवादी मुहावरे के जरिये भास्वरित करता है।' (पृ. वही) अपने एक निबन्ध 'आत्मलोचन' में डॉ. उपाध्याय ने एक जगह बहुत साहस का परिचय दिया है– 'प्रचारात्मक लेखन जन-आन्दोलन के समय उत्तेजना और लक्ष्यस्मरण के लिए है किन्तु मानसिक तैयारी के लिए वह अपर्याप्त ही नहीं, घातक भी है क्योंकि वह चेतनात्मक-आश्वस्ति नही देता (पृ. 62) इसी सोच के तहत वे कहते हैं 'हम प्रगति शीलों से यही आशा करते हैं कि वे किसी पार्टी की कार्यनीति या सत्ता के साथ सांठ-गांठ के चक्कर में न पड़कर जन असन्तोष व्यवस्था और व्यवस्थापकों के अन्तर्विरोध तथा दूसरी असंगतियों के विरुद्ध विद्रोह और जनक्रांति के बोध और गम्भीर अहसास को व्यक्त करें, पिछलग्गूपन की जगह अपने ज्वलन्त विचारों और भावनाओं से अपनी अग्रगामिता प्रमाणित करें।' (पृ 79) डॉ. उपाध्याय लेखन में व्यक्ति-वादी दृष्टिकोण को बिलकुल नहीं नकारते। वे मानते हैं कि "व्यक्तिवादी का महत्त्व एक विशिष्ट प्रकार की रचनाओं के कारण है। व्यक्ति मनोविज्ञान की दृष्टि से भी वे महत्त्व रखती है' (पृ. 80) लेकिन लगे हाथो वे यह कहने से भी नहीं चूकते" कि लेखकीय विकल्प के चयन-का बिन्दु इस प्रश्न में है कि अपनी खुदाई के साथ-साथ, इस व्यापक विराट् जनसमाज के जीवन और उसकी मुक्ति के प्रयत्नों के साथ भी हमदर्दी और सहभागिता जरूरी है। (पृ. 81) 'व्यक्तित्व और व्यापकता'

निबन्ध में लेखक ने निर्भ्रान्त होकर स्वीकारा है—'सामाजिक-दर्शन और संवेग की उत्तालता का एक नया समीकरण साठोत्तरी कविता में उदित हुआ है, बावजूद उन सब कमजोरियों के, जिन पर मैं बार-बार हमला बोलता रहा हूँ और उन सब रचनागत न्यूनताओं के लिए मैंने किसी को भी माफ नहीं किया है, अपने को भी नहीं। (पृ 86) इस प्रकार की वैचारिक उदारता के कारण ही डॉ. उपाध्याय तथ्यों को ठीक पकड़ पाते हैं और कहीं कहीं मार्के की बातें कहते हैं—जैसे प्रेमचन्द के प्रसंग में यह कथन कि उनमें 'गांधीवाद और समाजवाद की दृष्टियां साथ-साथ, प्रायः परस्पर बिद्ध होकर चली हैं। इनमें पूापर क्रम नहीं है, सहविकास है।' (पृ 122)

डॉ. उपाध्याय जहां अपने विरोधियों की दुर्बलताओं पर सधी नजर रखते हैं वहां उनकी शक्तियों को भी पहचानने में नहीं चूकते। इसी प्रकार जहां वे स्व पक्ष का साहस पूर्ण बचाव करते हैं वहां उनके छद्म को उघाड़ना भी जरूरी समझते हैं। "अज्ञेय, धर्मवीर भारती तथा राजेन्द्र अवस्थी ईमानदार साम्यवाद विरोधी हैं, प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द की विरासत को नए आयाम देने का दावा करने वाले क्या साम्यवाद या मार्क्सवाद के ईमानदार समर्थक हैं???" (पृ १२५) ऐसी पंक्तियां डॉ. उपाध्याय ही लिख सकते हैं। अपने एक निबन्ध 'मार्क्सवाद कला और साहित्य के संदर्भ में' डॉ. उपाध्याय ने पूर्ववर्ती और परवर्ती मार्क्सवादी विचारकों के मतों का व्यापक उल्लेख किया है और बताया है कि 'अडोल्फो एस. वी, जार्ज लुकाच की व्याख्या की भी न्यूनता दिखाता है। लुकाच के लिये कला द्वारा वास्तविकता का प्रतिबिम्बन होता है। यह ठीक है, पर लुकाच की यह राय कि कला वही होगी जो यथार्थवादी हो, अति व्याप्तिपरक है क्योंकि काफ्का जैसे लेखक वर्णनात्मक यथार्थवाद के वृत्त से बाहर रह जाते हैं। लुकाच काफ्का का विरोध करता है जबकि अडोल्फो एस. वी. के अनुसार काफ्का के 'ट्रायल' उपन्यास में 'व्यवस्था' का अधिक प्रभावक विरोध है। अतः अडोल्फ एस. वी. का कथन है कि वह गैरोडी की यह बात मानता है कि यथार्थ या वास्तविकता की कोई सीमा नहीं मानी जा सकती और इसलिए यथार्थवाद के घेरे में कला घिर कर नहीं रह सकती। (पृ. 171) लेकिन यहीं पर डॉ. उपाध्याय एक बहुत मार्के की बात कहते हैं—"दरअसल, हिन्दी में यह समझ अडोल्फो एस. वी. के बहुत पहले आ गई थी। तभी मुक्तिबोध की फैंटेसी विधि की प्रशंसा हुई और नए प्रयोगों को अपना कर चलने वाले लेखकों-कवियों को "नवप्रगतिवादी" या प्रयोगशील प्रगतिवादी या "नवप्रगतिशील" कहा गया।' (पृ. वही) यहां डॉ उपाध्याय

की समझ और साहस की सराहना करनी पड़ती है। परवर्ती मार्क्सवादी विचारकों की देन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते हुए, और उनकी उपलब्धियों को स्वीकारते हुए भी, डा. उपाध्याय अपना दृष्टिकोण, बिना किसी हिचक के, इस प्रकार सामने रख देते हैं—"अलथूसर, अडोल्फो एस. वी., लूसियाँ गोल्डमान आदि नव मार्क्सवादी व्याख्याकारों के अभिमतों में यकीनन सामान्य ज्ञान, समझदारी, उदारता और व्याप्ति अधिक है पर मुझे यह लगने लगता है कि बहुत विशदीकरण और व्याप्ति से, उस संघर्षशील साहित्य और कला की कुछ हानि भी होने लगती हैं, जिसमें कच्चापन और ताजे दूध की सुगन्ध होती है, जिसमें अन्तर्वस्तु और रूप की परिपूर्ण संगति तो नहीं होती परन्तु जो अपनी प्रामाणिक और अनुभूत अन्तर्वस्तु की समृद्धि से पाठक का मन मोह लेती है। कई जगह मार्क्सवादी व्याख्याकारों की व्याख्याओं से मूल मार्क्सीय कोटियाँ धुंधली होने लगती हैं।" (पृ 173) इससे स्पष्ट है कि डॉ उपाध्याय में जहाँ पर्याप्त वैचारिक उहापोहों की प्रवृत्ति है वहाँ अपनी जमीन पर मजबूती से कायम रहने का माद्दा भी है।

वैचारिक ऊहापोहों से जहाँ डॉ उपाध्याय की विद्वता, विचारशीलता, जागरूकता आदि का पता चलता है वहां उनकी मौलिक उक्तियों से उनकी चिंतनात्मक सृजनशीलता का आभास मिलता है। प्रायः यह सभी मानते हैं कि अपवाद और आकस्मिकताओं की कोई व्याख्या नहीं हो सकती। लेकिन डॉ उपाध्याय मानते है–"अपवादों और आकस्मिकताओं की भी तथ्यगत व्याख्या की जा सकती है।" (बिन्दु प्रति बिन्दु, पृ. 7) डॉ. उपाध्याय बहुधा अत्यन्त छोटे छोटे वाक्यों में सारभूत विचार सामने रख देते हैं जैसे 'मानवसमाज अनुभव-धारा की स्मृति से प्रभावित प्राणियों का समुदाय है', 'साहित्य समाज की तरह एक सम्पूर्णता है', 'बलिदान सबसे बड़ा प्रचार होता है', 'भाषा मानव अनुभव का शब्दमय रूप है अतः सर्वत्र पूर्वानुभव को चेतना में साकार करती है', 'मिथक का कोई ऐस स्वरूप अभी तक नहीं मिलता जिसमें यथार्थ की प्रतिध्वनि न हो', 'प्रयोग, रचनाकार के सचेत या अचेत प्रयोजनों, दृष्टियो या मनोगतियों के परिणाम होते हैं 'अज्ञेय नयी कविता के पूरे नन्ददास या केशव हैं', सूत्रात्मकता अपने में महत्वपू नहीं है। वह सही जीवन यथार्थ के बोध के कारण महत्व पाती है', 'रांगेय राघ का कथा साहित्य—'पंचभूतों' से बना है–कथा, परिवेश, पात्र, संवाद और उद्देश्य विचलन आकर्षक लगता है किन्तु वह वरेण्य नहीं होता', 'पायोनियर लेखक में व खोजना जो उसमें नहीं है, उतना ही गलत है, जितना वह न खोजना, जो उसमें है 'कविता कताई नहीं, बुनाई है, संरचना है अतएव उसे धनुष की तरह कसा हु

होना चाहिये', 'यथार्थ जिस प्रकार अनन्त और अगाध है उसी प्रकार उसे व्यक्त करने के रूप भी अनेक हैं', 'सौन्दर्य शास्त्रीय विधि में मात्र घटकों की प्रासंगिकता ही को नहीं वरन् घटकों की संगति को देखा जाना चाहिये', 'सौन्दर्य भी मनुष्य की एक आवश्यकता है' 'कलाकार स्वयं यथार्थमय हो जाता है और यथार्थ कलाकारमय।' ऐसी अनेक उक्तियां : सूत्रवाक्य डॉ. उपाध्याय के सम्पूर्ण लेखन में यहां वहां नगीने की तरह जड़े हैं।

जो जीवंत लेखक और विचारक होता है, जीवन और समाज से उसके गहरे सरोकार होते हैं। इस वजह से उसकी चिन्ताएं भी अनेकमुखी होती हैं। यदि किसी लेखक में चिन्ता की पीड़ा और दर्द नहीं है तो मानना होगा कि वह फैशनेबुल लेखक और दिखावटी विचारक है। इस दृष्टि से भी यदि हम डॉ उपाध्याय की परख करें तो विचारात्मक लेखन में भी उनकी सार्वभौम और मानवीय चिन्ता के रूप मिलेंगे। तभी तो वे पाते हैं कि बहुत से विचारक "सारे व्यवस्था विरोधी आंदोलन को, एक साथ रख कर समग्र दृष्टि से नहीं देखते और न उसके सम्भावना पूर्ण अन्तविरोधों का लेखा जोखा करते हैं। वे मध्यपंथी मानसिकता को वामोन्मुख करने मे सफलता के रोमांचों से रोमांचित होते रहते हैं।" (पृ. 46) लेखक को इस बात का बहुत दर्द है कि प्रगतिशीलता का दुरुपयोग उन लेखकों द्वारा भी हो रहा है जो जनोन्मुख मुहावरा बोलकर सरकार से मनमाने काम करवाने के लिए अथवा कमजकम, एक दबाव-ग्रुप के रूप में, प्रभाव-संग्रह के लिए, प्रगतिशील आन्दोलन को सरकारी तमाशा बना रहे हैं।" (पृ 51) देश में ऐसा नाटक रचा गया है कि अब सत्ता का प्रगतिशीलीकरण हो गया है, समाजवाद के नाम पर इस देश में राज्य पूंजीवाद की स्थापना हो रही है, सारा देश, अर्धदासों और उनके ऊपर हावी अधिकारियों और पेशेवर राजनीतिज्ञों के सर्वग्रामी, आतंककारी और खतरनाक प्रभाव की लीला का देश बन गया है। (पृ 5), मध्यपंथी लोग, वामपंथी लफ्फाजी कर रहे हैं, विद्रोह की वाणियां बिलों से आ रही हैं, सुसज्जित कक्षों से, कुर्सियों पर जमी, सुखी शख्सियतों से। (पृ 62) लेखक को आत्मालोचन के क्षणों में यह भी लगता है कि मध्य-पंथ की सत्ता को चालू रखने में रैडीकल पार्टियों की आपसी फूट और बिखराव ही जिम्मेदार हैं। (पृ 74) यह जो शिक्षा-श्रमों का विध्वंस हो रहा है, प्रत्येक मानवीय गरिमा और शिष्टता का भंजन हो रहा है' मूर्खों और अपराधियों, जातिवादियों तथा सम्प्रदायवादियों का आतंक बढ़ रहा है, उससे खर-दूषणों की बन आएगी और विश्वामित्रों जैसे कुलपतियों को भी राम-लक्ष्मणों की खोज में भटकना होगा। (पृ 80), जनता क्रांति की जगह कीर्तन

कर रही है, साहित्य स्वभाववश नहीं, अवकाश में ध्यानान्तरण (डायवर्जन) के लिए लिखा जा रहा है, जनवादी पक्ष के कमज़ोर पक्षों का सामान्यीकरण करके पूरे आंदोलन को कलंकित किया जा रहा है, स्वतंत्रता के बाद इस देश में एक पदार्थीकृत समाज बनाया गया है यानी ऐसा समाज, जिसमें मुद्रा या वस्तुओं का महत्त्व है, मनुष्य का नहीं और इसलिए, मनुष्य पदार्थों या वस्तुओं में बदल रहा है, बदल गया है, वह पदार्थीकृत या 'रिफाइड' (Reified) हो गया है। (पृ 99) क्रांतिकारी मुहावरा एक अलंकार में बदल रहा है, लगता है कोई हस्तक्षेप करने वाला ही नहीं है, न कोई समझाने वाला है, नक्सलपंथी सशस्त्रहिंसा के उभार में, हिन्दी प्रदेश के कहानीकारों ने वहाँ जाकर क्रांति के उभार और उतार का अध्ययन नहीं किया। उन्होंने साहित्य तक में उसका समर्थन नहीं किया, न क्रांतिकारी पात्रों को (जैसे कि वे थे) चित्रित किया। (पृ 154) निष्क्रियता, आत्मपीड़न और यौन-स्थितियों में जो मनस्तात्विक सूक्ष्मता हमारे सृजन में है, वह संघर्षपरक मानस के चित्रण में क्यों नहीं है ? (पृ 1-5) बहुत-से रचनाकार निजी अनुभव या निमग्नता छोड़कर अध्ययनशील पर्यवेक्षण (स्टडीड आब्जर्वेशन) का कंटकाकीर्ण मार्ग नहीं अपनाना चाहते। (पृ 157) लेकिन इन चिन्ताओं के बावजूद लेखक सम्भावनाओं की आहट भी खूब पहचानता है। निष्क्रियता के राखढ़ेर में जो एकाध चिनगारी है, डॉ. उपाध्याय की दृष्टि उस पर न गई हो, ऐसा नहीं हुआ है, तभी तो वे लिखते हैं—'शिक्षालय में प्रबन्धकों : प्रशासकों के शिकार किसी शिक्षक के लिए शिक्षकसंगठन और राजनीतिक दल लड़ते हैं, चतुर्थ श्रेणी कर्मचारीसंगठन बड़े-बड़े अफसरों को नाकों चने चबवा देते हैं। आज तो हालत यह है कि प्रतिष्ठानों में (मसलन् बैंकों में) बाबू वर्ग अधिकारियों से खुशामद करवा रहे है और हड़ताल के संकट से दोषी व्यक्ति के विरुद्ध भी निर्णय स्थगित हो जाते हैं (पृ 154) लेकिन अधिकतर कहानियों मे संवैधानिक या जनतांत्रिक लड़ाई का भी प्रतिबिम्बन नहीं है, क्रांतिकारी लड़ाई की तो आशा करना भी व्यर्थ ही है। (पृ०, वही) हमारे समकालीन साहित्य ने प्रतिपक्ष की तगड़ी भूमिका अदा की है। राजनीति और सामाजिक संगठनों में अनेक जनपक्षधर चरित्र हैं, जगह-जगह हमदर्द लोग हैं। इस सन्दर्भ मे लेखक का सवाल है 'मगर कहानियों में वे नहीं हैं। जनता मे जो भी, जिस प्रकार की भी जुर्रत है, वह कहानियों में क्यो नहीं है ? '(पृ 155) ऐसे सवालों से डॉ. उपाध्याय की व्यापक मानवीय चिन्ता व्यक्त होती हैं। इतने सारे सवाल वही उठा सकता है जिसकी लेखनी समय और समाज की धमनियों से जुड़ी हो।

डॉ. उपाध्याय का आलोचनात्मक लेखन 'वैचारिक उत्तेजन में समर्थ' एक, बौद्धिक जागरूकता जगाने-जगमगाने का प्रयत्न' है। उनके आलोचन : प्रत्यालोचन

में 'दृष्टिकोणों की उच्चस्तरीय स्पर्धा और टकराहट' होती है। वह न तो 'मतांधता का शिकार' है और न 'विचलन या अति उदारवादिता' का उदाहरण है। उनके लेखन में 'अपने समय की पगचाप' और 'ध्यान की एकाग्रता' भी है। यह 'एक विचारधारात्मक संघर्ष की जद्दोजहद और जिहाद की एक बानगी' भी हैं और सामाजिक परिवर्तन की कशमकश का अङ्ग' भी। सबसे बढ़कर यह कि उनकी आलोचना पर उनकी ही कही यह उक्ति–कि आलोचना कृति के भीतर प्रविष्ट होकर उसकी छानबीन भी करती है और मूल्य निर्णय के लिये उससे परे जाकर सम्पूर्णता (Totality) में सभी ज्ञानानुशासनों से लाभान्वितः आलोकित होती हुई सबसे ऊपर उठकर न्याय और निर्णय करती है। वह रचनारूपी हिरण्य से ढंके सत्य का उद्घाटन भी करती है और उसके अवयवों या सौन्दर्य का विमोचन भी। वह अवांछनीय को ध्वस्त भी करती है और वांछनीय और उत्कृष्ट का अभिषेक भी–पूरी तरह चरितार्थ है।

उपाध्याय : एक मनीषी आलोचक

—गोपालकृष्ण कौल

आजकल आलोचना के आकाश में विपरीत दिशाएँ स्पष्ट होती नज़र आ रही हैं। इन विपरीत दिशाओं की अपनी-अपनी शब्दावली अपने-अपने विशेष अभिप्रायों की ओर संकेत करती है। जैसे प्रतिबद्ध और अप्रतिबद्ध, वस्तुवादी और व्यक्तिवादी, समाजनिष्ठा और आत्ममुग्धता, जीवन-यथार्थ और जीवन से पलायन, संघर्ष-चेतना और मृत्युबोध की कुण्ठा, आधुनिकता और सामयिक संदर्भ, प्रासंगिकता और अप्रासंगिकता, असंतोष और विक्षोभ, विद्रोह और क्रांति, मानवीय सम्बन्ध और मानवद्रोह, मूल्य और मूल्यहीनता आदि-आदि शब्दावली भारत के प्राचीन काव्यशास्त्रीय समीक्षा की शब्दावली से एकदम भिन्न है एवं इन शब्दों के अर्थ-सन्दर्भ भी साहित्येतर ज्ञान-विज्ञान के मानव-सम्बन्धों से जुड़े हुए हैं। इसीलिए आलोचना की कसौटी का धरातल वैविध्यपूर्ण : विस्तृत हो गया है और आलोचक की भूमिका ज्यादा जटिल हो गयी है। इस भूमिका के जटिल होने का एक दूसरा कारण यह भी है कि रचनाकार और आलोचक के बीच निकटता के बावजूद एक दूरी भी बढ़ती जा रही है। केवल रचना के माध्यम से आलोचक रचनाकार के अंतरंग तक पूरी तरह नहीं पहुँच पाता है, इसलिए रचना के अतिरिक्त वह रचनाकार के व्यक्तित्व को भी टटोलने लगता है ताकि रचना के मूल स्रोतों : यथार्थ का विश्लेषण किया जा सके। कई रचनाकार इस प्रक्रिया से चिढ़ते से नज़र आते हैं। इस चिढ़न से ज़ाहिर है कि रचनाकार में भी एक आलोचक छिपा रहता है। वैसे भी आजके साहित्य की विशेषता यही है कि वह कला के स्तर पर जहाँ रचना है वहाँ कथ्य के स्तर पर उसमें जीवन की आलोचना के तत्त्व छिपे रहते हैं। आधुनिक साहित्य की समर्थ रचनाओं में अपने समय के जीवन-यथार्थ और परिवेश की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आलोचना होती हैं। दूसरी ओर आलोचक में भी एक रचनाकार छिपा रहता है, जो आलोचक में रुचि, दृष्टि और संवेदनशीलता का पहरुआ होता है। मैं उन आलोचकों का ज़िक्र नहीं कर रहा हूँ जो मात्र व्यावसायिक होते हैं

ग्रौर सिर्फ ग्रालोचना के लिए ग्रालोचना लिखते हैं, जिनके लेखन में रुचि, दृष्टि ग्रौर संवेदनशीलता का दूर-दूर तक पता नहीं होता है ग्रौर जो हरदिलग्रज़ीज़ पत्रकारिता के सूचनावाहक स्तम्भकार बन कर रह जाते हैं।

ग्रालोचक में रुचि कला के विविध ग्रायामों के बोध से सम्पन्न ग्रौर संस्कारित होती है। ग्रालोचक की दृष्टि में जीवन-जगत के परिवर्तनशील यथार्थ के विविध संदर्भों को परखने एवं विश्लेपित करने की वैज्ञानिक क्षमता होती है ग्रौर ग्रालोचक की संवेदनशीलता उसकी सिसृक्षा की ऐसी चेतना है, जो रचना के ग्रंतरंग को सहानुभूति से मूल्यांकित करती है। ग्रालोचक में छिपा रचनाकार उसकी ग्रालोचना को नए-नए ग्रायाम देता है। वह रचनाकार के ग्रांतरिक संकट (क्रियेटिव क्राइसिस) को जल्दी पहचान लेता है जो प्राय: हर रचनाकार का ग्रपना-ग्रपना ग्रलग होता है। ग्रालोचक की संवेदना, रचनाकार के संकट को सहानुभूति से देखती है ग्रौर ग्रालोचक उसके संकट का विश्लेपण करते-करते उसकी तह तक पहुँच जाता है, ग्रालोच्य वस्तु का सही चयन करता है। ग्रालोचक की दृष्टि, उसके विचार, चिंतन, ग्रध्ययन ग्रौर मानवीय सरोकार रखनेवाली प्रतिबद्धता की रोशनी होती है। इन गुणों से समन्वित ग्रालोचक मनीषी ग्रालोचक होता है। डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय इस ग्रर्थ में एक मनीषी ग्रालोचक हैं। मार्क्सवादियों से मतभेद रखने वाले कविवर दिनकर ने भी एक बार मुझसे ग्रंतरंग बातचीत में उपाध्यायजी की पैनी दृष्टि को मनीषी ग्रालोचक कहा था। दिनकर 'इन्टेलैक्चुग्रल' के लिए सही शब्द मनीषी मानते थे। मनीषी कैसा होता है? उसको परिभाषित करते हुए दिनकर ने लिखा है—

> "मनीषी वह है, जो विचारों के संघर्ष में है, ग्रपने ऊपर समाज का ग्राघात ले रहा है ग्रौर बदले में समाज को ग्राघात दे रहा है, जो भूत, भविष्य ग्रौर वर्तमान को तौलता है, सूंघ कर इतिहास की खुशबू लेता है, लोक ग्रौर परलोक जिसकी कल्पना में चक्कर काटते हैं तथा धर्म ग्रौर नैतिकता जिसके चिंतन के कड़ाह में खौलते हैं। वह मानवता का पुरोहित है। वह ग्रगर तटस्थ हो गया, तो मानवता ही लड़ना छोड़ कर तटस्थ हो जायगी।"
>
> [शुद्ध कविता की खोज]

ऐसे ग्रालोचक की भूमिका ग्राज के भारतीय समाज में ग्रधिक जटिल ग्रौर खतरा मोल लेने वाली हो जाती है क्योंकि वह प्रतिबद्ध भी होता है, निर्भीक भी होता है ग्रौर संवेदनशील भी होता है। कई रचनाकार उससे सहानुभूति तो चाहते

हैं लेकिन उसकी निर्भीकता पसंद नहीं करते। निर्भीक आलोचना के कारण सम्पन्न 'रचनाकारों' के क्रोध का शिकार तो बनना ही पड़ता है। साथ में छिपे तौर पर किए गए व्यक्तिगत नुकसान को भी भोगना पड़ता है। मैं स्वयं भुक्तभोगी हूँ। मैंने एक बार त्रैमासिक 'आलोचना' में भगवतीचरण वर्मा के उस समय प्रकाशित उपन्यास 'आखरी दाँव' की समीक्षा की। वर्माजी वस्तुगत समीक्षा के निर्भीक तीखेपन से नाराज़ हो गए और एक दिन जैनेन्द्र कुमार के पास जाकर उनसे कहा— 'आप जैसे के सीधे रीढ़ के गांधीवादी हैं, 'जो गोपालकृष्ण कौल से सम्बन्ध रखते हैं ?'

दूसरा अनुभव तब हुआ जब "कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम" का अधिवेशन वात्स्यायनजी के संयोजकत्व में बम्बई में सम्पन्न हुआ था। इसमें सम्मिलित विदेशी लेखकों के वक्तव्यों के उद्धहरण देकर मैंने 'नवयुग' साप्ताहिक में लेख लिखे जिनमें इस संस्था द्वारा, इस अधिवेशन में भारत की तटस्थ शांतिप्रिय विदेशनीति पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से किए गए प्रहारों का भण्डाफोड़ किया गया था। यह एक प्रकार का राजनीतिक निरंकुशता का सम्मेलन था जो सांस्कृतिक स्वाधीनता के नाम पर सी. आई. ए. की मदद से किया गया था। इसके विरोध में मेरी तीखी समीक्षा से मैं इसके आजोजक संयोजक का कोप भाजन हो गया। वैसे मैंने इन सम्पन्न रचनाकारों का हमेशा आदर किया लेकिन सैद्धांतिक मतभेद व्यक्त करने के कारण जो मुझे भोगना पड़ा, वह कहानी अलग है।

प्रगतिवादी शिविर में भी ऐसे उदाहरण मिल सकते है। ऐसी स्थिति में आलोचक की भूमिका और भी जटिल हो जाती है : खास तौर से डॉ. उपाध्याय जैसे आलोचक को कई क्षेत्रों में आघात झेलने पड़ते हैं क्योंकि वह विश्व विद्यालय के विद्वान आचार्य भी हैं और रचनाकार भी हैं, वह शिक्षक भी हैं और समीक्षक भी है, वैसे हिन्दी में क्या, विदेशों में भी ज्यादातर साहित्य-समीक्षक शिक्षा के क्षेत्र से ही आए हैं किन्तु वहाँ विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के बाहर के समीक्षक एवं रचनाकार अपने स्वाध्याय और कृतित्व के आधार पर (डिग्री के आधार पर नहीं) शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण स्थान पाते हैं। हिन्दी में भी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने स्वाध्याय और कृतित्व के बल पर आचार्य माने गए। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और हजारीप्रसाद द्विवेदी भी ऐसे ही असाधारण व्यक्तित्व थे। किन्तु आज़ादी के बाद विश्वविद्यालयों में डिग्री एवं पद के आधार पर आचार्यों की सख्या अपने देश की आबादी की तरह बढ़ी है और ज्यादातर आचार्यत्व कुर्सी और क्लासरूम तक सिमट कर रह गया है। परिणाम से सभी परिचित है। विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयो में जितने हिन्दी

साहित्य के शिक्षक हैं लगभग वे सभी अपने को समीक्षक मानते हैं। इस भीड़ में प्रतिबद्ध समीक्षक की ऊपरी भूमिका निभाने में अनेक कठिनाइयों और अन्तरद्वन्द्वों का सामना डॉ. उपाध्याय ने किया है और अपने तेजस्वी और संघर्षशील व्यक्तित्व के कारण न तो शिक्षक की गरिमा को कम होने दिया और न ही अपनी रचनात्मक प्रतिभा और प्रतिबद्ध समीक्षा पर आंच आने दी। दोनों भूमिकाओं को संघर्ष करते हुए निभा कर उन्होंने समीक्षा और रचना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कृतियां दीं।

यह इत्तफ़ाक कहा जा सकता है कि हिन्दी के समर्थ आलोचक प्रायः रचनाकार रहे हैं और इस सृजनधर्मी संवेदना ने उनकी समीक्षा-पद्धति को भी प्रभावित किया है, जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कवि थे, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी उपन्यासकार थे, डॉ. रामविलास शर्मा, अज्ञेय-सम्पादित तार सप्तक के कवि हैं आदि आदि। डॉ. उपाध्याय भी कवि और उपन्यासकार हैं। 'रीछ' उनका प्रेमचन्द की परम्परा का उपन्यास है। 'पक्षधर' उनका गुरिल्ला चेतना की हिन्दी का एकमात्र उपन्यास है। जिसका गद्य और मुहावरा हिन्दी में आक्रमणकारी और अनोखा है। 'जाग मछंदर गोरख आया' नाथ—योगी और सिद्ध-जीवन पर लिखा सांस्कृतिक चेतना का उपन्यास है। उनके 'आदमखोर' और 'कबंध' की कई कविताएँ भी उनके उपन्यासों की तरह समीक्षक के नाते प्रतिपादित उनके प्रगतिशील मूल्यों के समर्थ उदाहरण से प्रतीत होते हैं।

आज प्रतिबद्ध आलोचक का काम मात्र सैद्धांतिक समीक्षा या व्यावहारिक समीक्षा तक ही सीमित नहीं रह सकता। वह जनवादी मानव संस्कृति का प्रहरी भी है। भारत के आज के अवमूल्यित सामाजिक परिदृश्य में यथार्थ सत्य को पहचानना और सांस्कृतिक अभिसंधियों का भेदन करना भी प्रगतिशील : प्रतिबद्ध समीक्षा का दायित्व है। आज के भारतीय समाज में निहित स्वार्थों द्वारा ऐसी मिलावट की जा रही है कि संस्कृति प्रदूषित और जन-विरोधी होती जा रही है। फ्रांस के एक समय के समाज के परिदृश्य पर अलबेमर कामू ने टिप्पणी की थी कि "यह वह समय है, जब जज, मुजरिम और गवाह आपस में अपनी जगहों की अदला-बदली करने लगे हैं।"

क्या यह कथन आज के भारतीय जीवन पर नहीं लागू होता ? इसलिए आलोचक की भूमिका की जटिलता और जिम्मेदारी बढ़ गयी है। डॉ. उपाध्याय समीक्षक के नाते ऐसी सामयिक चुनौतियों का सामना करते रहे हैं। उन्होंने चाहे भक्त संत कवियों (सूर, कबीर, संत वैष्णव काव्य) के काव्य और प्रवृत्तियों की

समीक्षा की हो, चाहे निराला और पंत जैसे आधुनिक कवियों की, चाहे समकालीन कविता, समकालीन कहानियों और समकालीन सिद्धांत और साहित्य का विवेचन किया हो, चाहे नए काव्यशास्त्र की खोज के लिए भारतीय काव्यशास्त्र का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में अध्ययन किया हो, ये सभी सार्थक प्रयत्न उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा के प्रगतिशील विकास के परिचायक है। अपनी आलोचना प्रक्रिया पर उन्होंने ठीक ही लिखा है—

"आलोचना क्षेत्र में बौद्धिक आलोचनात्मक चुनौतियों के कारण ही मैंने अनवरत अध्ययन-मनन और लेखन किया है। ये आलोचनाएँ एक विचारात्मक संघर्ष की जद्दोजेहद और जिहाद की भी एक बानगी पेश करती हैं, और वे सामाजिक परिवर्तन की कशमकश की अङ्ग हैं, मात्र औपचारिक या सारस्वत आलोचनाएँ नहीं हैं।" [बिंदु प्रति बिंदु]

नई चुनौतियों का सामना और नए रास्ते की खोज के लिए संघर्ष उपाध्याय जी के समीक्षक स्वभाव में हैं। प्रायः हम लोग जयपुर में समकालीन साहित्य के नये काव्यशास्त्र या समीक्षा सिद्धान्त के निर्माण की दिशा में प्रयत्न करने की बातें करते थे। विशेष रूप से प्रगतिशील समीक्षकों को चिंता का यह विषय रहा है। मैंने कई हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचकों से इसकी चर्चा की लेकिन इस दिशा में कोई ठोस करने को कोई तैयार नहीं था, उनका रुझान भी नहीं था। इस दिशा में भी डॉ. उपाध्याय ने पहल की, भारतीय काव्यशास्त्र की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में अध्ययन प्रस्तुत कर के। जब वह इस शोध-अध्ययन में लगे थे, तब मैं साक्षी था, कि देश-विदेश के अनेक मार्क्सवादी या प्रगतिवादी विद्वान सभी समीक्षकों से पत्र-व्यवहार करके पता चलाने की कोशिश की गयी कि क्या भारतीय काव्यशास्त्र पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से किसी ने अध्ययन किया है, तो नकारात्मक उत्तर ही मिले। ऐसी स्थिति में डॉ. उपाध्याय ने अभाव की चुनौती का सामना करके यह अध्ययन प्रस्तुत करके पायोनियर कार्य किया है, जो भारत में नए सामाजिक साहित्यशास्त्र की संरचना की दिशा में सहायक सिद्ध होगा।

श्री हिमांशु जोशी से

—नलिनी उपाध्याय की बातचीत

[10 फरवरी, 85 को हिमांशु जोशी 'मधुमाधवी' कार्यालय में पधारे। यहाँ पर उनसे बातचीत करने का अवसर मिला, जिसका सारांश हम यहां दे रहे हैं]

प्रश्न 1. क्या आपका सही और संगत सम्पादन हुआ है ?

उत्तर—आलोचक या समालोचक जो कुछ मेरे बारे में लिखते हैं मुझे उससे कुछ शिकायत नहीं है, किन्तु कभी बहुत गहराई से समझने की कोशिश हमारे आलोचकों ने नहीं की। वास्तव में आलोचना के लिये दृष्टि की आवश्यकता होती है। जब तक वह दृष्टि हमारे पास नहीं है तब तक यह रचनात्मक आलोचना जिसे हम "क्रिएटिव-क्रिटिसिज्म" कहते हैं, हम नहीं कर सकते। इसके बावजूद यह नहीं है कि सभी आलोचकों के लेखन से मुझे ऐसा लगता है। ऐसा नहीं है, लेकिन अधिकांश जो आलोचक हैं उनमें वह निष्पक्षता, वह विचारशीलता, वह विवेकशीलता जो कि एक आलोचक के लिये जरूरी है और उससे भी ज्यादा जरूरी है, उसका एक नैतिक दायित्व। जब हम आलोचना करते हैं तो हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह निष्पक्ष रूप से हो। जो लेखन उनके सामने है उसकी आलोचना में जो पक्ष अच्छे लगते हैं, उनकी वह सराहना करे, जो अच्छे नही लगते है, उनकी वह आलोचना करे, जहाँ तक आपने कहा है कि अपने लेखन के बारे में कहूँ, यह बहुत मुश्किल होता है। लगभग मैं तीस साल से लिख रहा हूं। 1954 में मेरी पहली कहानी छपी थी और अब 1985 है। तीस साल से भी ज्यादा अर्सा हुआ है इसबीच लिखने का क्रम कभी मंद भी हो सकता है लेकिन थमा नहीं, अबाध गति से मैं लिखता रहा हूं। पहले कहानियों का सिलसिला था। काफी कहानियां लिखीं छपीं 'फिर संग्रह के रूप में छपीं'। पहला संग्रह '1965 में आया, अन्ततः दूसरा संग्रह 'रथचक्र' प्रकाशित हुआ, फिर "मनुष्य चिह्न" आया, फिर बाद में 'जलते हुए डैंस' अब पांचवा कहानी संग्रह प्रकाशन के लिये मैं तैयार कर रहा हूं। इन कहानी संग्रहों के साथ-साथ मेरे दूसरे कहानी संग्रह भी प्रकाशित

हुये जैसे 'हिमांशु जोशी की विशिष्ट कहानियां'। दूसरा है 'हिमांशु जोशी की कहानियां' जो छोटे आकार में काफी संख्या में छपा है। उसका उद्देश्य यह था कि किताब का मूल्य कम रखा जावे ताकि अधिक से अधिक पाठकों तक पहुंच सके।

आलोचकों ने भी मेरे सृजन की आलोचना की है लेकिन जितना स्थान मेरी रचनाओं को मिलना चाहिये था वह नहीं मिल पाया। क्योंकि मैं वर्षों तक बल्कि अभी भी बहुत से गुटों से अलग रहा हूं। जब तक कि एक समूह नहीं होता लेखकों का, प्राय उनसे घुलते-मिलते नहीं, उनके लाभ-हानि के भागीदार नहीं बनते, तब तक मूल्यांकन में कुछ कठिनाइयां आती हैं, जो आनी तो नहीं चाहिये। मेरा कहना यह है कि हिन्दी में मूल्यांकन अभी भी निष्पक्ष नहीं है। यदि पाठक— मेरी रचना पसन्द करता है तो मेरे लिए बहुत प्रसन्नता की बात है क्योंकि मैं आलोचकों से बड़ा पाठक को मानता हूं और पाठक की नीयत में मुझे कोई संदेह नहीं है। मैंने जो भी लिखा वह सच्चे मन से लिखा और पूरी निष्ठा, सामर्थ्य से लिखा, फिर वह जैसा भी बन पड़ा वह पाठकों को समर्पित है।

प्रश्न 2. आप अपनी उत्कृष्टतम पुस्तक का उल्लेख करें ?

उत्तर—उत्कृष्टतम पुस्तक का उल्लेख करना किसी लेखक के लिये आसान नहीं है। लेखक को अपनी हर रचना अच्छी लगती है। मैंने जो भी लिखा, जितना भी लिखा, वह आस्था के साथ, ईमानदारी के साथ लिखा है और मुझे मेरी कोई भी रचना हेय नहीं लगती। यह जरूर लगता है कि जितना मैंने लिखा है यदि मुझे समय मिले तो उससे भी कई गुना अच्छा लिख सकता हूं, इसलिये न तो मुझे मूल्यांकन की चिन्ता सताती है और न ही उसके लिये प्रयत्न करता हूं। वक्त आता है जब दूध का दूध पानी का पानी हो जाता है। सही मूल्यांकन साहित्य का, उसके कृतित्व का, उसके योगदान का होता है। ये तो रही मेरी कहानी-संग्रहों की बात, इसके साथ-साथ मैंने उपन्यास भी लिखने का क्रम शुरू किया था। 1965 में मेरा पहला उपन्यास प्रकाशित हुआ था। तबसे अब तक मेरे आठ उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। पहला उपन्यास 'अरण्य' प्रकाशित हुआ था। इसमें मैंने अपनी आंचलिक पृष्ठ भूमि को लिया। इसमें मैंने समाज को बहुत गहराई से देखा, परखा यानी वह पर्वतीय समाज, जहां मैं पैदा हुआ, उसे चित्रित करने की कोशिश की। एक खास वर्ग को लेकर उसकी मानसिकतायें, प्रतिक्रियायें, जीवन दर्शन, आर्थिक सामाजिक सारी स्थितियों को कथासूत्र के माध्यम से व्यक्त करने की कोशिश। इसे आलोचकों ने बहुत सराहा नहीं। इसके बाद मेरा उपन्यास ''छाया मत छूना मन'' छपा। पहले पत्रिका में तथा बाद में पुस्तक रूप में भी। इस

उपन्यास ने मेरा परिचय लेखक रूप में करवाया। इसमें एक शरणार्थी परिवार दिल्ली बस गया, उसकी पृष्ठ भूमि थी। एक कमाने वाली बडी लड़की अपना पूरा जीवन परिवार की देखरेख में बसर कर देती है। वह अपनी तमाम इच्छायें त्याग कर परिवार को पालती है और उसके बदले उसे मिली केवल श्रद्धांजलि। इसके बाद मैंने राजनैतिक पृष्ठ भूमि पर उपन्यास लिखा। दिल्ली में रहते-रहते जब बहुत वर्ष हो गये और दिल्ली के राजनीतिज्ञों को निकट से देखने का अवसर मिला, किस तरह से वे रहते हैं, किस तरह से सरकारें बनती/बिगड़ती है, राजनैतिज्ञों का कैसा चरित्र होता है, किस तरह से देश के करोड़ो लोगों के साथ खिलवाड़ किया जाता है, किस तरह से भ्रष्टाचार की वैतरणी बहती है और किस तरह से छद्म रूप से सदाचार और महान् उद्देश्यों के बाद किस तरह का घिनौना जीवन व्यतीत करते हैं, उसी का एक खाका खींचने की मैंने कोशिश की थी। यह भी पत्रिका में धारावाहिक छपा था और जब यह पुस्तक रूप में आया तब क्या तहलका मचा! मेरे ख्याल से हिन्दी में यह पहला राजनीतिक उपन्यास था, यानी जो भी लिखे गये व चर्चित हुये वह बहुत बाद के थे लेकिन किसी भी आलोचक ने इसे देखने व परखने की, ईमानदारी से इसका मूल्यांकन करने की कोशिश नहीं की। इसके बाद मेरा उपन्यास प्रकाशित हुआ 'कगार की आग' वह भी कुमाऊँ की पर्वतीय पृष्ठभूमि पर रहा, इसमें भी हरिजनों के शोषण का चित्रण था, और इस उपन्यास की बहुत अधिक चर्चा हुई, स्वयं यशपाल जी ने मुझे एक पत्र भेजा था कि इस उपन्यास को पढ़कर मैं अभिभूत हो रहा हूं। शायद वह पत्र अभी भी कहीं रखा हो और इससे मुझे काफी बल मिला और इस उपन्यास को आलोचकों ने उतनी प्रशंसा नहीं की बल्कि कई आलोचकों ने उसे तरह-तरह से काटने की कोशिश की। इसके बाद जो मेरा उपन्यास 'तुम्हारे लिये' छपा उसे मैंने एक दूसरे धरातल पर लिखने की कोशिश की। ऊपर से देखने पर तो यह एक प्रणय-कथा लगता है लेकिन मैंने प्रणय कथा के माध्यम से जीवन का एक दर्शन व्यक्त करने की कोशिश की थी और इसमें एक साथ तीन कहानियाँ चलती है। इसके बाद जो मेरा अन्तिम उपन्यास छपा वह है 'सुराज'। सुराज में मैंने तीन उपन्यासिकायें शामिल कीं, इसमें मैंने कुमाऊँ का ही क्षेत्र लिया है। इसके अलावा मैं एक नया उपन्यास अभी लिख रहा हूं जो मेरे विदेश प्रवास से सम्बन्धित है। वह उपन्यास ही नही रिपोर्ताज भी है, डायरी भी है और कहानी के तानेबानो से भी बुना गया है, मुझे लगता है कि यह जल्दी ही पूरा हो जायेगा।

प्रश्न 3. आलोचना आपके लिये रचना है या विश्लेषण, मूल्यांकन या दोनों?

उत्तर—रचना मेरे लिये विश्लेषण भी है मूल्यांकन भी है, और मैं इन दोनों को मानता हूं। मुझे ऐसा एहसास होता है कि रचना का मूल्यांकन अगर वह अच्छी है तो देर सवेर होना ही है। जैसे मैं आपको बताऊँ, मुझे बहुत से आलोचकों से शिकायत है। मेरी रचनाओं का अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में हुआ है। 'छाया मत छूना मन' का अनुवाद भारत की दस बारह भाषाओं में हुआ है, 'कगार की आग' का तीन चार भाषाओं में हुआ है, 'तुम्हारे लिये' का हुआ है और इसी प्रकार 'समय साक्षी' का हो रहा है। इसी तरह से जो मेरे दूसरे उपन्यास है जैसे 'महासागर' या 'सुराज' की उपन्यासकायें है। इनका भी अनुवाद जिस प्रकार से अन्य भाषाओं में स्वीकार किया जा रहा है, उससे आस्था बंधती है, विश्वास जगता है कि आलोचक उनका मूल्यांकन करे या ना करे आखिर एक प्रबुद्ध पाठक तो है जो आपका मूल्यांकन करने को तत्पर है जिसकी ईमानदारी में शक की गुंजायश नहीं रहती है।

प्रश्न 4. आपके सृजन के साथ आलोचकों का क्या रुख रहा है।

उत्तर—रचना के लिये आलोचना ना तो बाधक है और न साधक है। रचनाकार कई तरह के होते हैं, एक तो समूह बना लेते हैं और ग्रुप के साथ जुड़ जाते हैं, वे बहुत सी सुविधा जुटा लेते हैं क्योंकि जो भी वे लिखते हैं, आलोचक उनकी प्रशंसा करता ही है। उससे यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि यही साहित्य है और यही सर्वोपरि है। कई बार यह भी होता है कि यह जो वर्ग है आलोचक, जिसकी एक खास तरह की मानसिकता होती है, दूसरा लेखक चाहे कुछ भी लिखे कितना ही अच्छा लिखे वह इसे स्वीकार नहीं करेगा, और कोशिश करेगा की वह उसकी उपेक्षा करे। तो इस तरह का जो रुख है, आलोचना का, वह कई बार साधक भी होता है और कई बार बाधक भी। मेरा अनुभव है कि जो लोग बड़ी तेजी से साहित्य के क्षेत्र में उभरे ये मेरी ही पीढ़ी के, आलोचकों ने उन्हें सिर माथे पर उठाया या आज वे कहीं भी दिखाई नहीं देते है। दस पन्द्रह साल में ही वे कहीं पानी में मिले या रेत में गिरे पानी की तरह हो गए। अधिक आलोचना या अधिक उपेक्षा रचनाकार के लिये उपयोगी नहीं होती है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम कुछ लेखकों को उपेक्षा से मार देते है और बहुत से लेखकों को उसकी योग्यता से अधिक सराहना करके उसके लेखन को चौपट कर देते हैं। मैं इन दोनों ही स्थितियों को उपयोगी नहीं समझता। एक क्षेत्र तो जीवन में ऐसा होना चाहिये, चाहे वह आलोचक हो या लेखक, जिसमें वह सही मूल्यांकन कर सके जिसका हिन्दी में अभी तक अभाव लगता है।

जिस आदमी की मंजिल बहुत दूर हो, जिसे जीवन में कोई बहुत बड़ा कार्य करना हो उसे इन छोटी-छोटी बातों में उलझना नहीं चाहिये। मसलन् सवाल मूल्यांकन का है, हम अच्छा लिखेंगे तो देर सबेर हमारा मूल्यांकन होगा ही और हमारा ये जो प्राप्य है वह समाज, आलोचक वर्ग, पाठक हमें देगा ही।

प्रश्न 5. रचनाकार और आलोचक में क्या द्वेष और द्वन्द्व जरूरी है ?

उत्तर—बिलकुल नहीं। रचनाकार का कर्तव्य है कि वह इमानदारी से लिखे तथा आलोचक का कर्तव्य है वह उसका सही-सही मूल्यांकन करे।

प्रश्न 6. समकालीन आलोचना-क्षेत्र में आप किन आलोचकों का उल्लेख करना चाहेंगे ?

उत्तर—यह सवाल बहुत कठिन है, खतरे भी बहुत हैं। जिन आलोचकों में मेरी आस्था है, उनमें डॉ० रामदरश मिश्र, डॉ० विवेकीराय, प्रभाकर श्रोत्रिय और सुधीर पचौरी हैं। अनेक आलोचक है जो सही बात को सही कहने से चूकते नहीं हैं और मुझे इनकी आलोचना पर भरोसा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे आलोचकों पर भरोसा नहीं है, ऐसा नहीं है, और भी अच्छे आलोचक हैं यदि मैं नाम गिनाऊँ तो बहुत लम्बी लिस्ट हो जायेगी इसलिये मैं इस बात को यहीं समाप्त करना चाहता हूँ।

सम्पादकीय

आलोचना के महत्त्व को शेक्सपियर ने समझा था। वह कहता है कि "कोई वस्तु क्या है, सिवा इसके कि उसका मूल्यांकन कैसे किया जाता है?[1] और मूल्यांकन के विषय में यह तर्क दिया गया है कि मूल्य किसी व्यक्ति की इच्छा शक्ति (will) में नहीं रहता वह उसके अनुमान (निर्णय, माप) और गरिमा में रहता है।"[2]

यदि यह सच है कि मूल्यवान वस्तु या कृति मूल्यांकन सापेक्ष है और यही सच है तो यह भी सच है कि मूल्यांकन—कर्त्ता का अनुमान (estimate) या माप और उसकी गरिमा (dignity) भी, मूल्यांकन में व्यक्त होगी और मूल्यांकन पूर्णतः वस्तुगत नहीं हो सकता अतः मूल्यांकन में वैविध्य तो होगा ही, कभी-कभी विपरीतता भी हो सकती है, होती है।

मूल्यांकनकर्त्ताओं के अभिमतों की विविधता और जब-तब विपरीतता के अनेक रोचक उदाहरण हेनरी पियरे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आलोचना क असफलता' में एकत्र कर दिए हैं।[3]

इस वैविध्य और विपरीतता को, 'मधुमाधवी' के आलोचना पर इस विशेषांक में भी देखा जा सकता है तथापि इसे पढ़कर आलोचना-विद्वेषी भी शायद यह नहीं कह सकता कि यह आलोचना की असफलता का एक और उदाहरण है। कारण कि बकौल शेक्सपियर, मूल्यांकन में आलोचक की माप, मापदण्ड आदि ही

---

१. What is aught but as it is valued?........(Troilus) Troilus and Cressida, Act, two.

२. But Value dwells not in particular Will. It holds his estimate and dignity........(Hector)

३. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, अनुवादक, डॉ. भँवरलाल जोशी, 1980

नहीं अपितु उसकी गरिमा भी प्रतिबिम्बित होती है और अपनी गरिमा के प्रति सचेत आलोचक, मूल्यांकन-प्रक्रिया में, अपने प्रति यानी अपनी अंतर्मुखता, अपनी राग-द्वेषात्मक सीमा या विकार, अपने अहम् और अभिनिवेश के प्रति सावधान होकर उसका अतिक्रमण कर अभिमत या निष्कर्ष प्रकट करता है।

यह प्रक्रिया बहुत जटिल और सूक्ष्म होती है। इस कशमकश में पूर्ण निस्संगता या आलोचनात्मक चेतना की परिशुद्धता (तटस्थता) तो मात्र आदर्श है अतः आलोचना में यह देखा जाता है कि कहाँ आलोचक मात्र दार्शनिक या द्रष्टा है, कहाँ उसकी अंतर्मुखता या मनोभाव ने उसके अभिमत के निर्माण में भूमिका अदा की है ? यह जरूरी नहीं कि आलोचक की अंतर्मुखता पर उसके राग-द्वेष का ही असर पड़ा हो, उसकी दृष्टि, उसके परिपेक्ष्य और उसकी भावात्मक-तृप्ति.... अतृप्ति को उसके "संस्कार" (कंडीशनिंग) और अभिरुचि भी प्रभावित कर सकती है, करती है अतः आलोचक के अच्छे-बुरे इरादे का सवाल उठाते वक्त उसे प्रभावित करने वाले अन्य कारकों को भी देखा जाना चाहिए, सर्वत्र उसके विकृत-अभिप्राय या गलत इरादे की कल्पना कर लेना असंगत है, अन्यायपूर्ण भी। इसका यह अर्थ नहीं कि आलोचना बुरे इरादे से लिखी नहीं जाती। अतएव आलोचना का शुद्ध रूप तो वही माना जाएगा जहाँ आलोचक, आत्म-अतिक्रमण (Self Transcendence) में सफल होकर, निस्संग द्रष्टा बनकर विवेच्य कृति को देखता है। इस पर आपत्ति हो सकती हैं कि मात्र द्रष्टा होकर कला या कृति को नहीं समझा जा सकता क्योंकि कृति मात्र के मूल में रागानुरंजन या ऊष्मा रहती है, अतः तर्ककर्कश और शुष्क व्यक्ति रचनाकार के मानस को हृदय-संवाद के बिना पकड़-पहचान नहीं सकता किन्तु यह आपत्ति निराधार है, इसलिए कि बोध या समझ का क्षण पहले आता है और निर्णय का क्षण बाद में। अंग्रेजी में under stand शब्द बहुत सटीक है। समझने का अर्थ है समझने के विषय या व्यक्ति या कृति के भीतर जाकर खड़े होना (Standing under the thing or Process or person or literary object) जाहिर है कि विवेच्य के अन्तरस्थित होने की शर्त ही यह है कि आलोचक में सहृदयता हो यानीं राग-भाव या 'मूड' आलोचक में भी हों किन्तु मानसिक दृष्टि से कृति या कृतिकार के अन्तरस्थित होकर तथा भीतर-बाहर सब देखदाखकर, उसके साथ तादात्म्य कर, उसके मनोविज्ञान को समझ कर, अन्त में वह आलोचक उस मनोविज्ञान से ऊपर उठकर, शुद्ध विचार के धरातल पर, तटस्थ होकर, विवेच्य को उलट पुलट कर (इकाइयों का अलग-अलग कर विश्लेषण) उसे समग्रता में रखकर

उसका मूल्य-निर्धारण करता है अर्थात् उनके अंगों/अवयवों को पृथक-पृथक परख
कर फिर उसे समग्र दृष्टि से देखता है। तब अवयव अवयवी में संश्लेपित होकर,
उस मूल्य को जन्म देते हैं जो विश्लेषण या शल्यक्रिया की स्थिति में सम्भव नहीं
था। इसी को आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त 'लावण्य' कहते हैं जो सिर्फ जुज़ों के
जोड़ में नहीं होता बल्कि जुज़ों के एक विशिष्ट संयोग से, एक विशिष्ट प्रभाव/सौन्दर्य
या आकर्षण उत्पन्न हो जाता है जो एक विशिष्ट स्वाद या रस या मज़ा देता है[1]
सूक्ष्म द्रष्टा या आलोचक इस "संयोग" को पहचान लेता है।

यह पूरी प्रक्रिया आलोचक के मन में होती है जबकि वह, बहुत बार, मात्र
अपना अभिमत प्रकट कर देता है, प्रक्रिया नहीं बताता, न तर्क देता है, न तुलना,
अतः जिसमत प्रकार किसी रचना की प्रक्रिया को समझना पड़ता है, उसी प्रकार
आलोचना की भी रचना-प्रक्रिया को समझा जाना चाहिये क्योंकि वह भी मानसिक:
बौद्धिक सृष्टि या पुनः सृष्टि है और आलोचक को, रचनाकार और उसकी कृति
में अपनी चेतना को उतारना पड़ता है, या मनोवैज्ञानिक अन्तः प्रवेश करना पड़ता
है। आलोचना में तर्क और निर्णय, तथ्य और तुलना का सोपान तो बाद में आता
है, उसके पूर्व तो वह कलाकार के साथ अद्वैत स्थापित कर उसकी "आत्मा" की
जासूसी करता है, एक तन्मय-तटस्थता के साथ। अतः आलोचना भेद और पृथकत्व
से नहीं, अभेद और अपृथकत्व से सिद्ध होती है।

स्पष्टतः यह प्रक्रिया परस्पर विरोधी मनोगतियों के एक साथ संचरण के
कारण द्वन्द्वात्मक है और सत्य यही है कि आलोचक अपने कार्य में इस द्वन्द्वात्मकता,
पर, पर विरोधी मनःस्थितियों में एक साथ विचरने की क्षमता और अपने देखे : भोगे
गए को एक संगति देने की सामर्थ्य के कारण ही स्रष्टा से भी बढ़त पा जाता है
जबकि वह उसी पर निर्भर रहता है। द्रष्टा, सृष्टि पर निर्भर है और सृष्टि द्रष्टा
परायह सत्य है कि द्रष्टा या आलोचक वह देख लेता है जो रचनाकार नहीं देख
पाता। आलोचक रचना में वह ढूंढ लेता है जो रचनाकार के ज़हन या अनुमान में
भी नहीं होता और यह कि वह अपने अवलोकन की विराटता : व्यापकता और
गम्भीरता/गहराई के कारण रचनाकारों की एक पूरी पीढ़ी को ही नहीं, वर्तमान
भविष्य, दोनों के लिए पथ-प्रदर्शक, प्रेरक और प्रकाशक बनता है, जिसे पढ़कर
अनेकों रचनाकार विवेक: प्रेरणा और स्फुरण प्राप्त करते हैं, भरत, अरस्तू,
लोंगिनस रामविलास शर्मा, अभिनव गुप्त, कोलरिज, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी
प्रसाद द्विवेदी आदि ऐसे ही आलोचक हैं।

१. संयोगाद् रसनिष्पत्तिः—भरत

'मधुमाधवी' के इस विशेषांक को, इस दृष्टि से "आलोचना की असफलता" का नहीं, "आलोचना की सफलता" का निर्देशक विशेषांक कह सकते है। इसमें हम आलोचकों को, काफी हद तक, निर्विकार होकर लिखते हुए देखते है और आत्मालोचनों में भी वे पर्याप्त मात्रा में अपने प्रति निस्संग और नम्र है। यह देख कर उन आत्माच्छादित व्यक्तियों और अंतर्मुख कृतिकारों को विस्मय हो सकता है यों, जैसा कहा गया है कि पूर्ण तटस्थता एक आदर्श है, स्पृहणीय आदर्श, जिसकी सत्ता मात्र धारणात्मक परन्तु प्रेरणाप्रद होती है।

इस विशेषांक में यह भी देखा जा सकेगा कि हमारे कई रचनाकार, आलोचना के विरुद्ध न होते हुए भी कुछ आलोचकों से शिकवे-शिकायत के रुझान दिखाते हैं। हेनरी पियरे को इस प्रसंग में उद्धृत किया जा सकता है। एक हद तक उनका यह मत सही है और मनोविनोदक भी :—

"लेखक चाहे कितने ही प्रतिभा सम्पन्न क्यों न हों अथवा कितने ही उदारमना क्यों न हों, वे थोड़े चिड़चिड़े स्वभाव के अवश्य होते हैं और यह स्वाभाविक भी है। वे हमेशा ऐसा महसूस करते हैं कि दुनिया उनकी परवाह नहीं करती और न उनकी प्रतिभा को स्वीकार करती है और उनके ऐसा महसूस करने के पर्याप्त कारण भी हैं———(तथापि) हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि सभी समालोचना निरर्थक नहीं होती और जब आधा दर्जन उत्कृष्ट समालोचक हमारे अनुवर्त्तियों को ज्ञान का प्रकाश देने का समय निकाल लेंगे तो वे जॉयस और ब्लाडेल (जैसे लेखकों को भी) की वास्तविक योग्यताओं को पहचान लेंगे[1]—लेकिन रचनाकार उन सभी सुन्दर दुर्बलताओं के शिकार होते हैं जो किसी ज़माने में केवल 'अबला' कहलाने वाली स्त्रियों में ही मानी जाती थीं। स्त्रियों की तरह कलाकार एवं साहित्यकार भी चाहते हैं कि लोग उन्हें पसन्द करें। वे भी अतिशयोक्ति पूर्ण सराहना और प्रशंसा के शब्दों को स्त्रियों की तरह ही सच मान लेते हैं। यदि कोई उनकी मौलिकता या महानता के प्रति अपना मुँह बन्द रखे तो भी बुरा मान जाते हैं।"[2]

यह स्थिति यहाँ इस विशेषांक में भी देखी जा सकती है और यह प्रवृत्ति मात्र रचनाकारों में नहीं है, आलोचकों में भी है। कई आलोचकों ने कहा हैं कि उनकी पहचान और परख में उपेक्षा बरती गई है। एक प्रसिद्ध आलोचक ने हमें पत्र में लिखा है कि आलोचक अति साधारण रचनाओं पर तो ध्यान एकाग्र कर

---

१. हेनरी पियरे, पृष्ठ 209

२. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ 3 तथा 4

न पर कई पृष्ठ घसीटते हैं किन्तु हिन्दी में जो आलोचनात्मक लेखन हुआ है उसका परीक्षण-मूल्यांकन स्वयं आलोचक नहीं करते। यह आलोचकों पर रचनाकारों के दबाव को दर्शाता है।

वस्तुतः आलोचना के स्वरूप और उसकी भूमिका के प्रति बहुत से भ्रम हैं। लेखक आलोचना सिर्फ उसे मानते हैं जो उन पर लिखी गई हो। वे आलोचना को, ज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शाखा या एक ज्ञानानुशासन के रूप में नहीं सोच पाते। आलोचना निश्चय ही एक ज्ञानानुशासन है, और उसका सम्बन्ध अन्य ज्ञानानुशासनों से है अतएव अल्पज्ञ या मात्र एक विषय या काल का विशेषज्ञ व्यक्ति उत्कृष्ट आलोचक नहीं बन सकता। बहुत बार कोरे विशेषज्ञ (experts) आलोचक नहीं "विशेष-अज्ञ" प्रमाणित होते हैं।

अतः अनेक विषयों का ज्ञान, रचनाकारों पर रौब डालने के लिए नहीं होता, यह तो "अव्याख्येय" सी लगने वाली श्रेष्ठ रचनाओं के रहस्य-उद्घाटन के लिए होता है। इसी प्रकार आलोचना में जिन मापदण्डों और सिद्धांतों की खोज होती है, अनेक विश्लेषण-पद्धतियों/प्रविधियों और वस्तुगत-अन्वेषणों के प्रकारों और नमूनों (Models) का निर्माण होता है, वे रचना-रहस्य को भेदने के साधन मात्र होते हैं। आलोचक, इस सारे ज्ञान, विज्ञान और विवेचन-प्रकारों/प्रविधियों से न केवल विवेचना के प्रतिरूप पाता है अपितु वह इस सबसे जो अन्तर्दृष्टि हासिल करता है, उसी के बल पर वह अभिमत प्रकट करता है।[1] यह अन्तर्दृष्टि बहुत बार इतनी अचूक होती है कि रचना पर दृष्टि पड़ते ही अच्छा आलोचक उसकी मूल्यवत्ता के विषय में जो अभिमत प्रकट करता है या वह ध्यान एकाग्र कर, रचना विशेष में जो उत्कृष्टताएँ पकड़ लेता है, वे प्रायः वैज्ञानिक और वस्तुगत विश्लेषणों

---

१. प्रबुद्ध और पहुँचे हुए आलोचक के तुरन्त व्यक्त अभिमत की प्रक्रिया, मस्तिष्क संयन्त्र (कम्प्यूटर) की प्रक्रिया को देखने से हृदयंगम हो सकती है। संयंत्र में जिस तरह तमाम तरह की सामग्री (डेटा) भरी जाती है और कम्प्यूटर उस सामग्री के आधार पर अविलम्ब, निर्णय/समाधान या अभिमत दे देता है, इसी प्रकार आलोचक का मस्तिष्क करता है किन्तु लोग आलोचक की प्रतिक्रिया या निर्णय या अभिमत को तो नोट करते हैं किन्तु यह नहीं देख पाते कि वह अभिमत, कितने विविध प्रकार के तथ्यों, ज्ञानों और पर्यवेक्षणों (डेटा) के दिमाग में भरते रहने और सोच विचार से (अचानक) उदित होता है।

(शैली विज्ञान संरचनात्मक विधि आदि) की प्रक्रिया में सही साबित होती है। यह अवश्य है कि वस्तुगत विश्लेषण की आधुनिक प्रविधियों से बहुत दफा किसी रचना के ऐसे आकर्षक पक्ष सामने आ जाते हैं, जिनका पूर्वानुमान आलोचक नहीं कर सका था या जहां आलोचक की सूझ नहीं पहुंच सकी थी।

अतएव आलोचना और वस्तुगत विवेचना (एनालिसिस) दोनों एक दूसरे की सहायक और सहयोगी हैं, परस्पर पथप्रदर्शक भी। उत्तम आलोचकों की आलोचनाओं तथा समीक्षाओं में, संग्रथित और सार रूप में परिज्ञान और प्रविधि तथा अन्तर्दृष्टि या सूझ-बूझ व्यक्त होती है अतः श्रेष्ठ आलोचक के विवादास्पद से प्रतीत होने वाले अभिमत का भी महत्त्व होता है। क्योंकि वह अभिमत, एक ओर तो आलोचक के दीर्घमंथन से उपलब्ध ज्ञानालोक से प्रदीप्त होता है और दूसरे वह सर्वस्वीकृत न होकर भी रचना, प्रवृत्ति, उसके देश-काल या इतिहास से अन्त स्सम्बन्धों आदि के विषय में कोई सूत्र या संकेत (क्लू) देता है जिससे रचना का ग्रन्थिभेदन या प्रहेलिका-प्रमोचन (डी कोड) होता है। यही कारण है कि प्रशिक्षित आलोचकों के अभिमत और व्याख्याएं विवादास्पद होने पर भी, रचनात्मक होती हैं क्योंकि उनसे दृष्टिकोणों और विश्लेषणों की टकराहट शुरू हो जाती है। अन्ततोगत्वा सही परिप्रेक्ष्य उपलब्ध हो जाता है और श्रेष्ठ रचनाओं को स्वीकृति मिल जाती है तथा उनका स्थान निर्धारित हो जाता है। यह बात दूसरी है कि यह स्थान निर्धारण या मूल्यांकन कभी सनातन या स्थायी नहीं होता। आगामी युगों में उनके जीवन-संघर्ष और परिवर्तन के प्रसंगों में स्थापित रचनाओं के विषय में पुनःपुनः मूल्यानुसंधान होता है और स्थापित अभिमत और पद सोपान-क्रम बदल जाता है। अतएव आलोचना साहित्य : कला और समाज एक गत्यात्मक स्थिति में काम करते हैं।

अतएव साहित्यिक और कलात्मक संस्कृति की स्थापना और प्रसार में उसके विशदीकरण और आभ्यन्तरीकरण में आलोचक, एक साथ कई भूमिकाएँ निबाहता है। रचना उसके लिये मात्र विवेचन का विषय न होकर, मात्र दस्तावेज या सामग्री न होकर जीवन्त सत्ता और जनमानस परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने वाली शख्सियत के रूप में होती है अतः रचनाकार पर अवलम्बित होकर भी आलोचक उसका मित्र, समानधर्मा, हृदयसंवादी, दार्शनिक-द्रष्टा और/अथ प्रशस्तिकारी होता है। यदि विचारों के साहित्य को देखा जाय तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि लेखकों और कलाकारों की विचारकों पर निर्भरता रही है,

चाहे वे अभिनवगुप्त हों या कार्ल मार्क्स, फ्रायड या क्रोचे हों या महावीर प्रसाद द्विवेदी या आचार्य हजारीप्रसाद या रामविलास शर्मा। जिस प्रकार शेक्सपियर का उद्भव, पुनर्जागरणकालीन प्रबुद्धता के बिना असम्भव था, जिस प्रकार ग्रोचे के चिंतन के बिना कलावादियों के पक्ष की कल्पना नामुमकिन है, उसी प्रकार आचार्य वल्लभ के दर्शन के बिना सूरदास और नानापुराणनिगमागम परम्परा के विचारकों के बिना तुलसीदास की प्रतिभा फलीभूत नहीं हो सकती थी। अतएव ज्ञान के साहित्य के बिना श्रेष्ठ सर्जना की सम्भावना नहीं बनती। आलोचना, सैद्धांतिक-आलोचना या विचारधारात्मक-आलोचना तथा ऐतिहासिक-विमर्श के रूप में जो वाङ्मय प्रस्तुत करती है, उसके बिना रचना के मूल्यांकन का स्तर सतही, अप्रबुद्ध और संकीर्ण होगा। उसमें विचारणा और तर्क, मूल्य-मीमांसा और मतमथन के अभाव से सपाटता और साधारणता रहेगी।

"आलोचना की असफलता" में हेनरी पियरे ने रचना और आलोचना, लेखक और आलोचक में द्वन्द्व तो देखा पर वह संगति नहीं देख सके।

मधुमाधवी के इस विशेषांक में भी कृतिकार और आलोचक का द्वन्द्व और संगति दर्शनीय है।

डॉ. रामविलास शर्मा के साक्षात्कार में, आलोचना को मात्र अभिमत प्रकट करने या तकनीकी विश्लेषण से ऊपर उठा कर उसे लोकजागरणकारी भूमिका दी गई है। आलोचना उनके अनुसार किसी स्थिर : जड़ और शोषक समाज व्यवस्था में, सही राजनैतिक दृष्टिकोण को पेश कर क्रांतिकारी कार्य करती है। इस अर्थ में आलोचक मात्र विशेषज्ञ नहीं, वह लोकात्मशिल्पी भी होता है। ग० मा० मुक्तिबोध आलोचक के ज्ञानात्मक ठण्डेपन, ऊष्मा या सम्वेदन के अभाव और रचनाकार से उसके अलगथलगपन की शिकायत करते हैं। उनके क्रांतिद्रष्टा विज़न में आलोचक और लेखक मिलकर साहित्य की सत्ता बनाते हैं।

श्री शिवदानसिंह चौहान ने पहली बार मधुमाधवी को दिए गए "साक्षात्कार" में आलोचकों और लेखकों के बीच प्रतिद्वन्द्वता और घात-प्रत्याघात को साफ-शफ्फाफ़ तौर पर पेश किया है ताकि भ्रमनिवारण हो जाए और पाठक यह समझ ले कि साहित्य और आलोचना का पथ कितना कंटकाकीर्ण और दल-दली है।

कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह को प्रगतिपंथी या मूल-परिवर्तन-पक्षधर आलोचकों से यह सही शिकायत रही है कि उन्होंने पूरे तर्क और ताव के साथ रैडीकल चेतना

के साहित्य को यथास्थितिशील और प्रतिक्रियावादी सृजन से पृथक करके उसे आलोकित नहीं किया और नामवर–आलोचक प्रगतिशील/प्रतिगामी, दोनों पक्षों को सन्तुष्ट करने के लिए अवधारणाओं और आचरणों में मिले-जुले रुख को लेकर चलते रहे। यदि किसी आलोचक ने क्रान्तिकारी और भ्रान्तिकारी साहित्य में पृथकता की रेखा खींची भी तो आवश्यक तर्क और विवेचना नहीं की। पारसनाथ सिंह की बात और आघात पर सोचा जना चाहिए किन्तु यहाँ यह ज्ञातक है कि हमारे क्रान्ति के दावेदार बिरादर, मात्र कथ्य के आधार पर कविता की पहचान बनवाना चाहते हैं जबकि समीक्षक कथ्य और कला, अन्तर्वस्तु और रूप, दोनों की संगति की तलाश में रहते हैं। पारसनाथसिंह ने जिन कवियों को क्रांति का दावेदार माना है, उनमें कथ्य और कला की संगति कितनी है, इस पर विचार होने के पश्चात् वे पाएँगे कि वे जिन्हें 'कवि' कहते हैं, उनमें कई मात्र प्रचारक हैं और प्रचार का राजनैतिक, सामाजिक महत्त्व है, उसका समाजशास्त्री विश्लेषण जरूरी है परन्तु "कविता" की अपेक्षाएँ कितनी पूरी होती हैं, यह भी देखा जाना चाहिए।

डॉ. शिवकुमार मिश्र ने प्रगतिशील/जनवादी आलोचकों का प्रत्यक्ष मूल्यांकन न कर इस बिन्दु पर बल दिया है कि अभी तक वामपक्षीय आलोचक कोई संग्रथित-इन्टीग्रेटिड-आलोचना विकसित नहीं कर सके।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने अपने साक्षात्कार में, अपने को जिस तरह पहली बार प्रस्तुत किया है और जिस प्रकार कई नए तथ्य दिए हैं, उनसे उनके विषय में पुनः विचार होगा और होना चाहिए।

मधुमाधवी ने आत्मालोचन पर जो बल दिया वह इसीलिए कि लेखकों और आलोचकों में पराए अभिमतों से बहुत असंतोष था, अवज्ञा और उपेक्षा से भी। परन्तु सभी ने इस आत्मोन्मीलन में संकोच किया या वे टाल गए। मिश्र जी ने प्रशंसनीय पारदर्शिता दिखाई है, काश ! अन्य लेखक : आलोचक भी सम्बन्धों के समीकरण की परवाह न कर, मुक्त होकर लिखते ! इसका अर्थ यह नहीं है कि खुले और खरेपन के साथ बोलने से आलोचक/लेखक अपने विषय में सर्वदा सही राय बनने देता है। डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने अपने को भटका हुआ आलोचक कहा है किन्तु वह "बहुत पहुँचे हुए" व्यक्ति और आलोचक थे। उनका एक निश्चित पक्ष (स्टेण्ड) था और आधुनिकता के प्रति उनकी एक दृष्टि थी। उनके निधन से यकीनन हिन्दी-आलोचना का एक स्तम्भ गिर गया, पंजाब-क्षेत्र में उनके बिना आलोचनात्मक सूनापन सा दिखाई पड़ने लगा है।

डॉ. बच्चनसिंह वस्तु और रूप की संगति के प्रबल समर्थक हैं। सिद्धान्तः यह तो संगत हैं तथापि अब होना यह चाहिए कि विकसित/परिष्कृत आलोचक, कुछ उत्कृष्ट कृतियां को चुन लें और उनकी विवेचना कर यह दिखाएं कि किसी कृति की समीक्षा में वस्तु और रूप की संगति किस तरह देखी-दिखाई जाए। विवेचना का ऐसा नमूना सामने आने पर, हिन्दी में शुक्लीय-परम्परा की आलोचना में हृदयपक्ष और कलापक्ष का जो पृथक-पृथक विवेचन होता है, उससे आगे की आलोचना का प्रतिरूप (मॉडल) सामने आ जाएगा।

डॉ. गोविन्द रजनीश, डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर, डॉ. धनंजय वर्मा, डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय और डॉ. वीरेन्द्रसिंह ने अपने आलोचनात्मक लेखन की पहचान पेश की है और उसमें पर्याप्त वस्तुगतता है। उन्होने इस प्रक्रिया में आलोचना का स्वरूपानुसंधान भी किया है। डॉ. कमलाप्रसाद ने, संकोचवश, अपनी आलोचना के विषय में कुछ न लिखकर सैद्धांतिक दृष्टि से रचना बनाम आलोचना के अन्तःसम्बन्धों को आलोकित किया है।

श्री मधुरेश, डॉ. नंदकिशोर नवल, श्री नंद चतुर्वेदी, डॉ. नवल किशोर आदि लेखक भिन्न-भिन्न कारणों से लेख नहीं भेज सके और अन्य कई उल्लेख्य आलोचकों से लिखवाया नहीं जा सका। हमें आशा है कि आगे उनके आत्मालोचन और मूल्यांकन भी हम प्रकाशित कर सकेंगे।

इस सम्बन्ध में कथनीय यह भी है कि हम इन तथा अन्य जाने-पहचाने आलोचकों पर अलग से लेख देना चाहते थे किन्तु एक तो आलोचक एक दूसरे पर लिखने के लिए तैयार नहीं किए जा सके, दूसरे, जो एक-दो आलोचकों पर लेख मिले, उनसे हम संतुष्ट नहीं हो सके। अतः यह तै पाया गया कि डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की षष्ठि पूर्ति के अवसर पर कुछ लेख यहां देकर अगले अंकों में अन्य आलोचकों पर लेख प्रकाशित करते चलें।

डॉ. नामवरसिंह तो कम लिखते हैं, भाषण अधिक देते हैं अतः डॉ. खगेन्द्र ठाकुर की पत्रिका "उत्तरशती" में प्रकाशित उनका वक्तव्य यहां दिया जा रहा है ताकि उनका पक्ष भी सामने आ जाए। उन्होने आलोचनाप्रक्रिया पर बोलते हुए कहा है कि वह किसी के अभिमत को उतना महत्त्व नहीं देते जितना उस अभिमत तक पहुंचने की प्रक्रिया, मूल्यप्रणाली और प्रदर्शित मेधा तथा तर्कादि को। जाहिर है कि इस लेकं पर उनके अभिमतों का जो प्रायः अनेकार्थक और विवादास्पद होते हैं, महत्त्व कम होगा, उस प्रक्रिया का अधिक, जिसके द्वारा वह अभिमत विशेष पर पहुंचते

है। कठिनाई यह है कि प्रवचनों में अच्छा खासा मस्तिष्क भी किसी रायजनी के लिए तर्क जाल नहीं बुन सकता, न श्रोताओं के सम्मुख उतना अवकाश रहता है, अतः प्रक्रिया से अधिक श्रोताओं का ध्यान आलोचक के निष्कर्षों पर पहुंचता है और उसी पर विवाद होता है, प्रक्रिया या तर्कपद्धति पर नहीं।

इस लेख में भी व्यक्त अभिमतों में कुछ बहसतलब हैं। उन तक डॉ. सिंह प्रभावक तर्कपद्धति से नहीं पहुँचे। मसलन् उनका मत है कि सच्ची, सही सामाजिक चेतना वाला आलोचक न सौन्दर्यशास्त्र पर लिखता है, न एक साथ तंत्र और शैली विज्ञान पर। सौन्दर्यशास्त्र पर डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने लिखा है और वह भी मार्क्सवादी दृष्टि से तथापि वह नामवरजी के अनुसार सही सामाजिक चेतना के आलोचक नहीं हुए क्योंकि उन्होंने सौन्दर्यशास्त्र पर लिखा है! यह क्या तर्क हुआ? तथ्य की दृष्टि से देखें तो भी यह गलत है, अमान्यकर तथा अन्यायपूर्ण भी क्योंकि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की पेशकश अनेक मार्क्सवादियों ने की है, लुकाच ने दो जिल्दों में इस पर लिखा है। बिना सौन्दर्यशास्त्र के काव्यशास्त्र अधूरा है, यह बात कोई भी समझ सकता है पर डॉ. नामवरसिंह को तो डॉ. मेघ का अमान्यीकरण करना है, आलोचना नहीं।

इसी प्रकार डॉ. उपाध्याय में परस्पर विरोध दिखाया गया है कि उन्होंने शैलीविज्ञान और तंत्र पर लिखा। अजीब तर्क है! बिलक्षण बात है क्योंकि मार्क्सवाद या अन्य किसी भी वाद की दृष्टि से किसी भी विषय को देखा जा सकता है। उनके गुरु और हमारे लिए जगद्गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तंत्रों: आगमों पर लिखा। मार्क्सवादियों में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, राहुल, रांगेय-राघव और डॉ. कोशाम्बी ने लिखा। सवाल यह है कि किस दृष्टि से क्या लिखा गया? क्या नतीजे निकाले गए? तथ्यतः देखें तो उपाध्यायजी ने यह दिखाया है कि किस तरह आगम-परम्परा, निगम-परम्परा के वर्णवैषम्यग्रस्त समाज-व्यवस्था से टकराई थी और उसका हश्र क्या हुआ? इसी तरह शैलीविज्ञान तथा अन्य आधुनिक प्रविधियों का यथास्थान प्रयोग डॉ. उपाध्याय ने मार्क्सवाद के "फ्रेमवर्क" में किया है और उन्होंने विशेष कार्य काव्यशास्त्र पर ही किया है, शैलीशास्त्र पर नहीं।

यह भी गलत है कि आलोचक के अभिमत का महत्त्व कम होता है। ऐसा होता तो कार्ल मार्क्स के किसी मत का विरोध होने पर उसका खण्डन क्यों किया जाता, केवल मार्क्स की मेधा और तर्क पद्धति पर ही संतोष कर लिया जाता? अतः कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह ने जो डॉ. सिंह की वैचारिक-असंगतियाँ और दावघात-

परकता दिखाई है, उस पर सोचा जाना चाहिए । यह भी है कि डॉ. सिंह मार्क्सवादी विश्वबोध और सिद्धान्त से शुरू नहीं करते, और उस तक अपनी बात और विवेचना को नहीं पहुँचाते अतः उनमें अनेक अस्पष्टताएँ, रिक्त स्थान और अनेकार्थताएँ (एम्बीग्विटीज़) आ जाती हैं । उनमें परस्पर विरोधी अवधारणाओं का मिश्रण भी है, तभी उन्हें ज़रूरत पड़ती है कि उन्हें मार्क्सवादी सिद्ध किया जाए (आलोचना, 40 में डॉ. नंद किशोर नवल),

इस विशेषांक में श्री विष्णु प्रभाकर, राजेन्द्र प. सिंह, सु श्री मंजुल भगत, मृदुला गर्ग, श्री दिविक रमेश, मिथिलेश्वर, राजीव सक्सेना, डॉ. प्रभाकर माचवे, कुन्तल कुमार जैन आदि ने रचनाकार की हैसियत से जो लिखा है, आलोचकों के लिए नयनोन्मीलक है । अपने और अपने लेखन के प्रति आसक्ति के बावजूद उसमें आलोचकों की अपर्याप्त, अप्रबुद्ध तथा अन्तर्मुखी कारगुज़ारियों पर जो प्रहार/उपालम्भ और अनावरण है, उस पर ध्यान दिया जाना चाहिए । ऐसा नहीं है कि रचनाकारों की शिकायतों को यथावत् स्वीकृति मिल जाएगी । उदाहरण के लिए सु श्री मृदुला गर्ग ने यह नहीं लिखा कि उनके 'अनित्य' पर ध्यान क्यों अधिक दिया गया, क्यों उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व मिला, और उनके 'चित्त कोबरा' और 'मैं-मैं' वाले लेखन को क्यों चर्चा के योग्य नहीं समझा गया ?

इसी प्रकार कुन्तल कुमार जैन के भयानक विस्फोट और कचोट का आधार जहाँ तक आदर्शप्रियता है, वहाँ तक वह वन्दनीय है तथापि सारे आलोचकों को एक ही कोटि में डाल कर उनका रौंदना लेखकीय सनक का सबूत है अतः इसे 'आलुञ्चन' शीर्षक दिया गया है । आलुंचन (केशमोचन) सर्वदा कष्टदायक कम होता है और आत्मपीड़क मनोवृत्ति का परिचायक भी ।

सुखद आश्चर्य तो यह है कि अधिकतर रचनाकारों ने आलोचक-विरोधी रुख चाहे लिया हो पर आलोचना विरोधी तेवर नहीं दिखाया । इससे हमारे सृजनकर्त्ताओं की परिपक्वता प्रमाणित होती है ।

इस प्रसंग में इतना और कहना है कि जिस तरह सभी आलोचकों ने नहीं लिखा, उसी तरह से सभी रचनाकारों ने भी अपनी प्रतिक्रियाएं नहीं भेजीं यों अधिकाधिक लेखकों से अनुरोध किया गया था । सम्भव है कि आगे उनका सहयोग मिल सके । उस लेखन को आगे प्रकाशित किया जा सकेगा ।

हमारा विचार है कि आत्मालोचनात्मक लेखन का विचार नया है और उस सन्दर्भ में यह ज़रूरी है, जिसमें अधिकतर लेखक (और आलोचक भी) यह महसूस

करते हैं कि उनको गुणवत्ता को नहीं पहचाना गया और उनका सही मूल्य नहीं आंका गया। हमारे देश में अनामलेखन की परम्परा रही है, श्री कुंतल कुमार जैन ने इसे दिखाया : सराहा है। वह महान परम्परा थी परन्तु आधुनिक युग में व्यक्ति यदि कुछ करता है, तो उसका सही मूल्य उसे मिले, उसकी कद्र हो, यह इच्छा स्वाभाविक है। अन्ततः किसी कृतिकार-व्यक्तित्व के साथ न्यायहीन रवैय्या खत्म क्यों न हो ? वह समाज कृतघ्न है, जो अपने रचनाशील व्यक्तियों को नहीं पहचानता या पहचान कर उनको महत्व नहीं देता। ऐसे समाज के विरुद्ध व्यक्ति अपने प्राप्य के लिए संघर्ष क्यों नहीं करे ? समाजवाद व्यक्ति पर समाज की तानाशाही का नाम नहीं, समाज और व्यक्ति की संगति का नाम है। पूंजीवाद में अवश्य व्यक्ति और समाज, दोनों 'पूंजी' से पीड़ित रहते हैं वस्तुतः यह जो समझ या understand करने की समस्या है, इस विषय में "गलतफहमी का एक पूरा दर्शन" (Philosophy of misunderstanding) ही विकसित हो रहा है। अबोधता और अयुक्त-बोध के क्या कारण हैं ? क्यों प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि उसे पूर्णतः नहीं समझा जा सका, प्रत्येक व्यक्ति (और कृति) गलत समझा गया प्राणी (Misunderstood being) है, ऐसा क्यों है ? क्या यह मात्र पूर्वाग्रह या तंगदिली के कारण है ? जीव की प्रकृति में ही क्या बोध की सीमा रहती है—अथवा यह सामाजिक-व्यवस्था विशेष के कारण है ? क्या समाजवादी व्यवस्था में अशुद्ध या अपूर्ण बोध की समस्या नहीं है ?

ये दुराग्रही परन्तु मानवीय प्रश्न हैं। इन पर सोच विचार हो तो आलोचना का क्षेत्र अपनी मानवचिन्ता के बिन्दु पर अधिक प्रकाश और तथ्य पा सकता है किन्तु अभी इधर ध्यान ही नहीं गया है।

अतएव, इस विशेषांक को आलोचना और आत्मालोचन की दिशा में शुभारम्भ मानना होगा। आगे यह सिलसिला अन्य पत्रिकाओं—पुस्तकों में चले तो और अधिक तलस्पर्शी विमर्श हो सकेगा और उत्कृष्ट और निकृष्ट का निर्णय भी।

हम, इस विशेषांक में योगदान करने के लिए सभी रचनाकारों और आलोचक साथियों के कृतज्ञ हैं, उनके भी जिन्होंने लिखने का वचन दिया और नहीं लिख सके। उनसे अनुरोध है कि वे आगे लिखें और इस प्रयत्न को उसकी परिणति तक पहुंचाएं।

अन्त में आलोचक के विषय में किसी रचनाकार की सही और प्रसिद्ध उक्ति को पुनः उद्धृत करना प्रासंगिक लग रहा है :—

न जाने कब से नरगिस अपनी बेनूरी पर रोती है
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा !

डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

(संक्षिप्त जीवन वृत्त)

नाम : विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

पिता : श्री गयादीन उपाध्याय

जन्म स्थान : ग्राम, अघासी, जिला, इटावा, उ० प्र०)

शिक्षा : प्रारम्भिक–फफून्द–जिला इटावा (उ० प्र०)

उच्चतर–एम० ए० हिन्दी, संस्कृत, पी०-एच० डी०, डी० लिट्०

पद – 1. प्राध्यापक–हिन्दी विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा (1953–60)

2. ,, ,, ,, डी० एस० बी० राज० कॉलेज, नैनीताल (1960–65)

3. रीडर तदनन्तर प्रोफेसर व अध्यक्ष–हिन्दी विभाग राज. वि. वि. जयपुर

4. प्राचार्य–वि० वि० राजस्थान कॉलेज, जयपुर

5. सम्प्रति–आचार्य–प्रभारी, प्रेमचन्द : सुब्रह्मण्य– भारती पीठ, राज० वि० वि० जयपुर

सम्पादन कार्य–'साहित्य संदेश' (मासिक) बाबू गुलाब राय, डॉ० सत्येन्द्र के साथ, आगरा। 'हम' 'मधुमाधवी' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में सहयोग। शिक्षकों की कहानियां (राजस्थान) इटावा जनपद के कवि (इटावा), 'समालोचक' (मासिक) डॉ. रामविलास शर्मा के साथ आगरा

रचनाएं–लगभग बीस आलोचनात्मक पुस्तकें तथा लगभग दस रचनात्मक कृतियां, जिनमें शोधग्रन्थ भी हैं।

1. हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठभूमि, 2. निराला की साहित्य साधना, 3. आधुनिक कविता : सिद्धान्त और समीक्षा, 4. पन्तजी का नूतन काव्य और दर्शन,

5. सूर का भ्रमरगीत–एक अन्वेषण, 6. सन्त-वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव(पी-एच. डी. शोध प्रबन्ध), 7. जलते और उबलते प्रश्न 8. आदमखोर, (कविता) 9. ढुंढिराज तथा अन्य कविताएं, 10. हिन्दी की तांत्रिक पृष्ठभूमि, 11. कबीरदास, 12. समकालीन हिन्दी कविता की भूमिका, 13. समकालीन सिद्धान्त और साहित्य 14. समकालीन कहानियाँ, 15. अभिनव कहानियाँ, 16. स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य, 17. भारतीय काव्यशास्त्र का द्वन्द्वात्मक आलोक में अध्ययन (डी. लिट् का शोध प्रबन्ध), 18. बिन्दु प्रति बिन्दु–समकालीन आलोचनात्मक निबंध, 19. मीमांसा और मूल्यांकन (आलोचनात्मक निबंध)।

रचनात्मक साहित्य :

1. रीछ (उपन्यास), 2. पक्षधर (उपन्यास), 3. जाग मछंदर गोरख आया (उपन्यास), 4. कवि की नियति (नाटक), 5. कबन्ध (कविका संग्रह), 8. शीतलहर (कविता संग्रह) (प्रकाश्य), 7. भूतनाथ (उपन्यास) (प्रकाश्य)।

पुरस्कृत–हिन्दी की दार्शनिक पृष्ठभूमि, सूर का भ्रमरगीत–एक अन्वेषण, कवि की नियति (नाटक) समकालीन सिद्धान्त और साहित्य।

आयोजन–हिन्दी विभाग राज० वि० वि० में अनेक परिसम्वादों और गोष्ठियों का आयोजन। आगरा-नैनीताल,–जयपुर नगरों में अनेक साहित्यिक आयोजन।

प्रतिनिधित्व–भारतीय हिन्दीभाषा-परिषद्, विश्व हिन्दी सम्मेलन, एफ्रो एशियन लेखक सम्मेलन, भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ, राज० प्र० ले० सम्मेलन इत्यादि।

भूमिका–अग्रगामी आलोचक, विचारक और रचनाकार। प्रगतिशील-जनपक्षधर मार्क्सवादी विचारधारा के अग्रगण्य अभिभाषक और व्याख्याकार, प्रगतिशील लेखक संघ के संगठक, प्रेरक और आयोजक।